शान्त रस : हिन्दी भक्ति काव्य के विशेष निर्देश सहित

[A Study of the Shant Rasa With Sp ecial Reference to Hindi Bhakti Kavya]

प्रयाग विश्वविद्यालय, की डी॰ फ़िल्॰ उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

[श्रीमती] चन्द्रकला मिश्र, एम॰ ए॰
द्वारा प्रस्तुत

निर्देशक
डॉ॰ व्रजेश्वर वर्मा, निदेशक,
केन्द्रीय हिन्दी संस्थान
आगरा

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
१९६६

विषय-सूची

विषय-सूची

शान्त रस : हिन्दी भक्ति काव्य के विशेष निर्देश सहित

संकेत-सूची

१- अ० पु० -- अग्निपुराण
२- अ०भा० -- अभिनव भारती
३- उ०नी० -- उज्ज्वलनीलमणि
४- क०ग्रं० -- कबीर ग्रन्थावली
५- कवि० -- कवितावली
६- का०प्र० -- काव्यप्रकाश
७- का०द० -- काव्यदर्पण
८- गीता०व्या गी० -- गीतावली
९- छा०उ० -- छान्दोग्य उपनिषद्
१०-जा०ग्रं० -- जायसी ग्रन्थावली
११-जे०ओ०आर० -- जर्नल आफ ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, मद्रास ।
१२-द० रु० -- दशरूपक
१३-दो० -- दोहावली
१४-ध्वन्या० -- ध्वन्यालोक
१५-न०आ०र० -- नम्बर आफ रसाज़
१६-ना०शा० -- नाट्यशास्त्र
१७-ना०भ०सू० -- नारद भक्तिसूत्र
१८-भा०प्र० -- भाव प्रकाश
१९-भ०भ०र०या भ०र०--भगवद्भक्ति रसायन
२०-भा०पु० -- भागवत् पुराण
२१-भ०चं० -- भक्तिचन्द्रिका
२२-भं०गी० -- भंवरगीत
२३-मीरां०की पदा० -- मीराबाई की पदावली
२४- र०गं० -- रसगंगाधर
२५- र०प्रि० -- रसिकप्रिया
२६- र०तं० -- रसतरंगिणी
२७- र०र०प्र० --रसरत्नप्रदीपिका
२८- र०सु० --रसार्णव सुधाकर
२९- रा० --रामचरितमानस
३०- रा०चं० --रामचन्द्रिका
३१- रा०पं० --रासपंचाध्यायी
३२- री०का०भू० --रीतिकाव्य की भूमिका
३३- लो० --लोचन
३४- व्य०वि० --व्यक्ति विवेक
३५- वि० --विनयपत्रिका
३६- वि०गी० --विज्ञानगीता
३७- वि०पु० --विष्णुपुराण
३८- शा०भ०सू० --शांडिल्यभक्तिसूत्र
३९- स०कं० --सरस्वतीकंठाभरण
४०- सा०द० --साहित्यदर्पण
४१-सा०इ०स्ट०इन रस --साइकलाजिकल स्टडीज इन रस ।
४२-ह०र०सिं० --हरिभक्तिरसामृतसिंधु
४३-हनु० --हनुमान बाहुक

विषय प्रवेश

हिन्दी भक्ति साहित्य का सामान्य महत्व -- काव्यशास्त्र- विशेषतया रस की दृष्टि से महत्व, इस विषय के अन्तर्गत अध्ययनों का सिंहावलोकन और मूल्यांकन प्रस्तुत अध्ययन की सीमा, आवश्यकता और महत्व ।

हिन्दी साहित्य की चार प्रमुख शाखाओं के अन्तर्गत भक्तियुग अपेक्षाकृत अधिक आध्यात्मिकतापूर्ण एवं सुन्दर अभिव्यंजनात्मक शैली से समन्वित मिलता है । हिन्दी साहित्य के अन्य तीन काल -- वीर गाथा काल, रीति एवं आधुनिक काल में जीवन की सर्वांगीण व्याख्या तथा सार्वजनिक आदर्शों की स्थापना के स्थान पर जीवन के एकांगी पक्षों को अधिक महत्व दिया गया है । हिन्दी के भक्ति साहित्य ने भगवान के लोक रक्षक एवं लोकरंजक-- दोनों रूपों को प्रमुखता देकर चिरन्तन आदर्शों की स्थापना द्वारा एक ओर जनता के सामाजिक उत्थान में सहायता की दूसरी ओर वैराग्य तथा एकान्तिक साधना से प्राप्त होने वाली चित्तवृत्ति को भगवान के मनोमुग्धकारी रूप पर मन को केन्द्रित करवाकर सहज रूप से प्राप्त करने में सहायता की ।

रस की दृष्टि से वीरगाथा काल में वीररसात्मक, रीतिकाल में शृंगारात्मक तथा आधुनिक काल में कर्मवाद की प्रमुखता देते हुए विभिन्न भावों एवं रसों को प्रश्रय दिया गया । भक्ति काल में कहीं शुद्ध शान्त की व्यंजना की गई है और कहीं विभिन्न भावों के आश्रय द्वारा शान्तरस व्यंजित होता है । द्रष्टव्य यह है कि शम भाव का जो बीज आदिकालीन संस्कृत साहित्य में बोया गया, अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के कारण उसको परवर्ती साहित्य में निरन्तर पल्लवित होने के हेतु उर्वरा भूमि मिलती गई । वीरगाथा काल शमभाव की अंकुरावस्था है तथा भक्तिकाल उसके पूर्ण परिपाक की अवस्था । रीतिकाल में आकर इस भावना का किंचित्मात्र ह्रास दिखलाई देता है परन्तु शम के मानव की प्रमुख चित्तवृत्ति तथा जीवन से गहनरूप से सम्बद्ध होने के कारण उस भावना का लोप नहीं हो सका । अतः पुनः आधुनिक युग की कर्मवाद की प्रबलता में शम भावना

अन्तर्निहित मिलने लगी ।

शान्तरस के विविध पक्षों का विस्तृत रूप से उद्घाटन करने में भक्तियुगीन कवियों का महत्वपूर्ण स्थान है । शान्त के प्रतिपादन की जितनी भी शैलियां हो सकती हैं, सब को इन कवियों ने प्रयुक्त किया है । अतः इनके काव्य में एक ओर शुद्ध शान्त के वर्णन मिलते हैं तथा दूसरी ओर विविध रसों के माध्यम द्वारा शान्त की अभिव्यक्ति की गई है । विलोम शैली को अपनाने वाले भक्तियुगीन कवियों पर प्रायः आक्षेप उनके शृंगारिक वर्णनों के कामोत्तेजक होने का लगाया जाता है -- जो कि सर्वथा अनुचित और अग्राह्य है । संत कबीर का 'घूंघट का पट खोलि रे तोहि पीव मिलैंगे' अथवा 'दुलहिनि गावहु मंगलचार' प्रतीकात्मक पद्धति द्वारा आध्यात्मिकता व्यंजित की गई है । सूफी एवं कृष्ण कवियों के सम्बन्ध में भी यही बात है । भगवान को केवल सौन्दर्यमय रूप को प्रमुखता देने के कारण सूफियों में शृंगार भावना का चित्रण होना स्वाभाविक ही था । इसी प्रकार भगवान कृष्ण के लोकरंजक रूप को प्रमुखता देने के कारण कृष्ण कवियों में राधाकृष्ण एवं गोपीकृष्ण की लीलाओं तथा रासलीला इत्यादि के वर्णन आध्यात्मिक भावना से निश्चितरूपेण सम्बद्ध हैं । उनमें विषयासक्ति नहीं । अपने काव्य को विषय वासना से मुक्त रखने के लिए ही ये कवि बारम्बार अपनी कृति की आध्यात्मिकता की ओर संकेत तथा विभिन्न विषयों की बारम्बार निन्दा करते हुए दिखाई देते हैं । अतः इन समस्त कवियों के काव्य में व्यंजित शृंगारभावना को अध्यात्मपरक दृष्टि से ही देखना चाहिए । शान्तरस का परम लक्ष्य आत्मतृप्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति कराना है । यही मानव का भी अंतिम लक्ष्य है । किन्तु यह तृप्ति उसे बाह्य उपकरणों में नहीं प्राप्त होती, अन्तर्जगत की ओर उसे उन्मुख होना पड़ता है । परमशान्ति की प्राप्ति का सर्वसुगम साधन ईश्वर पर आसक्ति रखते हुए अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करना है । भक्तिकाव्य आनन्दस्वरूप परमात्मा में साधक की वृत्तियों को केन्द्रित करवाकर इसी लक्ष्य की पूर्ति करता है । ज्ञान एवं योग का पथ भी साधक को अनन्त शान्ति की ओर ले जा सकते हैं परन्तु इनके मार्ग की जटिलता एवं दुरूहता सामान्य प्रकृति पुरुष के लिए बाधक सिद्ध होती है । भक्तिमार्ग को प्रशस्त करने जीवन की सर्वांगीण व्याख्या उपस्थित करने के लिए तथा जनता के मानसिक एवं चारित्रिक उत्थान के में भक्तियुगीन कवियों का जितना योगदान है, उतना

अन्य किसी काल के कवियों का नहीं । भगवान की विविध लीलाओं, उनके नाम रूप आदि के गुणगान द्वारा तथा भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच आदि जातीय विषमताओं को मिटाकर भगवद्भक्ति को सब के लिए ० ग्राह्य बना दिया । भक्ति को सर्वग्राह्य बनाने के लिए भक्तों ने निर्गुण एवं सगुण दोनों ही रूपों की प्रतिष्ठा की । निर्गुण, निर्लिप्त परमात्मा अवतार हेतु प्राकृत गुणों से समन्वित होने पर सगुण हो जाता है । वैराग्य योग प्रेम किसी भी मार्ग को ग्रहण करने वाले साधक के लिए ईश्वर प्राप्ति के उत्तम साधन भक्तिकाव्य में बताए गए हैं । शान्तरस की दृष्टि से यह द्रष्टव्य है कि भक्तिकाल जहां वैराग्य आदि के प्रतिपादन द्वारा शान्त की अभिव्यक्ति करता है वहां विविध भगवद् चरित एवं लीलाओं के वर्णन में अन्य विभिन्न रसों के आश्रय द्वारा शान्त की पुष्टि करता है ।

भक्तियुग की दो प्रमुख शाखाएं निर्गुण एवं सगुण मिलती है । निर्गुण शाखा के ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी तथा सगुणशाखा के कृष्णभक्ति तथा रामभक्ति दो रूप मिलते हैं । ये चारों ही प्रशाखाएं विविध शैलियों द्वारा शान्त की पुष्टि करती हुई भक्ति का प्रतिपादन करती हैं । भक्ति काल के अन्तर्गत सन्त कवियों ने भक्ति का चित्रण विशिष्ट रूप से शुद्ध शान्तरस की दृष्टि से किया । उसमें अन्य रसों की सम्भावना ही नहीं की जा सकती । शृंगारादि चित्रण संबंधी स्थलों में प्रतीकात्मक पद्धति का प्रयोग हुआ है । इन कवियों ने बाह्याचारों का पूर्णत: खण्डन करते हुए मानवी प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण एवं आचरण की शुद्धता को महत्व दिया । भक्ति के लिए जाति - पांति के खण्डन की आवश्यकताओं को बताकर भक्ति के क्षेत्र में योग साधना को भी प्रश्रय दिया । विकारग्रस्त मन की परिशुद्धि तथा आत्मानुभूति के अनन्तर ही साधक को परमशान्ति की प्राप्ति होती है । ईश्वर सर्वव्यापी है अत: उसे किन्हीं विशिष्ट स्थानों अथवा विशिष्ट व्रतों आदि के द्वारा प्राप्त करने का निष्फल प्रयास नहीं करना चाहिए संतकाव्य में शान्त के प्रतिपादनार्थ मधुर एवं दास्य भावना का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है । शुद्ध शान्त के सुन्दर अभिव्यंजक स्थल इस काव्य में प्राप्त होते हैं । संतों ने निष्कपट प्रेम अनन्य भावना को विशेष महत्व दिया । इन संतों का वैशिष्ट्य इसमें है कि उन्होंने संसार में रहते हुए कर्म करते हुए भी उनसे विरक्ति का आदेश दिया । भक्ति निरपेक्ष ज्ञान की निन्दा की ।

सूफियों ने मधुर भावना के माध्यम से शान्त की अभिव्यक्ति किया । उन्होंने भगवान के परमानन्द रूप को महत्ता प्रदान की । आनन्द की ओर आकृष्ट होना मानवमात्र का स्वभाव है । अत: सर्वसामान्य की दृष्टि में अपनी भक्तिपद्धति को सुलभ बनाने के हेतु उन्होंने प्रेमपथ का मार्ग प्रशस्त किया । लोक प्रचलित सामान्य प्रेम कथाओं का उन्होंने दैवीकरण किया । भक्ति की ओर जनता को आकृष्ट करने का यह एक नवीन प्रयास था । परमात्मा सुषमानिधुम एवं मनोभावन है । अत: सूफी कवि कण कण में परमात्मसत्ता के सौन्दर्य का दर्शन करते हुए जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उसके दर्शन करते हैं । संतों की खण्डनात्मक प्रवृत्ति के विपरीत इन कवियों ने भक्तिपथ को मनोवैज्ञानिक आधार दिया, संसार के आनन्दमय मोहक पदार्थों के बीच ही उस परमसत्ता के दर्शन करवाये । सूफियों द्वारा चित्रित प्रेममार्ग की अगम्यता एवं दुरूहता उन कवियों के आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यंजक है, साधारण प्रेम की नहीं । प्रेम पथ की साधना के लिए साधक को सतत जागरूक रहना पड़ता है , सर्वात्मसमर्पण करना पड़ता है । इस प्रकार सूफियों की रचनाओं में लौकिक एवं अध्यात्मपरक अर्थ साथ-साथ चलते हुए शान्त की अभिव्यंजना करते हैं । मधुर भाव अन्त में शान्त में पर्यवसित होता है ।

कृष्णकाव्य में भगवान की विविध लीलाओं के गान द्वारा भक्ति का प्रतिपादन किया गया है । लीलाओं का मनोहारी रूप स्वभावत: मन को आकृष्ट करता है । सूर में इस प्रकार के वर्णनों की बहुलता है । लीलाओं का प्राकृत जनों के अनुकूल वर्णन करते हुए भी वे सर्वत्र लीलाओं के अतिप्राकृत रूप की ओर भी संकेत करते चलते हैं । रासलीला दानलीला आदि सभी स्थलों का आध्यात्मीकरण किया गया है । गोपियों के माध्यम से सूर ने प्रेम की एकनिष्ठता एवं अनन्यता स्पष्ट की है । कृष्णकाव्य के अन्तर्गत मीरा, रसखानि आदि ने परमात्मा को गुणों का गान करते हुए उनकी लीलाओं का अति संक्षिप्त वर्णन किया है । प्राकृत एवं अतिप्राकृत रूपों का अतिसुन्दर कवित्वपूर्ण सामांजस्य करते हुए शान्तरस का चित्रण केवल कृष्ण काव्य में ही उपलब्ध होता है । भक्ति के सभी भेदों दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर का चित्रण इस काव्य में है । अंततोगत्वा वे सभी शान्त में पर्यवसित होते हैं ।

रामभक्ति का सुन्दर निदर्शन तुलसी का प्रबन्ध रामचरितमानस है । रामकाव्य के अन्तर्गत दास्यभक्ति को प्रमुख रूप से महत्व दिया गया है । बहुत ही

कम स्थलों में मधुर भक्ति की भी व्यंजना हुई है । रामकाव्य का पवित्र वातावरण सर्वत्र शान्ति का आस्वादन कराता है ।

भक्ति काव्य में मानव को देवत्व पर प्रतिष्ठित करने वाली सभी बातों का समावेश कियागया है । केवल भक्तिकाल में ही नहीं, अपितु वैदिक युग से लेकर परवर्ती संस्कृत साहित्यकारों तक सभी ने भक्ति का विवेचन किया है । भक्ति के महत्व महानतम एवं सर्वव्यापक चित्तवृत्ति होने के कारण आचार्यों ने इसे पृथक रस के रूप में स्वीकार करने पर बल दिया । फलस्वरूप भक्ति की रसात्मकता पर शास्त्रीय विवेचन होने लगा । इस सम्बन्ध में भागवत पुराण , नारद तथा शाण्डिल्य कृत भक्तिसूत्र रूपगोस्वामी कृत हरिभक्तिरसामृत सिन्धु एवं उज्ज्वलनील मणि तथा मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित भगवद्भक्ति रसायन उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं । भगवद्भक्ति चन्द्रिका में भी भक्ति को रस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है । इनमें से भगवद्भक्ति रसायन एवं हरिभक्तिरसामृत सिन्धु तथा उज्ज्वल नीलमणि में भक्तिरस का सूक्ष्म एवं शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते हैं । इन आचार्यों ने भक्ति का भेद-विभेद पूर्वक सांगोपांग निरूपण किया है । भक्ति के शान्त,प्रीति, प्रेम, वत्सल और मधुर -- इन पांच भेदों का निरूपण रूपगोस्वामी ने किया है । इनमें से मधुरभक्ति को मूर्धन्य मानकर उज्ज्वलनीलमणि में शृंगाररस की भांति ही उसका विस्तृत विवेचन कियागया है । मधुसूदन सरस्वती ने भी परमात्मा में संयुक्त की गई अलौकिक आनन्दोत्पादक रति को भक्तिरस की संज्ञा दी गई है । भक्ति का सम्बन्ध द्रुतचित्त व्यक्ति से और शान्त का सम्बन्ध अद्रुतचित्त व्यक्ति से मानकर वे शान्त और भक्ति में भेद करते हैं । यद्यपि भक्ति को रस के रूप में प्रतिष्ठित करने में आचार्यों ने महत्व पूर्ण कार्य अवश्य किया किन्तु उससे शान्त के महत्व को कम करना उचित नहीं । भक्ति के माने जाने वाले अनुभाव विभाव इत्यादि शान्त में भी सुलभ हैं । भक्ति व तथा शान्त में समस्त बातों की समता के साथ ही केवल स्थायी अनुराग एवं वैराग्य का अन्तर है । किन्तु यदि हम ध्यान दें तो देखेंगे कि भक्ति भावना से सम्बद्ध अनुराग में वैराग्य भावना सर्वत्र निहित मिलती है । ईश्वर के प्रति अनुरक्ति सांसारिक बन्धनों के प्रति विरक्ति का सूचक है । अतः उत्तरोत्तर ईश्वरानुरक्ति वैराग्य भावना को सतत पुष्ट करेगी । शान्त की-सी निर्विकारता भक्ति में भी रहती है । यह अवश्य है कि भक्ति में सांसारिक जगत के विभिन्न सम्बन्धों को त्याग कर भी परमेश्वर से विविध

सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं, किन्तु शान्त में इस प्रकार का कोई आग्रह नहीं । परमात्मा के प्रति विविध सम्बन्धों की कल्पना साधक के चित्त को एकाग्र करे, उसकी भक्ति भावना को अधिक दृढ़ करने में सहायक होती है । अतः भक्ति को एक प्रकार से शान्त की पूर्वावस्था मानना उचित होगा । यह शान्त तक पहुंचने का एक अत्यन्त साधन है । भक्ति को पृथक् रस मानना संगत नहीं । शान्त की व्यापकता में भक्ति अन्तर्भावित है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध में शान्तरस का निरूपण भक्तिकाव्य के सन्दर्भों में विशेष रूप से किया गया है । शान्तरस के स्वरूप के स्पष्टीकरणार्थ पृष्ठभूमि के रूप में रसस्वरूप एवं प्रक्रिया का विवेचन प्रथम अध्याय में कियागया है । इसके अन्तर्गत रस सामग्री एवं रस स्वरूप, साधारणीकरण तथा उसका तादात्म्य से भेद, रसास्वादन एवं रस की आनन्दात्मकता तथा अविभाज्यता के सम्बन्ध में विचार किया गय है शान्तरस का पृथक्रूपेण विवेचन अध्याय दो में कियागया है । इसमें शान्त के विरोधी एवं समर्थक दोनों ही वर्गों का पर्यवेक्षण करते हुए शान्त की प्राचीनता एवं रस रूप में उसकी स्वीकृति की अनिवार्यता पर विचार किया गया है । नाट्य शास्त्र में शान्तरस सम्बन्धी विवादास्पद स्थिति का भी विवेचन हुआ है । सारांश यह है कि शान्तरस सम्बन्धी विभिन्न आक्षेपों के रहते हुए भी उसका महत्व अक्षुण्ण है, उसकी रसात्मकता निर्विवाद है एवं उसका रसास्वादन अनिवार्य है । सभी आचार्यों में (केवल श्रीशिंगभूपाल को छोड़कर) मतवैभिन्य शान्त की नाटक अथवा काव्य में स्थापना को लेकर है, शान्त की रसात्मकता पर नहीं । किसी भी चित्तवृत्ति का रसास्वादन नाटक अथवा काव्य दोनों में ही समानरूप से हो सकता है,उसके लिए नट में नाट्यकौशल कवि को वर्णन कुशलता एवं दर्शक तथा पाठक की सहृदयशीलता आवश्यक है । तृतीय अध्याय में शान्तरस एवं भक्तिरस का तुलनात्मक विवेचन करते हुए भक्ति का अन्तर्भाव शान्त में कियागया है । भक्ति केवल भावमात्र है रस रूप में उसकी परिणति सम्भव नहीं । भक्ति तथा शान्त में अन्य बातों के साम्य के साथ ही भक्ति के अनुरागमूलक तथा शान्त के वैराग्यमूलक होने से दोनों में भेद नहीं करना चाहिए । भक्ति का अनुराग वैराग्यमूलक ही है अतः भक्ति का- दात्र शान्त के ही अन्तर्गत है । भक्ति की रसात्मकता के सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से भागवत पुराण नारद एवं शाण्डिल्य सूत्र, मधुसूदन सरस्वती तथा रूपगोस्वामी के विचार प्रस्तुत करते हुए भक्ति की रसात्मकता पर विवेचन भी कियागया है ।

चतुर्थ अध्याय में संस्कृत साहित्य में शान्तरस की स्थिति पर विचार कियागया है । इस सन्दर्भ में वैदिक बौद्ध एवं जैन साहित्य में शान्तरस की स्थिति का संक्षिप्त विवेचन तथा अन्य प्राप्त शान्तरस के ग्रन्थों काव्य एवं नाटकों की समालोचना प्रस्तुत की गई है । शान्तरस संबंधी नाटक एवं काव्य के सृजन का श्रेय जैन एवं बौद्ध साहित्यकारों को है । आगे के चार अध्यायों में भक्तिकालीन चार शाखाओं में शान्तरस के प्रयोग पर विचार हुआ है । तथा नवम अध्याय में आधुनिक युग में शान्तरस का किस दृष्टि से ग्रहण किया जा रहा है, इस पर विचार किया गया है । आधुनिक युग में विभिन्न विचारधाराओं की प्रबलता मिलने के साथ ही आध्यात्मिक चिन्तन प्रणाली का स्थान साहित्य में अक्षुण्ण रहा । यह अवश्य है कि मध्ययुगीन भावनात्मक विचारों के विरुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाया गया । यह अवश्य है कि रहस्यवादी विचारधारा अपनाने के कारण काव्य शैली कुछ दुरूह हो गई है । किन्तु बुद्धि एवं भावना का अपूर्व समन्वयपूर्ण सामंजस्य करते हुए शान्त की अभिव्यंजना का इन कवियों ने सफल प्रयास किया । अब काव्य का क्षेत्र केवल ईश्वर न रह गया । मानव में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की गई । मानव जीवन की जटिलता ने तथा सामाजिक विषमता ने विरक्ति की नयी मर्यादायें स्थापित कीं, इस विरक्ति का भाव और रस दोनों स्तरों पर शक्तिशाली अभिव्यंजन हुआ है ।

अन्य रसों की अपेक्षाकृत शान्त के सम्बन्ध में होने वाली अत्यधिक विप्रतिपत्तियों ने प्रस्तुत प्रबन्ध लिखने की प्रेरणा दी । शम चित्तवृत्ति की दुरूहता को लक्ष्य करके आचार्यगण शान्त की सत्ता में सन्देह करते हैं और कुछ उसे अन्य रसों में अन्तर्भावित कर लेते हैं । भक्ति साहित्य की विशालता को देखते हुए कुछ लोगों ने भक्तिरस की प्रतिष्ठा करते हुए शान्त का अन्तर्भाव उसी में कर लिया है । किन्तु भक्ति तथा शान्त दोनों का पृथक्रूप से पर्यवेक्षण करने पर यह उचित नहीं दीखता । अस्तु उपर्युक्त वैषम्य को देखते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध में निम्न विषयों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

प्रथम तो शान्तरस की रसात्मकता निर्विवाद रूप से सिद्ध की गई है । इस सन्दर्भ में विशिष्टरूप से भक्ति तथा शान्त के साम्य एवं वैषम्य पर विचार करते हुए शान्त में भक्ति का अन्तर्भाव किया गया है ।

दूसरे संस्कृत साहित्य में शान्तरस सम्बन्धी स्थिति पर सामान्यरूप से विचार करते हुए शान्तरस के प्राप्त काव्यों तथा नाटकों की समीक्षा करते हुए~~-शान्तरस-के-प्राप्त-काव्यों-सम्म~~ प्रस्तुत की गई है ।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण हिन्दी भक्ति साहित्य में शान्तरस की रसात्मकता विस्तृत रूप से निर्दिष्ट की गई है । साथ ही हिन्दी साहित्य के अन्य तीनों कालों में प्राप्त शान्तरस सम्बन्धी प्रयोगों की ओर लक्ष्य किया गया है । आधुनिक काल में शान्तरस की प्रवृत्ति के ह्रास के साथ ही शान्त का एक नवीन दिशा में प्रयोग भी मिलता है । इसमें ईश्वर की भक्ति० द्वारा शान्त की अभिव्यक्ति के स्थान पर मानव में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा के लिए विभिन्न आदर्शों व द्वारा शान्त की अभिव्यंजना की गई है । इसके अतिरिक्त महादेवी, पंत, प्रसाद,निराला आदि की रचनाएं भक्तियुग के नितान्त पृथक एक नवीन दृष्टिकोण अपनाते हुए शान्त की व्यंजना करती है ।

इस प्रकार महाभारत युग से लेकर आधुनिक हिन्दी काव्य तक बराबर होने वाले शान्तरस के प्रयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में निर्दिष्ट किए गए हैं । भक्तियुग उसके चरम विकास की अवस्था है । अतः शान्तरस को केवल रस ही नहीं,अपितु उसे महत्वपूर्ण रस मानना चाहिए ।

जिन विद्वानों के ग्रन्थों से इस प्रबन्ध में सहायता ली गई है, उनके नाम यथास्थान लिख दिए गए हैं । उनके प्रति कृतज्ञता का भाव ज्ञापित करना उपचार होगा ।

--0--

अध्याय १

रसानुभूति और उसका स्वरूप

--०--

अध्याय- १

रसानुभूति और उसका स्वरूप

(क) रस -- अर्थ और परिभाषा, रस के अंग -- विभाव, अनुभावादि

भारतीय विचारकों एवं दार्शनिकों का परम लक्ष्य किसी-न-किसी रूप में ब्रह्म से ही सम्बद्ध रहा है । हमारे समस्त दार्शनिक चिन्तन के मूल में आत्मा एवं ब्रह्म की खोज निहित है । अत: काव्य के मूल प्रयोजन आनन्द को भी ब्रह्म से सम्बद्ध किया गया है और फलस्वरूप रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया । वेदोपनिषद् में भी ब्रह्म को रस रूप बतलाया गया है । अनादि काल से दु:ख-संतप्त आत्मा परब्रह्म को प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करती है[१] । शतपथ ब्राह्मण में मधु के आनन्द रूप होने से रस की समता मधु से दी गयी है । बृहदारण्यकोपनिषद् में 'रस' से तात्पर्य सारभूत तत्व से लिया गया है[२] । प्राचीन आचार्य अभिनव गुप्त तथा भट्टनायक ने भी रज और तम को अभिभूत कर सत्व की प्रबुद्धावस्था में ब्रह्मानन्द सदृश काव्यानन्द के प्राप्त होने की बात कही है । अत: रस का तात्पर्य उस अलौकिक दशा से है जहां व्यक्ति आनन्दानुभूति करते हुए स्वगत-परगत सभी भेदों को भूल जाता है । रस काव्य और नाटक का प्राण है, इसी से यह साहित्य शास्त्र में सर्व प्रमुख तत्व के रूप में स्वीकृत हुआ है । रस का सम्बन्ध ऐन्द्रिकता से न होकर अलौकिक जगत से है । इसी कारण केवल प्राचीन ही नहीं आधुनिक ग्रन्थों में भी रस सिद्धान्त का जितना विशद और बृहद विवेचन मिलता है उतना अन्य किसी सिद्धान्त का नहीं ।

१- रसो वैस: । रसं ह्येवायं लब्ध्वा नन्दीऽऽभवति ।
--२।७।१, तैत्तरीयोपनिषद् ।

२- प्राणो वा अंगानां रस: ।
--११।१९,बृहदारण्यकोपनिषद् ।

रस के सम्बन्ध में संस्कृत तथा हिन्दी दोनों ही में विविध प्रकार से विवेचन किया गया है जिसके अनुसार रस एक प्रकार का अलौकिक आनन्द है जो विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से स्थायी भाव के व्यक्त होने पर सहृदय को प्राप्त होता है । रस की परिभाषा के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व उसके विभावादि का विवेचन उचित होगा ।

लोक में जिनको कारक, कार्य एवं सहकारी कहा जाता है, काव्यशास्त्रीय शब्दावली में उन्हीं को क्रमश: विभाव, अनुभाव तथा संचारी के नाम से अभिहित किया गया है । ये ही विभावादिक सहृदय के हृदयस्थ रत्यादिक भावों को विभावित करते हुए रसकोटि तक पहुंचा देते हैं । इस रस सामग्री का परिचय भरत के रससूत्र से ही प्राप्त होता है । अब यहां पर हम विभावादि के स्वरूप और महत्त्व पर संक्षिप्त विवेचन करेंगे ।

विभाव-- चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से ज्ञापन कराने वाले हेतु लौकिक जगत में जिनकी प्रसिद्धि कारक रूप से है, साहित्य शास्त्र में वे `विभाव` कहलाते हैं । वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के द्वारा ये चित्तवृत्तियों का विशिष्ट रूप से ज्ञापन कराते हैं[१] । यही नहीं, ये विभाव वासना रूप में चित्त में अवस्थित रत्यादि स्थायी भावों को विभावित करके आस्वादन के योग्य कर देते हैं[२] ।

आलम्बन एवं उद्दीपन भेद से ये विभाव दो प्रकार के होते हैं । किसी चित्तवृत्ति के विषयभूत विभाव को आलम्बन कहते हैं[३] । इसके भी विषय एवं आश्रय नामक दो भेद होते हैं । रत्यादि भाव के जाग्रत होने में जो कारण रूप रहता है उसे विषय का आलम्बन विभाव कहते हैं तथा जिस व्यक्ति में वह

१- विभाव: कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्याया: । विभाव्यतेऽनेन वागंगस-
त्वाभिनय इति विभाव: । यथा विभावित विज्ञातमिति अर्थान्तरम् ।
बहवो र्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रया: ।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञित: ॥
--ना०शा०, ७।४।

२- वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन स्थायिन:
विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्ति इति विभावा: ।
--का० प्र०, टीका पृ० ८६ ।

३- यस्या: चित्तवृत्ते: यो विषय: स तस्या आलम्बनम् ।
निमित्तानि च उद्दीपकानि इति बोध्यम् ।
-- र० गं०, पृ० १३७ ।

स्थायीभाव जाग्रत होता है वह 'आश्रय' कहलाता है । उदाहरणार्थ 'सीता निष्ठा राम विषयिणी रति' कहने पर राम आलम्बन एवं सीता आश्रय होंगी अर्थात् जिसमें रति होती है वह 'आश्रय' और जिससे 'रति' होती है वह 'आलम्बन' होता है । नायक नायिका अथवा प्रतिनायक आदि आलम्बन विभाव के अन्तर्गत हैं । इन्हीं का आश्रय लेकर रस की निष्पत्ति होती है । रस को उद्दीप्त करने वाले भाव 'उद्दीपन विभाव' कहलाते हैं । इसके अन्तर्गत नायक, नायिका और प्रतिनायक की चेष्टाएं अवसरानुकूल देश, काल आदि का प्रदर्शन सब आ जाते हैं[१] ।

आलम्बन विभाव के प्रकारों की भी चर्चा की गयी है । अधिकतर आचार्यों ने शृंगार रस के आलम्बन विभाव नायक नायिका का ही विशद विवेचन किया है, केवल भरत तथा शारदातनय[२] ने अन्य रसों के आलम्बनों के विवरण भी दिये हैं ।

हिन्दी के आचार्यों ने शृंगार को रसराज मान कर केवल उसी के आलम्बनों का वर्णन किया है । केशव तथा कृपाराम ने शृंगार को ही महत्व देते हुए बताया है कि जिन्हें रति पति अवलम्बन करता है वह आलम्बन कहलाते हैं । केशव के कथन को[३] टीकाकार सभी रसों का बोधक मानते हैं परन्तु उनकी दृष्टि शृंगारपरक ही थी ।

विभिन्न रसों के उद्दीपन विभाव के प्रकार का वर्णन भी शारदा तनय ने ही किया है । चिन्तामणि तथा केशव ने तटस्थ प्रकृति सम्बन्धी उद्दीपनों (चन्द्र, मलयानिल आदि) को भी आलम्बनों में ही स्वीकार किया है[४] ।

अनुभाव -- नायक आदि के हृदय में उद्बुद्ध हुए रत्यादि को जो बाहर प्रकाशित कर देता है, लोक में जिसे रति का कार्य कहा जाता है, काव्य और नाटक में

१- आचार्योऽपि क्षेमा-- विषयाश्रयभिदात् ।यमुद्दिश्य रत्यादि प्रवर्त्तते सो स्य विषय: ।आश्रयस्तु तदाधार: । यत्तु तमुद्दीपयति तद् वन-- अभ्र --विद्युत प्रभृति उद्दीपनम् ।

-- सा०कौ०, पृ० २६

२- भाव प्रकाश , पृ० ५।६

३- र० प्रि०, पृ० ६८

४- र० प्रि०, पृ० ६६

वही अनुभाव कहलाता है[१]। अर्थात् इन अनुभावों के द्वारा सहृदय अथवा सामाजिक रामादि के हृदयस्थ रत्यादि भावों का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। विभावों द्वारा स्थायीभाव जाग्रत होते हैं-- उसके पश्चात् ये भाव उत्पन्न होते हैं, इसी से इन्हें अनुभाव कहा गया है और कार्य रूप माना गया है। रस का अनुभावन कराने की दृष्टि से इन्हें उद्दीपन विभाव भी कहा जा सकता है[२]।

भरत ने इसके वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक नामक तीन भेद स्वीकार किए हैं। भानुदत्त ने इसके कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्त्विक-- ये भेद किये हैं, जो भरत द्वारा किए गए भेदों के नामान्तर ही हैं। शारदातनय ने अवश्य ही मन आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव और बुद्ध्यारम्भानुभाव --ये तीन भेद बताकर अपने मत को नवीनता दी है[३]। सिंगभूपाल ने मन के स्थान पर चित्तारम्भानुभाव[४] नाम दिया है तथा रूपगोस्वामी ने अलंकार, उद्भास्वर और वाचिक नामक भेद स्वीकार किए हैं[५]। संस्कृत आचार्यों ने स्त्री और पुरुष के सात्त्विक अलंकारों की गणना अनुभावों के अन्तर्गत ही की है। हिन्दी के आचार्यों ने इन अलंकारों का विवेचन हावों के नाम से किया है। ये अलंकार तथा 'हाव' इसी अनुभाव के अन्तर्गत ही माने गए हैं। हिन्दी ग्रन्थों में भी हाव को अनुभाव के अन्तर्गत ही रखा गया है किन्तु रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि " अनुभाव के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएं ही आ सकती हैं। आश्रय की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर हावों का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिए नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिए अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिए

१- उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।
   लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।।
                                   -- सा०द०, ३ पृ० ६३

२- विषयत्वेन उद्दीपनविभावत्वम्   -- र० तं०, पृ० ४७

३- भा० प्र०, पृ० ७६

४- र० सु०, पृ० ४८

५- उ० नी०, पृ० २६६

होता है । जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह आलम्बन होता है । अत: हाव नामक चेष्टाएं आलम्बनगत ही मानी जाएंगी और आलम्बनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अंतर्गत ही ठहरता है[१] ।"

रामदहिन मिश्र शुक्ल जी के इस मत का विरोध करते हुए 'हाव' को अनुभाव के अन्तर्गत ही मानते हैं[२] ।

व्यभिचारीभाव -- व्यभिचारी भाव स्थायीभाव को परिपुष्ट करने तथा रस दशा तक पहुंचाने वाले होते हैं । वे स्वयं स्थायित्व को नहीं प्राप्त होते हैं[३] । रसानुकूल संचरण करने के कारण उन्हें व्यभिचारी तथा संचारी कहा जाता है । दशरूपककार व्यभिचारी और स्थायी के सम्बन्ध की समता वारिधि और कल्लोल से देते हैं । जिस प्रकार से उदधि में तरंगें उठतीं और मग्न होती हैं, उसीप्रकार स्थायी में संचारी रूप तरंगें उठती और मग्न होती रहती हैं । ये संचारी स्थायी के अनुकूल ही आविर्भूत और तिरोभूत होते हैं[४] । आचार्य मम्मट ने उन्हें स्थायीभाव का सहकारी कहा है[५] । इन संचारियों की संख्या तैंतीस मानी गई है । हिन्दी में कविदेव ने संचारियों को शारीर तथा आन्तर नामक भेदों में विभक्त किया है । रामदहिन मिश्र ने आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विश्वास तथा दया दाक्षिण्य को संचारियों में गिनने का समर्थन किया है । शुक्ल जी ने भी आशा, नैराश्य, चपलता, संतोष, असंतोष आदि को स्वीकार करते हुए 'रस मीमांसा' में व्यभिचारी भावों को चार भागों में बांटा है--१.सुखात्मक, २.दु:खात्मक, ३.उभयात्मक, ४.उदासीन ।

१- गोस्वामी की भावुकता शीर्षक लेख (गोस्वामी तुलसीदास) पृ० ६१-६२

२- का० द० पृ० ८३ ।

३- दीपयन्त: प्रवर्तन्ते ये पुन: स्थायिनं रसम् ।
तेनु संचारिणो ज्ञेयास्ते न स्थायित्वमागता: ।।
-- अ० भा०।अ० ७, पृ० ३७६

४- विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण: ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना: कल्लोल इव वारिधौ ।।
-- द० रू० ४।७

५- कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानिच ।
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण: ।
-- का० प्र०,सूत्र ४३, पृ० ८५

<u>स्थायीभाव</u>-- अपने प्रतिकूल एवं अनुकूल किसी भी प्रकार के भाव से विच्छिन्न न होने वाला तथा सजातीय एवं विजातीय सभी भावों को आत्मसात् करने वाला भाव स्थायीभाव कहलाता है[१]। अन्य भावों से इनका वैशिष्ट्य इसी कारण है कि ये अपने विरोधी और अविरोधी भावों को अन्तर्निहित कर लेते हैं। ये स्थायीभाव सभी प्राणियों में संस्कार रूप में अवस्थित रहते हैं[२]। चित्त में चिरकाल तक अवस्थित रहते हुए रसत्व को प्राप्त करते हैं। स्थायीभावों की वासना कला के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित कराने वाले आचार्य अभिनव थे। ये स्थायीभाव अन्य सभी भावों से श्रेष्ठ हैं। अन्य भावों का उनके साथ प्रजा-नृपति तथा शिष्य-गुरु का सम्बन्ध है[३]। अन्य भावों से इनका सम्बन्ध सूत्र जैसा है[४]। ये ही भाव वास्तविक आनन्द को देने वाले हैं[५]।

स्थायीभावों का संचारी के रूप में परिणत होना भी सम्भव है अर्थात् किसी भी विशिष्ट रस का स्थायी अपने से भिन्न अन्य रसों में व्यभिचारी रूप में आ सकता है। जैसे रति शृंगार रस का स्थायीभाव है किन्तु हास आदि रसों में उसका वर्णन व्यभिचारी रूप में किया जा सकता है। इस तरह शृंगार में हास हास, करुण, शान्त में रति, करुण एवं शृंगार में भय तथा शोक, वीर में क्रोध, भयानक में जुगुप्सा तथा उत्साह एवं विस्मय सभी रसों में व्यभिचारी भाव का काम करते हैं[६]। अभिनव गुप्त इस सिद्धान्त के[७] प्रतिपादक हैं। रामचन्द्र और गुणचन्द्र तथा व्यक्तिविवेक के टीकाकार भी इसी मत के समर्थक हैं[८]।

१-विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥
-- द० रू०, पृ० २०६, ४

२- वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात्।
-- अ० भा०, पृ० २८२

३- यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथागुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह॥
-- ना० शा०, ७।८

४- सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम्॥
-- सा० द०, पृ० १०५

५- आनन्दांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः। ,, ,,

६- स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति। हासः शृंगारे। रतिः शान्तकरुणहास्येषु। भयशोकौ करुणशृंगारयोः? क्रोधो वीरे। जुगुप्सा भयानके। उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। -- रसतरंगिणी, पृ० ११४

७- तेनामी-स्थायिनः-रसान्तराणां व्यभिचारिणः अनुभावाश्च भवन्ति तत्रैषामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात्। -- ना० द०, पृ० १७६

८- व्य० वि०, टीका, पृ० ११-१२

भरत ने रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय -- इन आठ स्थायीभावों का नाम दिया है । किन्तु ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, हम देखते हैं कि स्थायीभावों की संख्या में भी क्रमशः वृद्धि होती गयी । आगे चलकर शान्त के स्थायी 'शम' अथवा 'निर्वेद' को भी मान्यता दी गई । इसी प्रकार वत्सल रस एवं भक्तिरस को स्वीकार करते हुए आचार्यों ने वात्सल्य एवं देवताविषयक रति को स्थायीभाव बताया । भोज ने उद्धत, प्रेयस, शान्त तथा उदात्त इन चार रसों के गर्व, स्नेह, धृति और मति इन चार स्थायीभावों की कल्पना की । शान्त एवं भक्ति को तो अधिकांश आचार्यों ने पृथक रूप से रस की संज्ञा दे दी है, परन्तु अन्य रसों की पृथक गणना के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है । आचार्यगण प्राचीन आठ स्थायीभावों में ही उनका अंतर्भाव स्वीकार करते हैं ।

इन विभावादिकों द्वारा रस निष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं । यद्यपि भरत ने रस-निष्पत्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है तथापि कुछ विद्वान विभावादिक में से किसी एक को और कुछ विभावादि तीनों के सम्मिलित रूप को ही रस मानते हैं । रस-गंगाधर में उपर्युक्त मतों का विवेचन हमें मिलता है[1] । भरत आदि विद्वान् 'पानक-रस' के रूप में रस की प्रतिष्ठा करते हैं अर्थात् जिस प्रकार से अनेक पदार्थों से युक्त व्यंजन को खाकर रसज्ञ उसका आस्वादन करते हैं उसी प्रकार विद्वान् भी भावाभिनय से संयुक्त स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं[2] । आचार्य विश्वनाथ ने भी यही माना है कि सम्मिलित विभावादिक प्रपानक रस की भांति सहृदयों के हृदय में अखण्ड रस की अनुभूति कराते हैं[3] । उनका यह भी कहना है कि

१- विभावादयः त्रयः समुदितारसः इति व्यतिपये । त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोपि नेति बहवः । भाव्यमानो विभाव एव रस इति अन्ये, अनुभावस्तथा इति इतरे । व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमतीति केचित् ।
--र० गं०, पृ० १२६-१२७

२- यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षड्रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनोभावा रसत्वमाप्नुवन्ति ।
--ना० शा०, पृ० ७१

३- ततः संमिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ।
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।।
--सा०द०३।१६ पृ० १६

विभावादि के 'समूहालम्बनात्मक' ज्ञान से ही रस की प्रतीति होती है। विभावादि तीनों मिलकर स्थायी के संयोग से रस निष्पत्ति कराते हैं। जहां पर विभावादिकों में से एक अथवा दो उपनिबद्ध किए जाते हैं वहां यदि प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से अन्य का आक्षेप शीघ्र हो जाय तो दोष नहीं माना जाता[१]। इस प्रकार विभाव, अनुभाव एवं संचारी पहले एक-एक करके क्रमश: प्रतीत होते हैं, पुन: भावना के बल से सहृदयों के हृदय में एकरूप होकर अखण्ड रसत्व को प्राप्त होते हैं। स्पष्ट है कि रस निष्पत्ति तो होती है परन्तु विभाव, अनुभाव एवं संचारियों को पृथक-पृथक रूप से रस निष्पत्ति कराने वाला नहीं कहा जा सकता है अर्थात् केवल विभाव या केवल अनुभाव अथवा संचारी पृथक रूप से रसाभिव्यक्ति नहीं करा सकेंगे। केवल विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव किसी नियत रस के व्यंजक नहीं हो सकते क्योंकि एक ही भाव (विभाव, अनुभाव अथवा संचारी) अनेक रस का हो सकता है। व्याघ्र आदि जिस प्रकार से भयानक रस के विभाव हैं, उसी प्रकार से वीर अथवा रौद्र के भी हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपातादि शृंगार की भांति करुणा तथा भयानक के भी अनुभाव हो सकते हैं। चिन्ता शृंगाररस में व्यभिचारी रूप है, साथ ही करुण, वीर, भयानक में भी है। हम केवल व्याघ्र आदि विभाव अथवा केवल अश्रुपातादि अनुभाव को देखकर यह कैसे कह सकेंगे कि अमुक विभाव या अनुभाव उस विशिष्ट रस के हैं। इसके अतिरिक्त रस का सम्बन्ध आत्मा से है जब कि विभावादि का सम्बन्ध वाह्य वस्तु से है। केवल व्यभिचारी को रस मानने पर संचारीभाव की भांति रस भी क्षणिक हो जायगा। फिर बिना आलम्बनादि के केवल व्यभिचारी की व्यंजना भी सम्भव नहीं।

१- यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मक:। --सा०द०३, पृ० ५८

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेद्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदादोषो न विद्यते ।। -- ,, पृ० ५६
रत्यादयो हि प्रथममेकैकश: प्रतीयमाना:
सर्वेऽप्येकीभूता: स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते ।। -- ,, पृ० ६३

विभावादि के सम्मिलित रूप को भी रस नहीं कहा जा सकता । क्योंकि ये विभावादि बाह्य वस्तुएं हैं -- और रस का सम्बन्ध सीधे सहृदय के भावों से है । ये विभावादिक साधन हैं, सहृदय के हृदय में स्थित रत्यादिक भावों को उद्बुद्ध कर रस के रूप में परिणत करने के । इसी से भरत ने अपने रस सूत्र में विभावादि के साथ स्थायी शब्द का प्रयोग नहीं किया है । स्थायी शब्द को सूत्र में रख देने से परकीय चित्तवृत्ति की अनुमिति ही रस है -- ऐसी अनिष्टकारी प्रतीति हो सकती है । ये स्थायी वासना रूप से सहृदय या सामाजिक में वर्तमान हैं और ये ही रस रूप को प्राप्त होते हैं । किन्तु यह चित्तवृत्ति स्वत: ही व्यक्त नहीं होती है, इसको व्यक्त करने में विभावादि का योग आवश्यक रहता है ।

(ख) रस-निष्पत्ति-- भरत सूत्र, उसकी व्याख्याएं, विभिन्न आचार्यों के मत ।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस का लक्षण इस प्रकार दिया है --

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्र रस निष्पत्ति:"

अर्थात् विभाव अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है । यह इसका सूत्रार्थ मात्र है । भरत के परवर्ती आचार्यों ने इस सूत्र में आए हुए 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ लेकर सूत्र की व्याख्या भी अपने-अपने ढंग से की है । भरत सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट 'रस' के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं -- ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से रत्यादिक भाव उत्पन्न होकर आश्रय की कटाक्ष भुजाक्षेप आदि चेष्टाओं अथवा अनुभावों से स्पष्ट प्रतीति के योग्य हो जाते हैं और अन्त में (ये ही रत्यादिक भाव) आश्रय के निर्वेद ग्लानि आदि सहकारी या संचारी भावों से परिपुष्ट होकर 'रस' कहलाते हैं ।[१]

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है । अपरिपुष्ट अथवा अनुपचित अवस्था में वह

१- "विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै: रत्यादिको भावो जनित: अनुभावै: कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभि: कार्यै: प्रतीतियोग्य: कृत: व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभि: सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस: ।"

-- का०प्र०, चतु०उ०, पृ० ८७ ।

`स्थायीभाव` ही कहलाएगा । इस अनुमित स्थायीभाव से रसोत्पत्ति नहीं हो सकती है । भट्ट लोल्लट के सिद्धान्तानुसार रस की स्थिति साक्षात् रूप से तो मूल नायक (आश्रय) राम आदि में ही थी जिनका कि इस समय अभिनय किया जा रहा है । अर्थात् रस की उत्पत्ति मुख्यरूपेण लोक में ही होती है क्योंकि उसका आस्वादन कर्ता ऐतिहासिक नायक नायिका ही होते हैं । सामाजिक नाटक में रामादि के साथ तादूप्य प्रदर्शित करने वाले नट या नर्तक में उस `रस` का आरोप करता है । इस आरोप से ही सामाजिक को रस प्रतीति होती है जो उसे आनन्द देती है । यथार्थ में सामाजिक या सहृदय बिल्कुल शून्य हैं । नट या नटी के माध्यम से रस की प्रतीति मात्र करके वह आनन्दित होता है । भट्ट लोल्लट के अनुसार `संयोग` शब्द का अर्थ `सम्बन्ध` है --यह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है --

१-(विभावों का स्थायीभाव के साथ) उत्पाद्यउत्पादक सम्बन्ध । २- (अनुभाव तथा स्थायीभाव में) गम्यगमकभाव सम्बन्ध (क्योंकि अनुभाव उस रस के प्रकाशक हैं) । ३-(व्यभिचारीभाव और स्थायीभाव का) पोष्यपोषक सम्बन्ध (क्योंकि व्यभिचारी भाव स्थायीभाव का पोषण करते हैं) । इन सम्बन्धों के आधार पर `निष्पत्ति` शब्द के भी क्रमश: उत्पत्ति अभिव्यक्ति (अनुमिति) और पुष्टि अर्थ किए गए हैं । विभाव रत्यादिक भावों को उत्पन्न करते हैं , अत: निष्पत्ति का अर्थ `उत्पत्ति` हुआ । अनुभावों द्वारा वह रत्यादिक भाव प्रतीति योग्य होता है, अत: उसका (निष्पत्ति का) अर्थ `अनुमिति` लिया गया तथा व्यभिचारियों द्वारा पुष्ट होने के कारण उसका अर्थ पुष्टि लिया गया[१] । दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने भी इस मत को माना है , ऐसा अभिनव भारती से स्पष्ट है[२] ।

१- एतद्विवृण्वते, भट्टलोल्लट प्रभृतय: । स्थायिनां विभावेन उत्पाद्योत्पादक भावरूपान्त अनुभावेन गम्यगमकभावरूपात् व्यभिचारिण: पोष्यपोषकभाव रूपात् संयोगात् रसस्य निष्पत्ति: उत्पत्ति: अभिव्यक्ति:(अनुमिति) पुष्टिश्च इत्यर्थ: । तथा हि ललनादिभि: आलम्बनविभावै: स्थायीरत्यादिको जनित: उद्यानादिभि: आलम्बनविभावै: ~~स्थायीरत्यादिको जनित:~~ उद्दीपित:, अनुभावै: कटाक्षभुजाक्षेपणादिभि: प्रतीतियोग्य: कृत: व्यभिचारिभि: उत्कण्ठादिभि: परिपोषितो रामादौअनुकार्ये रस: ।नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धान-वशात् आरोप्यमाण: सामाजिकानां साक्ष्यानुभाव: चमत्कारहेतु: इति ।

--ध्वन्यालोक (उद्योत)

२- चिरन्तनानां चायमेव पक्ष:

-- अ०भा०, षष्ठ अ०, पृ०४४३

लोल्लट के इस रसोत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद को परवर्ती आचार्यों ने दूषित बताया । इस मत की प्रधान कठिनायी तो यह है कि रस की प्रतीति सहृदय में न मानकर रामादि अनुकार्य में मानी गई है । आचार्य अभिनव ने अपने लोचन में स्पष्ट रूप से कहा है कि रस विषयक सभी पक्षों में रस की प्रतीति सहृदय को ही होनी चाहिए, अन्यथा उसकी सत्ता पिशाचवत् सन्दिग्ध हो जायगी[१] । पर इस सिद्धान्त में सामाजिक को रसशून्य या भावशून्य माना गया है । अत: सामाजिक में जब कोई रस या भाव ही नहीं है तो फिर उसे केवल आरोपमात्र करने से रसानुभूति कैसे होगी ? राम और सीता में परस्पर रति है-- इसको समझ लेने मात्र से हमें आनन्द नहीं मिल सकेगा । उसके लिए हमारी अपनी अनुभूति आवश्यक है । लोक में रस की साक्षात् स्थिति मानना भी उचित नहीं क्योंकि रस आनन्दस्वरूप माना गया है । लोक में उसकी सत्ता मानने पर सभी भावों को परिपुष्ट होकर आनन्दरूप में ही होना चाहिए -- जो कि देखा नहीं जाता । क्रोध,शोक आदि से दु:ख ही होता है -- आनन्द नहीं ।

लोल्लट के परवर्ती आचार्य शंकुक ने उनके स्थायीभाव की उपचितावस्था के सिद्धान्त को दूषित बताया है । यदि विभावादि रूप कारण द्वारा रस की उत्पत्ति मानी जायगी तो विभावादि की योजना जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक मात्रा में रसोत्पत्ति होगी और जहां विभावादि की योजना कम मात्रा में होगी वहां रसोत्पत्ति भी उतनी ही अल्प होगी । स्थायीभाव की उपचितावस्था को रस और अनुपचितावस्था को भाव मात्र मानने पर स्थायीभाव के मन्द,मन्दतर,मन्दतम और मध्यस्थ आदि भेद तथा रस की तीव्र,तीव्रतर, तीव्रतम आदि स्थितियां माननी पड़ेंगी । पुन: यदि उपचित स्थायीभाव को ही रस कहा जायगा तो हास्य के छ: भेद निराधार ही सिद्ध होंगे । इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि क्रोध,उत्साह,रति, शोक आदि भाव कभी-कभी कालक्रम से क्षीण हो जाते हैं । अत: उनके उपचित होने की स्थिति

१- सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य । अप्रतीतं हि पिशाचवत् अव्यवहार्यं स्यात् ।

-- लोचन,उद्योत २,कारिका ४ ।

तो नहीं, अपचय की स्थिति अवश्य दिखायी देती है[१] ।

भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद को नैयायिक अपने कार्यकारण के आधार पर अस्वीकार कर देते हैं । कार्यकारण सिद्धान्त के अनुसार कारण सदैव कार्य का पूर्ववर्ती होता है और कारण के नष्ट हो जाने पर भी कार्य नहीं नष्ट होता । रस की उत्पत्ति इस दृष्टि से नहीं मानी जा सकती क्योंकि रस तो विभावादि के साथ ही होता है और उनके साथ ही नष्ट हो जाता है । अत: रस और उसके कारणस्वरूप माने जाने वाले विभावादि क में पौर्वापर्य सम्बन्ध नहीं है । इसीलिए 'रस' को विभावादि जीवितावधि कहा गया है । विभावादि के न रहने पर रस की प्रतीति भी नहीं होती है ।

रामादि अनुकार्य में रस और प्रेक्षक में आस्वाद की स्थिति को स्वीकार करने से समानाधिकरण्य का सिद्धान्त भी घटित नहीं होता क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार कारण कार्य की स्थिति एक में ही मानी जानी चाहिए ।

भरत के सूत्र के दूसरे व्याख्याता शंकुक ने आरोपवाद का खण्डन करते हुए 'अनुमितिवाद' की स्थापना की । उनके अनुसार सामाजिक नट को राम के रूप में चित्रांकित तुरग के समान समझता है । यह नट रूप राम शृंगारादि रसों के आलम्बन और उद्दीपन विभावादि के साथ राम की ही भांति अपना तादात्म्य सम्बन्ध-सा दिखाता हुआ अभिनय की शिक्षा और पुन: पुन: के अभ्यास द्वारा वह अपनी भूमिका का सम्पादन करता है । उस समय उसके रत्यादिक भाव के कारण, कार्य और सहकारी भावों के साथ जो इस समय क्रम से विभाव, अनुभाव और संचारी से अभिहित हो रहे हैं और जो वस्तुत: कृत्रिम या कल्पित होते हुए भी वास्तविक प्रतीत हो रहे हैं -- संयोग से अर्थात् गम्यरूप रत्यादिक भाव

१- विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्ते: भावानां पूर्वमभिधेयता-प्रसंगात् स्थितिदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्ते: हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्ते:, कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसंगात् शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनु-मान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनां, प्रमर्ष स्थैर्य-सेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।
-- अ०भा०, षष्ठ अ०, पृ० ४४५ ।

अपने राम नामक [illegible] उन भावों के सम्बन्ध से अनुमान का विषय बनता हुआ नट का वह रत्यादिक भाव जो उसमें न रहता हुआ भी स्थायी रूप से उसमें स्थित माना जाता है, किन्तु अपने सौन्दर्य के कारण जो धूम से अग्नि आदि अन्य अनुमेय वस्तुओं से विलक्षण है, सामाजिकों द्वारा अपनी वासना अर्थात् अनवरत रूप से क्रियाशील `अनुमिति` द्वारा चर्वित या आस्वादित (अर्थात् पुनः पुनः अनुमित होता हुआ) `रस` कहलाता है ।

शंकुक के अनुसार भी रस वस्तुतः अनुकार्य में ही होता है । सामाजिक नट में उसका अनुमान करके प्रसन्न होता है । अपनी शिक्षा अभ्यास आदि के कारण नट वस्तुतः राम के अनुकरणमात्र के रूप में प्रतीत होते हैं । उसके सफल अनुकरण के कारण हम रामादि में उत्पन्न रसों का अनुमान करने लगते हैं और प्रसन्न होते हैं -- ठीक उसी प्रकार जैसे चित्रांकित तुरग को देखकर उसमें वास्तविक अश्व के गुणों का अनुमान करके प्रसन्न होते हैं । चित्रांकित तुरग की भांति नट भी रामादि का अनुकरणमात्र होता है, वास्तविक रामादि नहीं होता है ।

शंकुक के अनुसार रस की यह अनुमिति सम्यक्, मिथ्या संशय और साहृश्य-- इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से सर्वथा भिन्न है । यह एक विलक्षण और अलौकिक प्रतीति है ।`यह राम ही है अन्य कोई नहीं`, इस प्रकार की प्रतीति सम्यक् ज्ञान है । अभिनेता नट को इस प्रकार का राम नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह वास्तविक राम है ही नहीं । यथार्थ राम तो त्रेता के थे जिन्हें किसी भी सामाजिक ने नहीं देखा है ।

`मिथ्या प्रतीति` कुछ इस प्रकार की होती है -- जैसे यह राम है -- इस ज्ञान को थोड़ी देर पश्चात् ही `नहीं, यह राम नहीं है,` इस प्रकार का विरोधी ज्ञान झूठा सिद्ध कर दे । सीप में रजत की प्रतीति इसी प्रकार की है । पर अभिनेता नट का रामत्व भी इस प्रकार का नहीं है , क्योंकि जब तक वह राम की भूमिका में रंगमंच पर स्थित है उस बीच यदि एक क्षण को भी `यह राम नहीं है`-- इस प्रकार लगने लगे तो दर्शक का उस नाटक को देखने का सारा आनन्द ही नष्ट हो जायगा ।

`यह राम है अथवा नहीं है` इस प्रकार `स्थाणुर्वा पुरुषो वा` की भांति होने वाली प्रतीति संशय प्रतीति है । नट रूप राम के प्रति यह ज्ञान भी

नहीं होता है क्योंकि तब तो सामाजिक न तो रामचरित का आनन्द ले सकेगा और न अन्य किसी चरित का ।

यह राम के समान है -- इस प्रकार की प्रतीति सादृश्य प्रतीति है । नट राम को राम के समान दो कारणों से नहीं कहा जा सकता है -- एक तो त्रेता के राम को किसी ने देखा नहीं और दूसरे सादृश्य में भेद बुद्धि बनी रहने के कारण नट राम से भिन्न कोई व्यक्ति लगेगा जैसे गो सदृश गवय में और उस प्रकार तन्मयता हो नहीं हो सकेगी ।

इस प्रकार इन चारों प्रतीतियों से भिन्न `चित्रतुरगन्याय` से सामाजिक नट को राम के रूप में समझता है[1] । भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि से उपचित रत्यादि का नाम `रस` है किन्तु शंकुक के अनुसार वास्तविक स्थायीभाव रस नहीं होता है बल्कि अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायीभाव को रस कहते हैं । विभाव, अनुभाव और संचारी का अनुकरण काव्य, शिक्षा और अभ्यास आदि के द्वारा किया जा सकता है, परन्तु स्थायी का अनुकरण नहीं किया जा सकता । स्थायी का केवल अनुमान मात्र किया जा सकता है । विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रूप लिंगों के द्वारा नट में प्रतीत होने वाले स्थायी भाव को समझ

१- राम एवायम् अयमेव राम इति, `न रामोऽयम्` इत्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति राम: स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे.... इत्यादि काव्यानुसंधानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितै: कारणकार्यसहकारिभि: कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यै: संयोगात् गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षण: स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुक: ।

-- का०प्र०, चतु० उ०, पृ० ८८-९०

लेते हैं अर्थात् इन लिंगों द्वारा हम यह जान लेते हैं कि अमुक स्थायी भाव नट में है। इस स्थायी का अनुकरण नहीं हो सकता -- यही इसकी विलक्षणता है और इसीलिए इसको रस की संज्ञा दी गयी है[1]। काव्य प्रकाश में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता है। इस मत में मौलिक दोष यह है कि इसमें अनुमान द्वारा आनन्दप्राप्ति बतलाई गई है जब कि चमत्कार या आनन्द केवल प्रत्यक्ष ज्ञान से ही प्राप्त होता है। दुखादि का अनुमान कर लेने मात्र से ही किसी को आनन्दानुभूति नहीं हो सकती[2]।

कृत्रिम विभावादि द्वारा रस की अनुमान प्रक्रिया को समझाना शंकुक के मत की दूसरी कठिनायी है। इसके लिए वे धुल और धूम का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। दूर उठती हुई धुल को धूम समझ कर वहां पर अग्नि होने का जैसे अनुमान कर लिया जाता है, ठीक वैसे ही कृत्रिम विभावादि द्वारा रस का अनुमान भी किया जाता है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि अनुमान की सिद्धि वास्तविक विभावादि से ही होती है, कृत्रिम से नहीं। दूसरे इनका दृष्टान्त भी ठीक नहीं। धुल तो दर्शक से काफी दूर रहता है अत: उसका अनुमान तो सम्भव है, किन्तु दर्शक रंगमंच पर प्रत्यक्ष रूप से नट आदि को देखता है। अत: इस सम्बन्ध में ऐसे अनुमान की सम्भावना नहीं की जा सकती है[3]।

१-विभावा हि काव्यबलानुसन्धेया:। अनुभाव: शिक्षात्:। व्यभिचारिण: कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेय:। रति: शोक: इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन नतु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति।--अ०भा०, षष्ठ अ०, पृ०४४६

रस के सम्बन्ध में शंकुक के विचार अभिनव भारती में इस प्रकार है --
तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यै:, कार्यैरनुभावात्मभि सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभि: प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानै:,अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलत: प्रतीयमान: स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूप:। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रस:। --अ०भा०,षष्ठ अ०,पृ०४४६।

२- यत: प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारम् नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धमवधार्यान्यथा कल्पने मानाभाव:। -- काव्य प्रदीप, पृ० ६५

३- नन्वेवं कृत्रिमाणां तेषां व्याप्त्यभावात्कथमनुमापकत्वमिति चेन्न उपस्थापकविशेषमहिम्ना रत्यादिकार्यत्वेन ज्ञातेभ्यस्तेभ्योऽनुमानसंभवात्। धूमत्वेन ज्ञाताद्धूलिपटलादग्न्यनुमानवत्। --~~अ०भा०, षष्ठ~~ काव्य प्रदीप, पृ० २३
नटे स्थायिबोधप्रतिसन्धानेऽपि सामाजिकानां रसोद्बोधमानुमितिपक्षस्यासम्भव इत्यपि बोध्यम्।-- काव्य प्रदीप, पृ० ६५ (टीका)

भट्ट तौत ने भी शंकुक के मत का निराकरण किया है । उन्होंने यह शंका उठाई है कि शंकुक के सिद्धान्त में जो स्थायीभाव का अनुकरण ही रस है कहा गया केवल सामाजिक की दृष्टि से कहा गया है अथवा नट या आलोचक की दृष्टि से ।

सामाजिक अथवा दर्शक ने जिन रामादिकों को कभी देखा भी नहीं-- नट को उनका अनुकरण करने वाला कैसे कहा जा सकता है । इसके अतिरिक्त अनुकरण केवल बाह्य वेशभूषा आदि का किया जा सकता है, स्थायी आदि आन्तरिक भावों का नहीं[१] । प्रेक्षक रत्यादि के प्रसिद्ध कारकों का ही अनुमान कर सकता है, अप्रसिद्ध का नहीं । अत: नटगत रत्यादि भाव अपने वास्तविक विभाव आदि से उत्पन्न होने के कारण वास्तविक रत्यादि रूप ही कहे जायेंगे । उनको रत्यादि का अनुकरण नहीं कहा जा सकता है[२] । कृत्रिम विभावादि द्वारा रति आदि का मिथ्या ज्ञान तो हो सकता है, पर उसको रत्यादि का अनुकरण नहीं कहा जा सकता है[३] ।

नट की दृष्टि से भी स्थायीभाव के अनुकरण को रस नहीं कहा जा सकता है । अनुकार्य राम आदि को देखे बिना नट उनका अनुकरण नहीं कर सकता है । `पश्चात् करण` को भी अनुकरण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह कहा जायगा कि केवल नट नहीं वरन् सम्पूर्ण लोक ही रामादि के बाद रत्यादि का अनुभव करता है । अत: इस अनुकरण सिद्धान्त के आधार पर लौकिक रत्यादि को देखकर भी रस की अनुभूति होने लगेगी[४] ।

१- अ० भा०, कृष्ण षष्ठ अ०, पृ० ४५१

२- कारणान्तरप्रभवेण हि कार्येण सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम् । असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य । यथा वृश्चिकविशेषाद् वृश्चिकस्यैव गोमयस्यानुमानं । तत्पर मिथ्याज्ञानम् ।
--अ०भा०, पृ० ४५४

३- यत्रापि लिंगज्ञानं मिथ्या तत्रापि न तदाभासानुमानं युक्तम् । नहि बाष्पाद्यमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिंगात् तदनुकारानुमानं युक्तम् । धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाग्न्यनुकारा जपापुष्पप्रतीतिर्दृष्टा ।
--अ०भा०, पृ० ४५५

४- न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः --`रामं तच्चित्तवृत्तिं वाऽनुकरोमि` इति । सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम् । अथ पश्चात् करणमनुकरणं तल्लौकेऽप्यनुकरणात्मकता प्रसक्ता ।--अ०भा०, पृ० ४५७

इस प्रकार भट्ट तौत के अनुसार शंकुक की यह अनुमिति विलक्षण नहीं होगी । वह या तो सत्य होगी या मिथ्या । इसके अलावा शंकुक नैयायिक के और नैयायिक क्षणिकवाद के पोषक हैं । अतः शंकुक के सिद्धान्त के अनुसार रसानुभूति भी क्षणिक हो जायगी और ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है ।

भरत के रस सूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक हैं । इनका मत `भुक्तिवाद` या `भोगवाद` कहलाता है । इन्होंने श्रीशंकुक के `अनुमितिवाद` भट्ट लोल्लट के `उत्पत्तिवाद` और आनन्दवर्द्धन के `अभिव्यक्तिवाद` तीनों का ही खण्डन करते हुए कहा है कि रस की यह उत्पत्ति, अनुमिति और अभिव्यक्ति न तो रामादि मूलपुरुष में सम्भव है, न अभिनेता नट में और न सामाजिक के ही हृदय में । नाटक केवल मात्र सामाजिक के लिए ही अभिनीत किया जाता है । अतः अनुकार्य राम और अनुकर्ता नट दोनों का ही नाट्यक्रिया के फल से कोई सम्बन्ध नहीं है । नाटक दर्शन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले आनन्द के प्रति दोनों ही तटस्थ हैं । यह आनन्द सामाजिक का अपना है -- `स्व` है । नाट्यक्रिया से तटस्थ रूप से सम्बन्धित मूल राम में रस की प्रतीति या अनुमिति नहीं की जा सकती है क्योंकि अनुकार्य राम को न तो किसी ने देखा ही है और न वे इस समय उपस्थित ही हैं, फिर उनकी रति का अनुमान किस आधार पर लगाया जा सकता है । मूल राम में रस की उत्पत्ति मान लेने पर वह उनकी अपनी वस्तु होगी जो कि सुख,दुःख,मोह आदि से युक्त होगी, फिर उससे सामाजिक को आनन्द कैसे मिलेगा ? मूल राम में रस की अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती है क्योंकि अभिव्यक्ति का तात्पर्य होगा कि जो रस पहले शक्ति रूप से विद्यमान था वही अब प्रकट हो रहा है । ऐसी दशा में उसे तर तम के अनुसार धीरे-धीरे प्रकट होना चाहिए[१] । अभिव्यक्तिवादी रस प्रतीति में तारतम्य नहीं मानते । रस तो अखण्डानन्द रूप है । रस की अभिव्यक्ति सामाजिक नट सहृदय तीनों में ही तारतम्य दोष से दूषित है । अभिव्यक्ति

१- शक्तिरूपस्य हि श्रृंगारस्य अभिव्यक्तौविषयार्जन तारतम्य प्रवृत्तिः स्याद ।

--लोचन,उद्योत २,कारिका ४

का स्वरूप भट्टनायक ने, जैसे दीपादि द्वारा सिद्धवस्तु घटादिक होती है, वैसा माना है किन्तु 'रस' को तो वे सिद्ध नहीं मानते । अतः उनके मत से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है ।

नट में भी रस की उत्पत्ति, अनुमिति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जिन विभावादिकों द्वारा सामाजिक नट में रति का आरोप करता है वे असत्य हैं । अतः इन झूठे विभावादिकों से किसी वास्तविक भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । इन असत्य विभावादिकों के माध्यम से प्रेक्षक नट में जिस रति का अनुमान या आरोप करेगा वह रति भी झूठी होगी क्योंकि नट के अपने रत्यादिक से उन विभावादिकों से कोई सम्बन्ध नहीं है । फिर मूल राम की रति का नट में झूठा अनुमान करके सहृदय को क्या मिलेगा ?

सहृदय में भी रसोत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह प्रतीति अन्य अलौकिक प्रतीतियों के समान ही होगी । फलस्वरूप करुण रस में उन्हें दुःखानुभूति ही होगी, आनन्द नहीं और वे करुण नाटकों को कभी देखना न चाहेंगे[१] । नाटक को किसी दूसरे के चरित का अनुकरण रूप समझने के कारण सहृदय के हृदय में रसानुमिति भी नहीं हो सकती ।

इस प्रकार रस निष्पत्ति का स्वरूप समझाने के लिए वे अभिधा के साथ ही भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य शक्तियों की कल्पना करते हैं । अभिधा का सम्बन्ध वाच्यार्थ से है, भावकत्व का रस से और भोग का सहृदय से ।

अभिधा द्वारा काव्य या नाटक का अर्थबोध हो जाने पर भावकत्व नामक व्यापार द्वारा काव्य और नाटक के विभावादि साधारणरूप में उपस्थित होते हैं । अर्थात् उस समय सीता आदि विभाव, सीतात्वादि विशिष्टता से रहित साधारण स्त्री के रूप में उपस्थित होते हैं और आश्रय के अनुभाव और संचारीभाव आश्रय विशेष के सम्बन्ध से रहित होकर सर्वसाधारण

१- उत्पत्तिपक्षे च करुणस्य उत्पादात् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनःरप्रवृत्तिः स्यात् । -- ध्वन्या०, लो०, पृ० १८२

के ये जाते हैं, जिसके फलस्वरूप सहृदय का अपना भी रत्यादि भाव उसके स्वसम्बन्ध से रहित मानव-साधारण के भाव के रूप में हो जाता है। वे स्त्री पुरुष के सम्बन्ध से विमुक्त हो जाते हैं। विभावादित्रय के साथ ही सहृदय का अपना रत्यादिभाव भी साधारणरूप में उपस्थित होता है। उस समय सामाजिक का स्वहृदय मानव साधारण का हृदय हो जाता है। भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादित्रय और सहृदय के रत्यादि भाव का साधारणीकरण हो जाने पर `भोग` नामक काव्य की तृतीय शक्ति द्वारा उस साधारणीकृत रत्यादि का भोग होता है। वह साधारणीकृत रति भाव सत्वविशिष्ट प्रकाशमयी आनन्दात्मक चेतना या अनुभूति में परिणत हो जाता है। भट्टनायक के अनुसार सहृदय की अपनी रति ही उसकी आत्मा को सत्वमयी आनन्दात्मक चेतना से प्रकाशित होकर `रस` बनती है[१]।

टीकाकार फल्कीकर के अनुसार सहृदय जिस रति का आस्वादन करता है वह उसमें स्थित नहीं होती बल्कि काव्य या नाटक के आश्रय से मिलती है -- उसकी अलौकिकता के कारण ऐसा सम्भव है[२]। पर पण्डितराज ने अभिनव और भट्टनायक दोनों के ही मत में सहृदय की ही साधारणीकृत रति की भुक्ति मानी है। दोनों के मतों में अन्तर केवल यही है कि अभिनव व्यंजना से साधारणीकरण और रसन दोनों मानते हैं और भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अन्य व्यापारों की कल्पना करते हैं। यदि भोग और व्यंजना को एक मान लिया जाय तो भी भावकत्व नामक नया व्यापार भट्टनायक का बना ही रहता है[३]। इस मत की सबसे बड़ी कठिनायी यह है कि इसमें

१- न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः। -- का०प्र०, चतुर्थ उ०, पृ० ६० ।

२- अतएव असत्या अपि रतेरास्वादः अलौकिकत्वादुपपन्नः।--का० प्र०,टीका पृ०६१

३- पूर्वस्मात् मतात् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः। भोगकृत्त्वं तु व्यंजनात् अविशिष्टं। अन्यात्तुसैव सरणिः।-- रस०,पृ० १०० ।

भावकत्व और भोजकत्व नामक दो अतिरिक्त शक्तियों की कल्पना की गई है । वास्तव में ये दोनों ही शक्तियां ध्वनन या व्यंजन शब्द के अन्तर्गत आ जाती हैं ।[१]

भट्टनायक के मत को आगे चलकर आचार्यों ने स्वीकार किया । रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' बताने और साधारणीकरण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया बताने के कारण उनका महत्त्व और भी बढ़ गया ।

भरत सूत्र के चौथे व्याख्याता आचार्य अभिनव ने भट्टनायक के साधारणीकरण के सिद्धान्त को ग्रहण करते हुए रस के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट और मौलिक विचार व्यक्त किए । उनके अनुसार रस का सम्बन्ध सामाजिक के भावों से है । नट में रसास्वाद नहीं होता अपितु नट के माध्यम से सामाजिक रसास्वाद करता है । सहृदय अथवा सामाजिक में जन्म जन्मान्तरों की वासनाएं संस्कार रूप में स्थित रहती हैं । इन वासनाओं को साहित्यशास्त्र में स्थायीभाव कहते हैं । नाटक देखकर या काव्य को सुनकर स्थायीरूप में सुप्त वासना उद्बुद्ध होकर शुद्ध आनन्दमयी चेतना के रूप में परिणत हो जाती है । इसी को रस कहते हैं । इस प्रकार अभिनव के अनुसार वासनासंवाद ही रस का मुख्य कारण है ।[२] 'निष्पत्ति' का अर्थ इनके अनुसार 'अभिव्यक्ति' है क्योंकि 'रस' कहीं बाहर से नहीं आता है, अपितु अवचेतन मन में स्थित भावों का चेतन मन में आ जाना ही रस है ।

लोक जीवन में प्रमदा आदि कारणों से (आश्रय में) रत्यादि स्थायीभावों का बार-बार अनुमान करने से सामाजिक को उनकी सत्ता के परखने की क्षमता

१- तस्मात् व्यंजकत्वव्याख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकया इति कर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति इति त्र्यंशायाम् अपि भावनायाम् करणांशे ध्वननमेव निपतति । भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्य-संकटतानिवृत्तिद्वारेण आस्वाद्यास्वादपरिणम्नि अलौकिके द्रुति विस्तार-विकासात्मनि भोगकर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वनन व्यापार एव मूर्द्धाभिषिक्तः । तच्चेदं भोगकृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम् ।
-- ध्व०, लोचन, उ०२, पृ० १८६

२- अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तिः सुतरां रस परिपोषाय । सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात् ।
-- अ०भा०, षष्ठ अ०,पृ० ४७१

प्राप्त हो जाता है । फिर काव्य या नाटक को देखते या सुनते समय उसमें वर्णित या प्रदर्शित प्रमदादिकों से सामाजिक के हृदय में वासनारूप से स्थित स्थायी रत्यादिक भाव को रस कहा जाता है । काव्य या नाटक में वर्णित अथवा प्रदर्शित ये प्रमदादिक अब लोकव्यवहृत कारणतादि गुण से रहित होकर विभावादि शब्दों से अभिहित होते हैं । सामाजिक इन रत्यादिक भावों व को न तो अपना ही समझता है अर्थात् अपने भावों से सम्बद्ध मानता है क्योंकि अपनी ही रति का सबके सामने प्रदर्शन होते देख उसे लज्जा लगेगी -- और न वह यही समझता है कि ये विभावादिक ब मेरे शत्रु के हैं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर सामाजिक में द्वेष आदि भाव उठेंगे और रसास्वाद सम्भव नहीं हो सकेगा ।

सामाजिक यह भी नहीं समझता कि ये विभावादिक किसी ऐसे ह के हैं जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि जब उस व्यक्ति से ही सामाजिक का कोई सम्बन्ध नहीं है तो फिर उसके विभावादिकों को देखकर सामाजिक को आनन्द क्यों मिलेगा ? ये विभावादिक किसी के भी नहीं हैं , ऐसा भी वह नहीं समझता है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो फिर वे आकाशपुष्प की भांति असत्य प्रतीत होंगे । अत: इन विभावादिकों को सामाजिक किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध न करके सर्वसाधारण अर्थात् मानवमात्र के भावों से सम्बद्ध रूप में ग्रहण करता है । इस प्रकार साधारणरूप से प्रतीत होने वाले प्रमदादिक विभावों से सहृदय या सामाजिक में वासनारूप से स्थित रत्यादिक स्थायीभाव ही 'रस' होता है । वासनारूप में स्थित ये स्थायी यद्यपि सामाजिक रूप एक निश्चित प्रमाता में रहते हैं, फिर भी विभावादिक के सर्वसाधारण रूप से प्रतीत होने के कारण उस समय सामाजिक का सीमित व्यक्तिगत प्रमातृभाव विगलित हो जाता है । उसमें अन्य संवेद्य वस्तु के सम्पर्क से रहित मानव साधारण भाव उन्मिषित होता है । इस प्रकार वे रत्यादिक भाव समस्त

सहृदयों के हृदय के भावों के साथ साधारणरूप से प्रतीत होकर 'रस' कहलाता है।[१]

सहृदय के रसास्वाद का अभिनव ने उचित कारण बताया। स्थायी को वासनारूप से सहृदय में स्थित मानकर और रस का सीधा सम्बन्ध सहृदय के हृदय से बताने के कारण वे शंकुक और भट्टलोल्लट पर लगाये जाने वाले दोषारोपण से बच गए। दूसरी ओर व्यंजना द्वारा साधारणीकरण की स्थिति में रसास्वाद की प्रक्रिया बताने से वे भट्टनायक की भांति अतिरिक्त शक्तियों की कल्पना से भी पृथक रहे।

मम्मट तथा पण्डितराज दोनों ने ही अभिनव के मत का समर्थन किया। पण्डितराज, अभिनव के अभिव्यक्तिवाद को किंचित नवीनता लाते हुए स्वीकार करते हैं। वे वेदान्त के अनुसार आत्मा को अज्ञानोपहित मानते हैं। आत्मा स्वत: आनन्दरूप है, किन्तु सांसारिक व्यक्ति माया के आवरण के कारण उसके स्वरूप को नहीं जान पाता है। अज्ञान के हटते ही आत्मा आनन्दमय हो जाती है। अत: वासनारूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव जब स्वत: प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभव किए जाते हैं तो 'रस' कहलाने लगते हैं। पण्डितराज का मत है कि 'व्यक्त' शब्द से अज्ञानावरण के नष्ट होने की बात कही गई है।

१- तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिंगदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्त-वृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षधृत्यादिभि--लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावतानुभावनासमुपरंजकत्वमात्रप्राणै: अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि: प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवन-ख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदै-र्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भि: अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मक--चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थ: चर्व्यमाणतैकसारो, न तु सिद्धस्वभाव:, तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रस:। -- अ० भा०, षष्ठ अ०, पृ० ४८३

(ग) साधारणीकरण -- अर्थ, व्याख्याएं, महत्त्व ।

साधारणीकरण का तात्पर्य है समस्त सम्बन्ध विशेष का परित्याग एवं उससे स्वतन्त्र होना । किसी भी काव्य अथवा नाटक के चरित्रों और भावनाओं को वैयक्तिक रूप में न समझ कर अवैयक्तिक अर्थात् साधारण रूप में समझना साधारणीकरण है । हम मंच पर स्थित सीता का अभिनय करने वाली अभिनेत्री को देखते हैं । इस सीता का अभिनेत्री को देख कर दर्शक यह नहीं समझेगा कि वह एक विशेष देश और काल से सम्बद्ध रमणी है तथा उसका सम्बन्ध किसी विशेष व्यक्ति से है । वह न तो उसे अपनी प्रेयसी के रूप में ही देखेगा और न राम की पत्नी के रूप में, क्योंकि प्रथम अवस्था में उसे लज्जा का अनुभव होगा तथा द्वितीय में (दूसरे की पत्नी समझने के कारण) वह उसके प्रति उदासीन हो जायगा । अत: वह उसे केवल एक सुन्दर कामिनी के रूप में तथा उसी प्रकार ० राम को एक वीर पुरुष के रूप में समझेगा । वास्तविक राम-सीता से सम्बद्ध अन्य बातें दर्शक के लिए निरर्थक हैं । वह राम और सीता के पारस्परिक प्रणय को देखकर यह भी नहीं समझेगा कि एक वीर और उदार पुरुष का एक सुन्दर रमणी के प्रति प्रेम है क्योंकि इन दोनों ही पात्रों को किसी ने प्रेमी और प्रेमिका के रूप में नहीं देखा है । दर्शक नाटक में प्रदर्शित प्रत्येक चित्र को एक भिन्न व्यक्तित्व के रूप में समझता है । राम-सीता के सम्बन्ध में उसकी भावना समस्त वैयक्तिक विशेषताओं से रहित होगी । अत: साधारणीकरण का अर्थ है पाठक अथवा श्रोता का भाव की `सामान्य` भूमि पर पहुंच जाना । जहां पहुंचकर पाठक या दर्शक राम और सीता की रति की चर्वण करते हुए उस रति को राम एवं सीता की रति न समझ कर पुरुष की प्रमदा के प्रति साधारण रति के रूप में देखता है । इसी कारण प्रत्येक दर्शक या पाठक किसी विशिष्ट श्रृंगारिक दृश्य को देखकर अपने हृदय में स्थित रति का समा

करता है और वह विशिष्ट भाव किसी एक का न होकर सबके द्वारा ग्राह्य हो जाता है ।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में भट्टनायक सर्वप्रथम विचारक के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । जैसा कि हम देख चुके हैं उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व -- इन दो अन्य शक्तियों की कल्पना की है । `भावकत्व` व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाने से `निविड़निज मोह` रूपी संकट नष्ट हो जाता है । तत्पश्चात् रज और तम के अभिभूत होने और सत्व का प्रकाश तथा निज विश्रान्ति के प्राप्त होने से `भोजकत्व` शक्ति के द्वारा स्मृति आदि से विलक्षण `ब्रह्मानन्द सहोदर` रस का भोग किया जाता है[1] । इस प्रकार साधारणीकरण की प्रक्रिया भावकत्व द्वारा सम्पन्न होती है और साधारणीकरण विभावादि का होता है । आचार्य अभिनव साधारणीकरण पर विचार करते हुए बताते हैं कि वाक्यार्थ बोध के अनन्तर, देश काल आदि के विभाग से रहित मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है । तब मृगादि विशेष का अभाव हो जाता है और भयमात्र अवशिष्ट रह जाता है क्योंकि भयकर्ता के अपारमार्थिक होने के कारण -- `यह भयभीत है` के समान बोध नहीं होता । `मैं भयभीत हूँ` `यह भयभीत है` अथवा `शत्रु, मित्र, मध्यस्थ भयभीत है`, इस प्रकार का सम्बन्ध विशेष का बोध न होने से सुख दु:खादि से रहित निर्विघ्न प्रतीति होती है और वह स्थायीभाव साक्षात् हृदय में प्रविष्ट होता हुआ, आँखों के सामने नाचता हुआ रसरूप में प्रतीत होता है[2] । इस प्रकार के भय से आत्मा न तो विशेष

१- तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविड़निजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्य-बलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादविधेन भोगेन परं भुज्यते....... । --अ०भा०, प्रथम० पृ० २७७

२-......वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहसिततत्तद्वाक्योपात्त-कालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते । तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वाभावाद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम् । तत एव `भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा` इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दु:खसुखादि-कृतहानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रस: ।

--अ० भा०, पृ० २७६

महत्व प्राप्त करती है और न तिरस्कृत ही होती है । रत्यादि स्थायीभाव तथा कम्पादि संचारीभाव को व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से पृथक करके सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक रूप में हम देखते हैं । जिस प्रकार धूम और अग्नि को साथ-साथ देखकर फिर हम उसे किसी विशिष्ट देश अथवा काल से ही सम्बद्ध नहीं मानते, बल्कि उसे सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूप में ही देखते हैं । सभी सामाजिकों में अनादिकाल से वासना विद्यमान है, अतः वासनासंवाद होने से जिस निर्विघ्न आनन्द का अनुभव होता है वही रस है[1] । इस प्रकार अभिनव ने प्रमाता की स्थिति को अधिक महत्वपूर्ण बताया है ।

आचार्य मम्मट ने अभिनव के इस मत को स्वीकार करते हुए उसकी और भी विशद व्याख्या की । उन्होंने 'अपरिमित प्रमातृत्व' को स्वीकार करते हुए कहा कि इस अवस्था में किसी सम्बन्ध-विशेष का स्वीकार अथवा परिहार नहीं किया जा सकता है । न तो यही कहा जा सकता है कि यह मेरा है अथवा किसी अन्य का है और न उसे शत्रु का ही कहा जा सकता है, क्योंकि अपना कहने पर अपना सम्बन्ध न होने से हम उस ओर से उदासीन हो जायेंगे और शत्रु का समझने पर हमारे मन में विरोध की भावना उत्पन्न होगी । फलस्वरूप रसनिष्पत्ति नहीं हो सकेगी । इस प्रकार साधारणीकरण की अवस्था में सम्बन्ध-विशेष के स्वीकार और परिहार दोनों का ही अनिश्चय रहता है । परिहार की अनिश्चयात्मकता न मानने पर सम्बन्ध विशेष के विषय में यदि हम यह कहें कि 'यह किसी का नहीं है' तो फिर वह गगन पुष्प के समान असद् सिद्ध हो जायगा और रसास्वादन में बाधक न होगा । अतः इन दोनों प्रतीतियों से विलक्षण केवल 'कामनीत्व' की

१- तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो नविशेषतः उल्लिखितः । एवं परोऽपि । तत एव न परिमितमेव साधारण्यम् । अपि तु विततम् । व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः । भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादि सामग्री । यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति । अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय । सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात् । सा चाविघ्ना संवित् ।

-- अ० भा०, पृ० २७६

प्रतीति को स्वीकार करना अधिक संगत है[1]।

टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार काव्य में वर्णित राम और सीता तथा उनकी रति रामत्व सीतात्व सम्बन्ध को त्याग कर सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं अर्थात् हम राम को पुरुषमात्र, सीता को स्त्रीमात्र और उनके द्वारा प्रदर्शित रति स्थायी को सामान्य रतिस्थायी भाव के रूप में ग्रहण करते हैं। वामन झलकीकर के अनुसार विशिष्ट रूप का परिहार हो साधारण या सामान्य हो जाना है[2]।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय मत विश्वनाथ का है। विश्वनाथ आश्रय और प्रमाता में परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। काव्यानुशीलन अथवा नाटक दर्शन के समय काव्य में निबद्ध सीता आदि आलम्बन विभाव तथा वनवास आदि उद्दीपन विभाव श्रोता और द्रष्टा के साथ अपने को सम्बद्ध रूप से ही प्रकाशित करते हैं। विभावादि की इसी साधारणीकरण व्यापार से प्रमाता (द्रष्टा या श्रोता) समुद्र लांघते हुए हनुमान के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करके उसी प्रकार का अनुभव करता है। आश्रय तथा प्रमाता में तादात्म्य हो जाता है[3]।

१- ..... संबंध विशेष स्वीकारस्थानिश्चयः स्वीकर्तव्यः। एवं तत्परिहारनियमनिर्णयोऽपि नास्तीत्यंगीकार्यम्। अन्यथा 'नैते कस्यापि' इति संबंध परिहारनियमनिश्चये 'असंबंधिनोसत्त्वम्' इति नियमेन अलौकिकत्वशंकया गगनकुसुमगन्धोपलब्धये प्रवृत्तिवत् रसास्वादप्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मादुभयावधारण वैलक्षण्येन सामान्यतः 'कामिनीयम्' इति कृत्वा कामिनीत्वादिना प्रतीतेरिति इति विवरणे स्पष्टम्'

--का० प्र०,टीका, पृ० ६२

२- काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्रावेन भावकत्वव्यापारेण विभावादिः सीतादयो रामसंबंधिनो रतिश्च सीतात्वरामत्वसंबंधांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यते। -- का० प्र०, टीका, पृ० ६१

३- व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ॥९॥
तत्प्रभावेण, यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥१०॥

-- सा०द० ३, पृ० ५४

पण्डितराज अन्य आचार्यों के मत उद्धृत करते हुए बताते हैं कि शकुन्तला आदि के विषय में रत्यादि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मानस कल्पित बोध `रस` है अर्थात् रस एक प्रकार का भ्रम है जिसके कारण दुष्यन्तादि से हम अपना अभेद समझने लगते हैं और इस प्रकार की दुष्यन्त आदि से तद्रूपता का कारण है काव्यानुशीलन ।[१]

हिन्दी के आचार्यों में साधारणीकरण के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का है । शुक्ल जी कवि, सहृदय, पात्र और भाव सभी का साधारणीकरण मानते हैं किन्तु सर्वाधिक महत्त्व आलम्बन के साधारणीकरण को ही देते हैं । वे कभी तो आलम्बन धर्म का साधारणीकरण बताते हैं और कभी आलम्बन का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ तादात्म्य मानते हैं । शुक्ल जी के मत को यहां उन्हीं के शब्दों में रखना अधिक उपयुक्त होगा । उनके अनुसार `काव्य का विषय सदा `विशेष` होता है, सामान्य नहीं वह `व्यक्ति` सामने लाता है, `जाति` नहीं ।` क्योंकि `अनेक` व्यक्तियों के रूप गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है -- निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है । काव्य का काम है कल्पना में `बिंब` (इमाजेज़) या मूर्तभावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (कनसेप्ट) लाना नहीं । बिंब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामान्य या जाति का नहीं ।[२] जैसे `क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है, तो यह काव्य की उक्ति न होगी ।` काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी । कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु विशेष ही होगा । सामान्य या जाति की तो मूर्त भावना हो ही नहीं सकती ।`

शुक्ल जी के ही शब्दों में उनके साधारणीकरण सिद्धान्त का सारांश इस प्रकार है --

`विभावादिक साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह

१- रस गंगाधर, पृ० ११०

२- रस मीमांसा, पृ० ३०९-३१०

मन:स्थितियां भिन्न होती हैं । यह सम्भव है कि शकुन्तला आदि को प्रेक्षक किसी विशिष्ट रूप में न देखे किन्तु वह उसे सुन्दरी के रूप में और दुष्यन्त को धीरोदात्त नायक के रूप में अवश्य समझेगा । किन्तु उन्हें वह अपने व्यक्तित्व का अंग कभी नहीं समझ सकता । दूसरी बात यह है कि यदि प्रेक्षक उनको सुन्दरी मात्र के रूप में समझेगा तो फिर दो भिन्न नायिकाओं जैसे सागरिका और वासवदत्ता -- इन दोनों को ही वह सुन्दरी के रूप में ग्रहण करेगा । फलस्वरूप उनके पृथक व्यक्तित्व को सहृदय नहीं देखेगा[1] । उनकी दूसरी आपत्ति के अनुसार सहृदय को इस बात का ज्ञान रहता है कि उनके अपने ही भाव उठ रहे हैं -- अत: साधारणीकरण की प्रक्रिया व्यर्थ है[2] । तीसरी आपत्ति करते हुए वे कहते हैं कि साधारणीकृत रूप में उपस्थित हुए विभावों के प्रति भावोद्बोध न होकर उनका बौद्धिक ज्ञानमात्र होता है[3] ।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में देश-काल के ज्ञान का विनाश जो बताया गया है वह भी उन्हें मान्य नहीं । उनका कहना है कि शकुन्तला और दुष्यन्त यदि फ्राक और कोट पहने हमारे सम्मुख उपस्थित होंगे तो उनका अभिनय हमें उपहासास्पद ही लगेगा ।

उपर्युक्त आपत्तियों के समाधान स्वरूप यह कहा जा सकता है कि साधारणीकरण व्यापार द्वारा सहृदय अपने को किसी पात्र का अंग कभी नहीं समझता । साधारणीकरण ब द्वारा वे प्रमदादि स्त्री पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं । सभी स्त्री पात्रों को सुन्दरीमात्र समझने का आक्षेप भी ठीक नहीं, क्योंकि `व्यक्तिभेद` का प्राधान्य होने पर भावानुभूति ब गौण हो जाती है और इसी प्रकार भावानुभूति की मुख्यता होने पर व्यक्तिभेद गौण हो जाता है । नाटक दर्शन के पूर्व तथा बीच में यह भेद अवश्य रहता है किन्तु दृश्य व्यापार की वृद्धि के साथ ही भावानुभूति तीव्र होती ह जाती है और व्यक्तिभेद अचेतन मन में स्थान ग्रहण करता जाता है । इस प्रकार व्यक्तित्व की जानकारी हमें रहती अवश्य है परन्तु उसके कारण आस्वादन में हमें कोई बाधा नहीं होती है[4] । नाटक देखते हुए हम

१- साइ० स्ट० इन रस, पृ० ५१
२- ,, ६५
३- ,, ६५
४- रस सिद्धान्त-- स्वरूप विश्लेषण -- पृष्ठ १६४

उसी में लीन हो जाते हैं, हम केवल विशिष्ट नायक अथवा नायिका को ही नहीं देखते रहते, बल्कि कथा में आने वाले पात्रों और उनके व्यवहारों का भी ज्ञान हमें रहता है। डा० गुप्त का यह कथन ठीक है कि अभिनयोपयुक्त उपकरण आदि पात्र के व्यक्तित्व को उभारते हैं किन्तु उनका साधारणीकरण नहीं कराते यह ब कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वीर वेशधारी रामादि को हम वीर पुरुष 'राम' के रूप में जानते हैं किन्तु आस्वादन के समय वे हमारे सामने केवल वीर व्यक्ति रह जाते हैं।

देश-काल के ज्ञान के विनाश की आपत्ति भी उचित नहीं है अभिनव द्वारा कथित देशकालाद्यनालिंगित का तात्पर्य केवल यह है कि भावानुभूति की चरम स्थिति में केवल भाव की अनुभूति होती है देश-कालादि के अनुकूल होने पर वह अनुभूति निर्बाध रूप से होती है अभिनव देश काल के महत्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु देश-काल प्रेक्षक की भावानुभूति का उपकरणमात्र है, देशकालादि का ज्ञान गौण है -- प्रेक्षक केवल उसी में मग्न नहीं रहता है।

डा० गुप्त की एक अन्य उल्लेखनीय आपत्ति यह है कि जब सहृदय को यह मालूम है कि भाव उसके अपने ही हैं तो फिर साधारणीकरण की क्या आवश्यकता है[१]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सहृदय के हृदयस्थ भावों को प्रबुद्ध करने के लिए विभावादिक अनिवार्य हैं। रति भाव सभी व्यक्तियों में है पर यह रति विभावादिकों द्वारा ही उद्बुद्ध होगी। अत: विभावादि का साधारणीकरण भी आवश्यक है।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में ऊपर दी गई व्याख्याओं में आचार्य मम्मट का सिद्धान्त ही अधिक स्पष्ट और मौलिक है।

वस्तुत: साधारणीकरण की प्रक्रिया के बिना रस प्रक्रिया सम्भव नहीं। इसको न मानकर रसास्वादन को सम्भव बताने पर अनेक दोष उपस्थित हो जायेंगे। साधारणीकरण रसास्वाद के लिए अत्यावश्यक है। इसके कारण ही विभिन्न देश,काल, जाति आदि के सामाजिक नाटक को देखते अथवा काव्य विशेष को सुनते समय समानरूप से रसानुभूति करते हैं। साधारणीकरण द्वारा जाति,लिंग,

---

१- सा० स्व० एवं रस, पृ० ६५

रुचि आदि भेद में भी अभेद उपस्थित कर दिया जाता है । संसार के प्रत्येक प्राणी में पूर्वजन्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं, सभी प्राणी एक ही वासना से वासित हैं । अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा पूर्व संस्कारों के कारण किसी में कोई प्रकृति अधिक और किसी में कम रहती है तथा विरोधी स्वभाव के व्यक्ति दिखायी पड़ते हैं । सत्त्व के उद्रिक्त होने से इन सब विरोधों का परिहार हो जाता है तथा सामाजिक का हृदय निर्मल हो जाता है, वह उचित मार्ग का अवलम्बन लेता है न तो वह किसी को अपना शत्रु समझता है और न मित्र ही ।

साधारणीकरण की प्रक्रिया के कारण ही हमें काव्य अथवा नाटक का कोई एक पक्ष प्रभावित नहीं करता है अर्थात् जिस पक्ष के हम समर्थक हैं उसमें दोषों को देखते हुए भी हम उसके प्रति आकृष्ट रहें और दूसरे पक्ष का विरोध करते रहें -- ऐसा नहीं है । साधारणीकरण व्यापार द्वारा सभी साधारणीकृत रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं और हम औचित्य के अनुसार पक्ष विशेष का आस्वादन करते रहते हैं । साधारणीकरण समस्त विभावादि का होता है । आश्रय,आलम्बन उद्दीपन, संचारी तथा स्थायी सभी साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित होते हैं । आलम्बन तथा आश्रय सभी हमारे समक्ष सामान्य स्त्री या सामान्य पुरुष के रूप में आते हैं । सहृदय मन में इनके प्रति सम्बन्ध विशेष का स्वीकार परिहार नहीं करता है । किसी पात्र के प्रति सम्बन्ध विशेष को मानने अथवा न मानने से जो बाधाएं रसास्वादन में उपस्थित होती हैं उनका विवेचन मम्मट के सिद्धान्त में किया जा चुका है । सामान्य कामिनी और पुरुष कहने का तात्पर्य यह है कि सहृदय को पत्नीत्व या पुरुषत्व का ज्ञान होता है । सीता सब की पत्नी बन जाती है -- ऐसा सामान्य कामिनी का अर्थ नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य है कि सहृदय को पत्नीत्व का ज्ञान होता है -- सामाजिकों में यह भाव उत्पन्न होता है कि पत्नी का रूप इस प्रकार का होता है । अतः बिना साधारणीकरण की प्रक्रिया के सहृदय के लिए रसास्वादन सर्वथा असम्भव है ।

(घ) रसास्वादन में तादात्म्य के सिद्धान्त का तात्पर्य

शुक्ल जी ने साधारणीकरण पर विवेचन करते हुए आलम्बन को अत्यधिक महत्वपूर्ण बताकर रसानुभूति की कोटियां निर्धारित कर दीं । उन्हीं के शब्दों में

साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव व्यंजना करने वाला पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलंबन रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है । पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहां के साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है । उसका भी विचार करना चाहिए । किसी भाव की व्यंजना करने वाला कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता या दर्शक के किसी भाव का -- जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा , रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होता है । इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है -- अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है बल्कि व्यंजना कर करने वाले पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है , यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है -- यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा । बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा , घृणा आदि का भाव जगेगा । ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति -द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा । पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की मानेंगे[१] ।

शुक्ल जी ने कवि के साथ भी तादात्म्य की स्थापना की है । उनका कहना है कि " तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है । जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है । वह उसके किसी

१- रस मीमांसा, पृ० ३१३-३१४

भाव का आलम्बन अवश्य होता है । अतः पात्र का स्वरूप कवि के लिए भाव का आलम्बन करता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है । जहां कवि किसी वस्तु जैसे -- हिमालय, विंध्याटवी या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है, वहां कवि ही आश्रय के रूप में रहता है । उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है । उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य होता है, उसी का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है[१] ।

जहां तक कवि के साथ तादात्म्य का सम्बन्ध है-- शुक्ल जी की मान्यता उचित है क्योंकि कवि, कवि होने के साथ ही सहृदय भी है । कवि और सामाजिक दोनों को ही साधारणीकरण होता है किन्तु सहृदय को रसास्वाद विभावादि के साधारणीकरण द्वारा होता है । शुक्ल जी का आश्रय के साथ तादात्म्य मानना उचित नहीं क्योंकि आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर अर्थात् सीता के प्रति राम की रति को देखकर यदि हमारा राम से तादात्म्य हो जायगा तो हम सीता को पत्नी रूप में ग्रहण करने लगेंगे । राम-सीता की रति हमारी भी रति हो जायगी । इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक राम की प्रिया को अपनी प्रिया समझने लगेगा । पण्डितराज ने तादात्म्य के सम्बन्ध में इसी दोष को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि तादात्म्य को मान लेने पर रामगत सीता की रति स्त्रियों को और सीतागत राम की रति पुरुषों को आस्वाद्य होगी और इस प्रकार रति 'सकल सहृदय संवादभाजा' नहीं हो सकेगी । फिर रसानुभूति के समय तो व्यक्ति की विशिष्टता का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है । नाटक देखने के समय पहले तो हमें व्यक्ति की विशिष्टता का ज्ञान रहता है किन्तु धीरे-धीरे रसानुभूति की कोटि तक पहुंचाते समय यह ज्ञान भी लुप्त हो जाता है, यद्यपि इसका क्रम अलक्ष्य ही रहता है ।

हिन्दी के एक अन्य विद्वान् डा० नगेन्द्र ने आश्रय,आलम्बन,कवि, नट

१- रस मीमांसा, पृ० ३१४

आदि का पृथक रूप से विवेचन तो किया है किन्तु सर्वत्र ही वे साधारणीकरण को तादात्म्य मानकर चले हैं । यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि विभाव का साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य भट्टनायक तथा अभिनव को मान्य नहीं किन्तु आगे वे यह भी कहते हैं कि" संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था ।" " क्या आप उसी घृणित नायक से तादात्म्य कर सकेंगे ?" "हम,हमारी अनुभूति -- लेखक की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करते हैं अथवा राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे"[1]। डा० नगेन्द्र के उपर्युक्त कथन इस बात के द्योतक हैं कि वे साधारणीकरण और तादात्म्य को एक ही मानते हैं । केवल यही नहीं, वे सहृदय का साधारणीकरण नहीं मानते हैं । उनके अनुसार सहृदय केवल साधारणीकृत रस को भोगने वाला मात्र है । डा० नगेन्द्र को नायक का साधारणीकरण भी स्वीकार्य नहीं है । जैसा कि ऊपर उद्धृत किया गया है , उनका कहना है कि नाटक का नायक घृणित व्यक्ति भी हो सकता है और ऐसे व्यक्ति से हम अपना तादात्म्य नहीं करना चाहेंगे ।आलम्बन के साधारणीकरण के सम्बन्ध में आगे वे कहते हैं --

"हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं -- काव्य की वह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो , वह कवि की मानसी सृष्टि है, अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है"[2]। उनका यह तर्क ठीक नहीं क्योंकि सहृदय व्यक्ति विशेष को न तो अपना और न दूसरे का ही समझता है । वह तो उसे सामान्य व्यक्ति मात्र के रूप में देखता है -- वह दूसरे के भाव का अनुभव नहीं करता । मंच पर सीता को देखकर हम सीता से प्रेम नहीं करते बल्कि उससे अनासक्त रहकर अपनी हृदयस्थ रति की चर्वणा करते हैं ।

१- री० का० भू०, पृ० ४८

२- री० का० भू०, पृ० ५०

अत: डा० नगेन्द्र जब यह कहते हैं कि " साधारणीकरण की सम्भावना दो की ही हो सकती है क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रस का भोक्ता हूं --(१) आश्रय की और (२) आलम्बन की । क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है ? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो बन जाता है -- और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझ कर रति का अनुभव करते हैं "[१] । तब वे यह भूल जाते हैं कि साधारणीकरण होने पर कोई सहृदय अपने को राम नहीं समझने लगता । साधारणीकरण तो स्वगत और परगत अर्थात् दोनों को (सहृदय और नट) विशिष्ट व्यक्तित्व के बन्धन से मुक्त कराता है । साधारणीकरण के इस महत्व के कारण ही घृणित नायक की समस्या भी दूर हो जाती है क्योंकि पाठक न तो प्रिय आश्रय से तादात्म्य करता है और न अप्रिय से ही । अत: रस-प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ,तादात्म्य सिद्धान्त का बहिष्कार ही श्रेयस्कर होगा, उसको स्वीकार करने पर विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । ऊपर बताई गई अड़चनें तो हैं ही, साथ ही नाटक में वर्णित खलपात्र के साथ हम अपना तादात्म्य कैसे करेंगे ? शोकान्त नाटकों में नायक के साथ तादात्म्य कैसे सम्भव होगा ? साथ ही नाटक में वर्णित स्त्री पात्रों के साथ पुरुषवर्ग तथा इसी प्रकार स्त्री वर्ग का भी तादात्म्य किस प्रकार माना जा सकता है । इन्हीं सब निर्दिष्ट कारणों से रस सिद्धान्त में साधारणीकरण की पुष्टि एवं तादात्म्य का निरास आवश्यक हो जाता है ।

(ड०) रसनिष्पत्ति का स्वरूप--आनन्दानुभूति,आनन्दानुभूति का व्यापक अर्थ और स्वरूप --

अब प्रश्न उठता है कि यदि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से व्यक्त हुआ स्थायी ही स्वयं रस निष्पत्ति कराता है तो फिर काव्य के श्रवण अथवा नाटक के दर्शन के फलस्वरूप सब को समान रूप से रसाभिव्यक्ति होनी चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं । इस शंका का समाधान आचार्य अभिनव

१- री० का० भू०, पृ० ४६

के रस निष्पत्ति के स्वरूप से ही स्पष्ट होता है । भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने मुल पात्रों में रस की स्थिति मान कर आरोप या अनुमान द्वारा रसास्वाद सम्भव बताया । भट्ट नायक ने काव्य शक्तियों को महत्त्व देकर सत्त्वोद्रेक के सहारे रसास्वाद की प्रक्रिया बताई । जैसा कि पीछे देखा जा चुका है --इन सबके रसाभिव्यक्ति का स्वरूप अस्पष्ट ही रहता है । अभिनव के अनुसार रस की स्थिति सहृदय में ही है । सहृदय अपने हृदयस्थ रत्यादि भावों का ही आस्वादन करता है । अत: रसास्वादन के लिए रत्यादि की वासना या संस्कार का होना आवश्यक है । आचार्य विश्वनाथ ने तो रसास्वाद के लिए इस जन्म की तथा पूर्व जन्म की दोनों ही वासनाओं को आवश्यक बतलाया है । क्योंकि इस जन्म की वासना यदि न मानी जायगी तब तो श्रोत्रिय और मीमांसकों (जो कि बिल्कुल ही राग रहित हैं --) को भी रसास्वाद होना चाहिए । इसके विपरीत यदि पूर्वजन्म की वासना को आवश्यक नहीं माना जायगा तब तो सभी रागियों को सर्वदा रसानुभूति होनी चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है[१] । इस प्रकार यदि साधारणीकरण की प्रक्रिया हो जायगी तो इन प्राक्तन संस्कारों के कारण सभी सहृदयों को रसानुभूति हो सकती है । साथ ही रस प्रतीति के लिए कुछ लौकिक अनुमान आदि का अभ्यास भी आवश्यक है क्योंकि लौकिक अनुमान आदि के अभ्यास में निपुण व्यक्तियों को ही ऐसी अनुभूति होती है ।

अत: रसाश्रय के सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रस वस्तुत: सहृदय में ही रहता है । वह (रस) न तो अनुकार्य (रामादि) निष्ठ

१- न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् । वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतु: । तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात् । यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषांचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात् । --सा०द०,३, पृ० ५३
धर्मदत्त का मत भी वे इस सम्बन्ध में इस प्रकार उद्धृत करते हैं --
सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ।
निर्वासनास्तु रंङ्गान्त: काष्ठकुड्याश्मसन्निभा: ।
--सा०द०,३, पृ० ५४

है और न अनुकर्ता (नटादि) गत ही है । अनुकार्यनिष्ठ रत्यादि की उद्बोध का रस नहीं कहा जा सकता है । सीता आदि के दर्शन से उत्पन्न रति केवल रामादि में रहती है इसी से परिमित है, परन्तु रस अपरिमित है । वह एक ही समय में अनेक सामाजिकों में एक भाव से विद्यमान रहता है । अनुकार्य रामादि की रति लौकिक है और रस अलौकिक । फिर दूसरे के रत्यादि को देखकर सामाजिक को आनन्द प्राप्ति नहीं हो सकती है ।

रस अनुकर्ता नट में रहता है -- यह भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि नट अभिनय की शिक्षा और अभ्यास के द्वारा राम का अभिनय मात्र करता है -- वह रस का आस्वादक नहीं है । यदि काव्यार्थ की भावना द्वारा वह रस का आस्वादन करता है तब तो उसकी गणना सामाजिकों में की जायगी ।

अतः सहृदय का हृदयस्थ रत्यादि भाव ही रस होता है । यहां पर एक अन्य शंका यह उठती है कि क्या रस केवल सहृदय में है, काव्य में नहीं । हम जब काव्य पढ़ते या नाटक देखते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य वस्तुतः रसमय है और हम उसका केवल आस्वादन कर रहे हैं । इस प्रश्न का समाधान धनन्जय लक्षणा शक्ति का सहारा लेकर करते हैं । उन्होंने सामाजिक को ही रसाश्रय माना है और काव्य को रसवद् की संज्ञा दी है । उनके अनुसार विभावानुभाव आदि सामग्री द्वारा श्रोता या प्रेक्षक के हृदय में स्थित रत्यादि भाव आस्वाद्य होकर रस कहलाते हैं । यह रत्यादिक भाव सामाजिक के हैं अतः वह रसिक है । काव्य अथवा नाटक उस प्रकार के आनन्द संविद् को उन्मीलित करता है, अतः उसे रसवद् की संज्ञा दी गई है । जैसे आयुर्घृतम् उदाहरण में घृत के आयुवर्द्धक होने के कारण हम लक्षणया घृत को ही आयु कह देते हैं ठीक उसी प्रकार आनन्द रूप रस को प्रकट करने के कारण काव्य को उपचारतः हम 'रसवद्' कहते हैं[1] ।

१-वक्ष्यमाणस्वभावैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैं काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां निर्भरानन्द संविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथा विधानन्द संविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद् । आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशावद् ।
-- द० रू० ४, पृ० १७६

काव्यगत ये रस वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त होने के कारण `लौकिक` ही हैं। जब उन व्यक्तिगत भावों का साधारणीकृत रूप उपस्थित होता है तब उसे `रस` की संज्ञा मिलती है। इसी से ये आनन्दरूप और अलौकिक कहा जाता है।

हिन्दी में रामदहिन मिश्र ने अपने काव्यदर्पण में काव्यगत तथा रसिकगत नामक रस के दो भेद स्वीकार किए हैं और उनके पृथक् आलम्बनादि का वर्णन किया है जो कि ठीक नहीं।

रसास्वादकर्ता की योग्यता के सम्बन्ध में विचार करते हुए अभिनव ने काव्यानुशीलनाभ्यास को आवश्यक बताया है क्योंकि उससे मनोमुकुर[1] निर्मल हो जाता है और फिर हृदय संवाद रूप रसास्वाद सम्भव होता है। यह हृदय संवाद ही आस्वाद है[2]। हिन्दी तथा संस्कृत के सभी आचार्यों ने काव्य रसज्ञ होने के लिए व्यक्ति का निर्मल हृदय सम्पन्न आदि गुणों से समन्वित होना आवश्यक बताया है, सामान्य व्यक्ति काव्य का आस्वादक नहीं हो सकता है।

यह रस आस्वाद रूप एवं लोकोत्तर होने से ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है। सर्वप्रथम भट्टनायक ने रस की आनन्दात्मकता के सम्बन्ध में विचार किया। उन्होंने भावकत्व शक्ति द्वारा रज और तम के अभिभूत हो जाने तथा सत्त्व के उद्रेक से ब्रह्मानन्द सदृश काव्यानन्द की अनुभूति बताई। अभिनव ने भी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर बताकर उसकी समता `पानक रस` से की है। मम्मट ने भी इस भावना को ग्रहण करते हुए अपने काव्यप्रकाश में रसानन्द के स्वरूप का विवेचन किया है। `पानक रस` की भांति विभावादि से निष्पन्न रस भी अलौकिक होता है। यह रसास्वाद ऐसा प्रतीत होता है मानो सामने परिस्फुरित-सा हो रहा है, हृदय में प्रवेश-सा कर रहा है। समस्त अंगों में व्याप्त-सा होता हुआ अपनी अनुभूति के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं की अनुभूतियों को तिरोहित-सा कर देता है। ब्रह्मानन्द का सा अनुभव कराता हुआ यह अलौकिक चमत्कार को देता है। इस रस को कार्य रूप में ही नहीं माना जा सकता है क्योंकि अपने निमित्त कारण

१-येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदी भूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन्यो-
ग्यता ते हृदय संवादभाजः सहृदयाः। -- लोचन, पृ० ३८

२-हृदयसंवादः आस्वादः आस्वादः। -- ध्व०लो०, पृ० ३८

रूप विभावादिकों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट हो जाता है, बना नहीं रहता । रस को (दीपक से घटादि की भांति) ज्ञाप्य भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस रस का स्वरूप सिद्ध रूप नहीं माना गया । यह रस विभावादिकों द्वारा ज्ञाप्य न होकर उनके द्वारा अभिव्यक्त होता है । कारक और ज्ञापक हेतुओं से भिन्न होने के कारण ही इसे (रस को) विलक्षण कहा गया है । यह रसानुभूति `मित योगियों` और `युक्त योगी` दोनों को ही ज्ञान से विलक्षण, अतएव अलौकिक है । `मितयोगी` लौकिक प्रत्यक्ष आदि ज्ञान के साधनरूप इन्द्रियादिक की अपेक्षा किए बिना ही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और `युक्तयोगी` लौकिक वस्तुओं के सम्बन्ध के बिना केवल आत्मस्वरूप में स्थित रहते हैं । रसानुभूति इन दोनों के ज्ञान से विलक्षण होकर भी, स्वानुभूति का विषय है, अतः उसे ज्ञेय या ज्ञान का विषय भी कह सकते हैं । अर्थात् विभावादिकों द्वारा अभिव्यक्त आनन्दरूप रस को ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है । यद्यपि रस को ज्ञान का विषय कहा गया है परन्तु उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों प्रकार के ज्ञान से भिन्न है । निर्विकल्पक ज्ञान तो इसलिए नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि रसानुभूति में विभावादि का ज्ञान प्रधान रहता है । सविकल्पक इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह आनन्दरूप रस केवल स्वप्रतीति रूप में स्थित रहता है अर्थात् उस समय अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता केवल रस ही चर्वित होता रहता है । निर्विकल्पक और सविकल्पक -- इन दोनों प्रकार के ज्ञान का क्रम से अभाव मानने पर दोनों का अभाव भी स्वीकृत हो जाता है जो कि रस की लोकोत्तरता को ही सिद्ध करता है[१] ।

१- पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीण-मिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः । स च न कार्यः । विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् । नापि ज्ञाप्यः तस्यासम्भवात् । अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः । कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् न क्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिक-प्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्य-वसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं चर्व्यमा-णस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि-पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति । --का०प्र० ४, पृ० ६३-६५ ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रस आनन्दमय है । रसास्वाद के समय विषयों का स्पर्श तक नहीं होता । इसीलिए वह ब्रह्मास्वद सहोदर कहा गया है । उन्हीं के शब्दों में --

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय: ।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर: ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि: ।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रस: ।।[१]

पण्डितराज ने भी आवरणमुक्त शुद्धचैतन्य को ही 'रस' कहा है[२]। चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूपी आवरण का हट जाना ही रस की चर्वणा है अथवा अन्त:करण की आनन्दाकार वृत्ति को ही रस की चर्वणा समझना चाहिए ।

भल्लराज ने सुख के नित्यानित्य दो भेद करके नित्यसुख को ब्रह्मानन्द और अनित्य सुख को विषयजन्य माना है । रसानन्द को वे दोनों का मध्यस्थ बताते हैं । जैसे दानादि का मुख्य फल पुण्य एवं प्रासंगिक फल कीर्ति आदि होता है, उसी प्रकार रस का मुख्य फल पुण्य और प्रासंगिक फल आनन्द है[३]।

इस सम्बन्ध में एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या करुणादि रसों की अनुभूति को भी आनन्दरूप माना जा सकता है । इस प्रश्न ने आचार्यों के पुन: दो वर्ग बना दिए हैं । प्रथम वर्ग के आचार्यों का कहना है कि सभी रसों की अनुभूति आनन्दमय ही है, परन्तु द्वितीय प्रकार के आचार्य रस को सुखात्मक और दु:खात्मक दोनों ही प्रकार का मानते हैं । इनमें नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र और गुणचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है । इनके अनुसार अनिष्ट विभावादि से उत्पन्न होने के कारण करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक-- ये चार रस नितान्त दु:खरूप हैं और इष्ट विभावादि से उत्पन्न होने के कारण शृंगार, हास्य वीर अद्भुत और शान्त -- ये पांच रस नितान्त सुख स्वरूप हैं । इनके अनुसार

१- सा० द० ३।२-३, पृ० ४८-४९
२- वस्तुतस्तु वक्ष्यमाण श्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रस: ।
-- रस गंगाधर, पृ० ८८
३- रस र० प्र०, १।१०-२५

यदि भयानक आदि रस दुखात्मक होते तो उनके दर्शन के फलस्वरूप दर्शक को उद्वेग नहीं होता । पर इन भयानक वीभत्स आदि दृश्यों को देखकर दर्शक को उद्वेग होता है । कवि और नट के कौशल के कारण इन भयानक आदि रसों के अभिनय में चमत्कार प्रतीत होने लगता है । अर्थात् चमत्कार का कारण केवल अभिनय आदि की कुशलता है । भयानक आदि रसों के विभावादिक को देखकर दर्शक में विस्मय आदि भाव होते हैं तथा कवि और नट की शक्ति से उसे आह्लाद की प्राप्ति होती है और वह सहृदय धोखे में पड़कर करुण आदि दुःखात्मक रसों को भी सुखात्मक मानने लगता है । रस को सुखदुःखात्मक मानने के मूल में एक हेतु यह भी है कि नाटक को लोक जीवन का अनुकरण रूप कहा जाता है । संसार सुखदुःख रूप है । अतः उसके अनुरूप चित्रित किये गये रामादि पात्र सुखदुःखात्मक रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होंगे । जिस प्रकार से ठण्डाई आदि में मिर्च का तीक्ष्ण स्वाद भी पानक के माधुर्य में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर देता है वैसे ही दुःखात्मक करुण आदि रसों में आनन्दानुभूति सी होती है, पर फिर भी उन्हें सुखरूप नहीं कहा जा सकता है । सीता हरण आदि दृश्यों को देखकर किसी भी सहृदय को सुख प्राप्ति नहीं होगी । अनुकार्य रामादि में करुण आदि वास्तविक दुःख के कारण ही थे । उनको यदि सुखात्मक मान लिया जायगा तो फिर उसके अभिनय को यथार्थ नहीं कहा जा सकेगा[१] ।

नाट्यदर्पणकार का यह मत ठीक नहीं है । लौकिक और काव्यगत करुणादि रसों में अन्तर है । लौकिक करुणादि तो दुखात्मक होते हैं परन्तु काव्य के करुणादि रसों को दुःखात्मक नहीं कहा जा सकता है । रामायणादि करुण रस के महाकाव्य इसमें प्रमाण स्वरूप हैं । यदि इनसे वास्तव में रसानुभूति न होती तो फिर सहृदय इनके अध्ययन या अवलोकन के लिए प्रवृत्त न होते । करुण आदि काव्यों के दर्शन या श्रवण से जो अश्रु प्रवाह होता है वह आनन्दातिरेक का ही द्योतक है । करुणादिगत काव्यों को देखकर या सुनकर चित्त द्रवीभूत हो जाता है और फलस्वरूप अश्रुपात होने लगता है । काव्य या नाटक में दिखाए जाने वाले सीता हरण, वनवास आदि दृश्य लौकिक जगत में

१- नाट्यदर्पण, पृष्ठ १५६

शोक के कारण अवश्य हैं परन्तु काव्य में वे साधारण लौकिक कारण न रह कर 'अलौकिक' विभाव शब्द से व्यवहृत होते हैं । ये विभावादि काव्य में उपन्यस्त होने पर अलौकिक सुख की अनुभूति कराते हैं । काव्यानुशीलन के समय सहृदय के हृदय के भाव तथा अन्य विभावादि सभी साधारणीकृत रूप में उपस्थित होते हैं -- अत: ऐसी परिस्थिति में दु:खानुभूति हो ही नहीं सकती है ।

डा० राघवन ने अपनी पुस्तक 'नम्बर आफ रसाज़' में हरिपालदेव के 'संगीत सुधाकर' तथा रुद्रभट्ट के 'रस कलिका' नामक ग्रन्थों की चर्चा की है जो कि अप्रकाशित है तथा जिनकी हस्तलिखित प्रति मद्रास के पुस्तकालय में है । इन दोनों लेखकों ने भी रस के सुखात्मक एवं दु:खात्मक होने की चर्चा की है । हरिपालदेव ने विप्रलम्भ को श्रृंगार से भिन्न मानते हुए उसे दु:खकारक बताया है[१] । वे उसका स्थायी रति के स्थान पर अरति मानते हैं । रुद्रभट्ट ने भी इसी प्रकार विप्रलम्भ को दु:खात्मक माना है[२] । वासुदेव द्वारा रचित 'कर्पूरमंजरी' नामक एक अन्य ग्रन्थ की चर्चा भी राघवन ने की है जिसमें कि रस को सुख दु:खमय माना गया है ।

रसों की आनन्दात्मकता के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती एक नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं । उनकी मान्यता है कि सभी रसों में सुखानुभूति समान नहीं होती है । रज और तम के सम्मिश्रण से आनन्द में तारतम्य रहता है । यही कारण है कि रौद्र रस तथा करुणरसों में विशुद्ध आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती क्योंकि रौद्र और करुण के क्रोध और शोक मूलक होने से दोनों में क्रमश: रज और तम का प्राधान्य रहता है । रज और तम के कारण इनमें विशुद्ध

१- नम्बर आफ रसाज़ , पृ० १४४-४६
तथा-- मलिनो दु:खकारी च विप्रलम्भोऽप्रियावह: ।--न०आ०र०,पृ० १४५

२- आनन्दात्मकत्वं रते: केश्चिदुक्तम् ,तच्चिन्त्यम् ।
(अ) विप्रयोगादे: आनन्दात्मकत्वस्य अयोगात् । --न० आ० र० में,पृ०१४६ पर उद्धृत ।
(ब) करुणाभयानामप्युपादेयत्वं सामाजिकानां, रसस्य सुखदु:खात्मकतया तदुभय लक्षणत्वेन उपपद्यते । अतएव तदुभयजनकत्वम् ।
--पृ० ५१-५२। न०आ०र०, पृ० १५५

सत्व नहीं रह पाता पर सत्व की इतनी मात्रा अवश्य रहती है जिसके द्वारा ये स्थायी भाव की कोटि तक पहुंच जाते हैं। तात्पर्य यह है कि चित्त का द्रवीभाव बिना स्थायी के सम्भव नहीं होता। यह द्रवीभाव सत्वधर्म के कारण होता है और सत्वगुण के आनन्दमय होने से क्रोधादि सभी भाव आनन्दमय तो होते हैं परन्तु इन क्रोधादिकों में रज और तम का मिश्रण होने से उनमें तारतम्य होता है। इसी से सभी रसों में सुखानुभूति समान नहीं होती। पर इसके साथ ही मधुसूदन सरस्वती ने यह भी स्वीकार किया है कि बोध्यनिष्ठ अर्थात् काव्यनिष्ठ भाव सुख-दु:ख मोहात्मक होते हैं किन्तु बोद्धृनिष्ठ अर्थात् सहृदयगत हो जाने पर वे सभी रत्यादिक सुखात्मक ही हो जाते हैं। यही कारण है कि करुण आदि रसों का रसत्व प्रतिहत नहीं होता है[१]।

(च) आनन्दानुभूति और रस के भेद तथा इनकी अविभाज्यता --

काव्यानन्द लौकिक आनन्द से भिन्न प्रकार का आनन्द है। यह स्वत: सापेक्ष है। इसकी अनुभूति ऐन्द्रिक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर शोक जुगुप्सा आदि की अनुभूति भी जुगुप्सामय होनी चाहिए जो कि नहीं होता। लौकिक जगत में विभिन्न क्रियाओं द्वारा जो सुख हमें प्राप्त होता है काव्यानन्द उससे भिन्न प्रकार का है। किसी नाटक को देखकर अथवा काव्य को पढ़कर हम केवल इसलिए आनन्दित नहीं होते हैं कि उसमें वर्णित पात्रों तथा दृश्यों के बाह्य उपकरणों के प्रति हम आकृष्ट हो गए हैं बल्कि वह चित्त

१- क्रोधादि भावस्यापि रजस्तमोमिश्रितसत्वोद्रेकनिबन्धनचित्तद्रुतिफलितत्वात् सुखमयत्वमित्यभिप्राय:। द्रवीभावस्य च सत्वधर्मत्वात् तं बिना च स्थायीभाव-संभवात् सत्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोऽशमि-श्रणात् तारतम्यं अवगन्तव्यम्। अतोन सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवा:।
--म०भ०र०, पृ० ५३

बोध्यनिष्ठा यथास्वन्ते सुखदु:खादिहेतव:।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतव: ।।५।।
अतो न करुणादीनां रसत्वम्प्रतिहन्यते।
भावानाम्बोद्धृनिष्ठानान्दु:खाहेतुत्वनिश्चयात् ।।६।।
-- म०भ०र०, पृ० २४८

एवं अत्यधिक आकृष्ट करता है कि हममें व्याप्त विभिन्न भावों से हमारे भाव उद्बुद्ध हो जाते हैं। काव्यानन्द का तात्पर्य केवल मनोरंजन से ही नहीं है, बल्कि उसमें हम हृदय की मुक्त दशा का अनुभव करते हैं।

प्रश्न यह है कि यदि रस में अखण्डानन्दात्मकता है तो फिर रस के अनन्त भेदों को क्यों स्वीकार किया गया है। भरत ने आठ रस माने हैं, उद्भट ने शान्त को मिला कर नौ रस बताए। रुद्रट ने प्रेयान् तथा मम्मट और दण्डी ने प्रेयस् नामक रसों की कल्पना की। शारदातनय ने शृंगार, वीर, रौद्र, बीभत्स -- इन चार रसों को ही आदि रस मान कर हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक की उत्पत्ति इनसे बताई। मधुसूदन सरस्वती तथा रूप गोस्वामी ने भक्ति रस तथा भानुदत्त ने माया रस की भी प्रतिष्ठा की। भोज ने भी नायकों के आधार पर धीर प्रशान्त का शान्त, धीर ललित का प्रेयस्, धीरोदात्त का उदात्त और धीरोद्धत का उद्धत रस माना है। इस प्रकार रस-संख्या में क्रमशः वृद्धि होती गई किन्तु इससे रस की अनेकता के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस संख्या-वृद्धि के साथ-साथ उसके घटाने का भी उपक्रम देखा जाता है। किसी ने शृंगार को ही एकमात्र रस स्वीकार किया है। करुण रस से आदिकाव्य प्रादुर्भूत हुआ -- ऐसा मानकर किसी ने केवल करुण को तथा इसी प्रकार अद्भुत एवं भक्ति रस भी एकमात्र रस के रूप में स्वीकृत हुए हैं। आनन्दस्वरूप होने के कारण रस वस्तुतः एक ही है। रसों का वैभिन्न्य भावों की विभिन्न स्थितियों के कारण है अन्यथा रस-दशा एक है, अनिर्वचनीय है। रसानन्द वस्तुतः वह लोकोत्तर दशा है जब समस्त वासनाओं का उपशमन हो जाता है। इस दृष्टि से वास्तविक रस-दशा शान्त में ही प्राप्त होती है। जहां पहुंचकर हमारा मन प्रपंचों से अपने को पृथक करके दैवी आनन्द की अनुभूति करता है तथा समस्त प्रकार की वासनाओं का उपशमन क हो जाता है। अतः पारमार्थिक रूप में शान्त ही एकमात्र रस है।

-0-

अध्याय -- २

रस और शम स्थायी -- शान्त रस

अध्याय -- २

-0-

रस और शम -- स्थायी--शान्त रस

(क) स्थायी भावों की संख्या -- शम और भरत का नाट्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र में शान्त रस के प्रकरण से सम्बन्धित विवाद :-

शान्त रस के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियां दृष्टिगत होती हैं। भरत द्वारा निर्दिष्ट आठ रसों की सत्ता में जितना मतैक्य प्राप्त है, उतना ही शान्त रस में मतवैभिन्न्य भी सुलभ है। उसकी रसात्मकता के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। कुछ आचार्य उसकी सत्ता का स्वरूपत: और कुछ अंशत: निराकरण करते हुए अपने-अपने मतों की पुष्टि में प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं। इस विवाद का प्रारम्भ सम्भवत: भरत के बाद ही होता है। भरत के नाट्य शास्त्र में इस सम्बन्ध में यदि कुछ भी स्पष्ट रूप से लिखा गया होता तो शान्त रस सम्बन्धी यह समस्या न उठती। आदि आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र ही ऐसा प्रथम प्रामाणिक प्राप्त ग्रन्थ है, जिसमें समस्त नाटकीयतत्वों का शास्त्रीय ढंग से विवेचन किया गया है। समस्त परवर्ती आचार्यों ने उनके मत को या तो उसी रूप में या किंचित परिवर्द्धित रूप में ग्रहण किया है। अत: सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि आदि आचार्य भरत का शान्त रस के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है।

जहां तक भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध है, उन्होंने उसमें शान्त रस का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। उसमें केवल आठों रसों और

उनके आठ स्थायी भावों का चित्रण निम्न प्रकार से किया गया है :-

> शृंगार-हास्य-करुणा-रौद्र-वीर भयानका: ।
> बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: ।। १५[1]
> रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
> जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा: प्रकीर्तिता: ।।१६[2]

सम्पूर्ण ग्रन्थ में इन्हीं आठ रसों के देवता वृत्ति,रूप,वर्ण,दृष्टि आदि का विशद विवेचन उन्होंने किया है । किन्तु शान्त रस के सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं कहते हैं । स्थायी भावों के अन्तर्गत शम भाव की गणना भी उन्होंने नहीं की है । इन्हीं आठ रसों की पुष्टि के लिए वे ब्रह्म को भी प्रमाण स्वरूप उपस्थित करते हैं[3] । पर केवल छठे अध्याय के अन्त में जहां अन्य रसों का पृथक्-पृथक् विवेचन हुआ है वहां शान्त के सम्बन्ध में भी उनके विचार देखने को मिलते हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि नाट्यशास्त्र के में शान्तरस का यह प्रकरण निश्चित रूप से भरत द्वारा रचित होता है और अन्य आचार्यगण नाट्यशास्त्र में शान्त रस की सत्ता है, इस विषय में एक मत होते तो कदाचित् इस सम्बन्ध में इतना विवाद न होता । इसके साथ ही परवर्ती आचार्य अपने-अपने मतों की पुष्टि में नि:शंक भाव से भरत के नाट्यशास्त्र से उद्धरण अवश्य प्रस्तुत करते । किन्तु शान्त रस के समर्थक और विरोधी समस्त आचार्य अपने मत के समर्थन के लिए ही भरत की दुहाई देते हैं । नाट्यशास्त्र में शान्तरस की सही स्थिति क्या है, इसका वे विवेचन नहीं करते । विद्याधर,भानुदत्त,शल्लराज आदि आचार्य जो कि भरत के मत को लगभग प्रत्येक स्थल पर उद्धृत करते हैं, भरत की रस सम्बन्धी कारिका में आठ ही रसों का चित्रण मानते हैं ।

१- अभिनव भारती, पृ० ४२७ षष्ठोऽध्याय:
२- वही०, पृ० ४३३ षष्ठोऽध्याय:
३- एते ह्यष्टौ रसा: प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।
-- नाट्यशास्त्र षष्ठोऽध्याय:, पृ० २६७

भरत के परवर्ती आचार्य आनन्दवर्द्धन (नवम शताब्दी) अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में शान्तरस का विवेचन करते हुए कहीं भी भरत के शान्त रस सम्बन्धी प्रकरण से उद्धरण नहीं देते । वे नाट्यशास्त्र के प्रक्षिप्त प्रक्षिप्त अंश में उल्लिखित न तो निर्वेद को ही शान्त का स्थायी मानते हैं और न शम। उनके अनुसार तृष्णाक्षयसुख शान्त का स्थायी है[1] । कालिदास ने भी अपने विक्रमोर्वशीय में भरत द्वारा निर्दिष्ट रसों की संख्या आठ ही बताई है[2] । अतः इतना तो निश्चित हो है कि नाट्यशास्त्र में शान्त रस सम्बन्धी प्रकरण प्रक्षिप्त है । प्रश्न यह है कि नाट्यशास्त्र में शान्तरस की अवतारणा किसने की ? इसका विवेचन करने के लिए नाट्यशास्त्र के टीकाकारों के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है । नाट्यशास्त्र के छः प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख मिलता है --
१- भट्टोद्भट, २- भट्टलोल्लट, ३- भट्ट शंकुक, ४- भट्टनायक, ५- अभिनव और ६- कीर्तिधर । अभिनव को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों की टीकायें अप्राप्य हैं । उनके नाम एवं रस सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय मम्मट के `काव्यप्रकाश` `लोचन`, `अभिनवभारती` और श्री शार्ङ्गदेव के `संगीतरत्नाकर` से होता है । भरत के पश्चात् तथा उद्भट के पूर्व काव्यशास्त्रकारों में भामह और दण्डी का नाम भी उल्लेखनीय है । किन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थों में रस के सम्बन्ध में पृथक् रूप से कुछ न कहकर `रसवत्` अलंकार का संक्षेप में विवेचन किया है और उसके आठ ही भेद बताए हैं[3] । उद्भट (नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के `काव्यालंकार-सार संग्रह` में नौ रसों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है --

> शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर भयानकाः ।
> बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः[4] ।।

१- शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्यय: परिपोष लक्षणो रस: प्रतीयत एव ।
--ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० ३९० ।

२- मुनिना भरतेन य: प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्त: ।
--विक्रमोर्वशी, २, पृ० १८

३- इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।(काव्यादर्श, पृ०२९२)
रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादि रसं यथा ।
-- काव्यालंकार, तृतीय परिच्छेद, श्लोक ६, पृ०१२१ ।

४- काव्यालंकार सार संग्रह, श्लोक ४, पृ० ५२ ।

इससे स्पष्ट है कि शान्तरस के सर्वप्रथम रस के रूप में स्वीकार करने वाले उद्भट थे । सम्भव है कि उन्होंने अपनी शान्तरस सम्बन्धी मान्यता की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए नाट्यशास्त्र में भी शान्त रस का अवतारण कर दी हो । उद्भट के पश्चात् नाट्यशास्त्र की विशद एवं सारगर्भित प्राप्त टीका अभिनव की है । अभिनव (९५० ई० लगभग) भी नाट्यशास्त्र में शान्तरस की सत्ता के समर्थकों में से हैं । इनके प्रबल तर्कों के कारण नाट्यशास्त्र में शान्त रस के सम्भाव्य और असम्भाव्य होने की समस्या और भी जटिल हो गई है । उनके अनुसार नाट्यशास्त्र में शान्त रस का पृथक् विवेचन न होने का कारण यही है कि भरत शान्तरस को प्रकृति और अन्य रसों को उसकी विकृतियां मानते हैं । प्रकृति से उनका तात्पर्य इस प्रकार है -- रत्यादि भाव अपने अनुरूप कारण की प्राप्ति होने पर शान्त से ही उत्पन्न होते हैं और अपने रत्यादि कारण की निवृत्ति हो जाने पर पुनः शान्त में ही लीन हो जाते हैं।[1]

अभिनव के अनुसार नाट्यशास्त्र में शान्तरस के होने का दूसरा प्रसंग रूपकों के भेद `डिम' के वर्णन के साथ मिलता है । `डिम' भेद के लक्षणों में उसे `दीप्तरसकाव्ययोनिः' कहा गया है । उसमें रौद्ररस का प्राधान्य रहता है । शृंगार और हास्य को छोड़कर उसे षड्रस युक्त बताया गया है । इस प्रकार रसों की संख्या आठ होती है, पर यदि शान्त को भी रस माना जायगा तो इस संख्या का व्यतिक्रम हो जायगा और नौ संख्यायें माननी पड़ेंगी । यहां पर शान्तरस के सम्बन्ध में भरत के मौन रहने का कारण देते हुए अभिनव कहते हैं कि रौद्र रस प्रधान `डिम' में शान्तरस की संभावना ही नहीं है, इसी कारण भरत ने उसका पृथक् रूपेण निषेध नहीं किया है।[2]

१- स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ।।
--अ०भा०, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६३७ ।

२- ननु करुणाद्भुतप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते । नैतद् सात्त्वत्यारभटी-वृत्तिसम्पन्नः' इत्यनेनैव तन्निरासात् । शान्ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तद्व्यवच्छेदकमेवैतत् । तेन डिमलक्षणं प्रत्युतशान्तरसस्य सद्भावे लिंगम् ।
--अ०भा०, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६३८ ।

दूसरी बात यह है कि 'दीप्तरसकाव्ययोनि:' से अद्भुत और करुण रस का भी व्यवच्छेद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि 'डिम' को सात्वती और आरभटी वृत्तियों से युक्त कहा गया है । और इन दोनों ही रसों में इनमें से कोई भी वृत्ति नहीं रहती । शृंगार और हास्य के व्यवच्छेद का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इनका निराकरण शब्दत: कर ही दिया गया है । अत: यदि 'दीप्तरसकाव्ययोनि:' पद से किसी अन्य रस को निकाला जायगा और शान्तरस की सत्ता भी नहीं मानी जायगी, तब तो डिम को षड्रसयुक्त ही नहीं कहा जा सकेगा । शान्तरस में सात्वती और आरभटी दोनों तो नहीं किन्तु सात्वती वृत्ति अवश्य रहती है । अत: उसका निराकरण करने के लिए ही 'दीप्तरसकाव्ययोनि:' विशेषण प्रयुक्त हुआ है ।

इसी प्रकार अन्य स्थलों की व्याख्या करते हुए अभिनव नाट्यशास्त्र में शान्तरस की उद्भावना भरत की मौन स्वीकृति समझ कर करते हैं । भरत द्वारा केवल शान्तरस पर ही लिखे गये उद्धरणों का उन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है[1] ।

शान्तरस के स्थायीभाव का नाट्यशास्त्र में उल्लेख न होने का कारण देते हुए अभिनव कहते हैं कि रति,हास आदि स्थायीभावों की अनुभूति पृथक्-पृथक् होती है, किन्तु शान्तरस तो लौकिक प्रतीति का विषय है ही नहीं । विशुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति लौकिक अनुभव के समय हो ही नहीं सकती । उस समय हमारी आत्मा का स्वरूप चित्तवृत्तियों के साहचर्य से कलुषित रूप में ही प्रतीत होगा । आत्मा के इस प्रकार के स्वरूप के कारण ही शान्तरस के स्थायीभाव की पृथक् गणना नहीं की गई है[2] । इसके अतिरिक्त तत्वज्ञान

१- Abhinava first argues for Santa not on the basis of Bharata's mention of it, but on the basis of his silence on the subject which Abhinava makes out as more eloquent.

--दि नंबर आफ रसाज़ २, पृ० १६ ।

२- न हि रत्यादय इवेतरासम्पृक्तवपुषो तथाविधनात्मस्वरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरम् । स्वगतमप्यविकल्परूपं व्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्यन्तरकलुषमेवावभाति ।

--अ०भा०,षष्ठोऽध्याय:,पृ० ६२५ ।

रत्यादि स्थायीभावों का आश्रयभूत है और इन सब की अपेक्षा अधिक काल तक स्थिर रह सकता है, अत: उसका स्थायित्व तो स्वयं सिद्ध है[१]।

अब तक के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र में शान्त रस का वर्णन अन्य रसों की भाँति शब्दत: नहीं मिलता है। नाट्यशास्त्र में आने वाली रस सम्बन्धी कारिका (जिसमें नव रसों की चर्चा है) की ओर ध्यान अभिनव ही आकर्षित करते हैं[२]। प्रक्षिप्त प्रकरण की भाषा-शैली भी अभिनव से ही साम्य रखती है।

उद्भट की नाट्यशास्त्र सम्बन्धी टीका के अप्राप्य होने के कारण यही कहा जा सकता है कि सम्भवत: उद्भट ने नाट्यशास्त्र में शान्तरस का उल्लेखमात्र किया होगा और उसके अंग-प्रत्यंग पर विशद् विवेचन करने वाले आचार्य अभिनव रहे होंगे।

नाट्यशास्त्र में शान्तरस का प्रकरण प्रक्षिप्त अवश्य है, परन्तु उससे सम्बद्ध लगभग सभी बातों का अपरोक्षरूप से वर्णन उसमें मिलता है। इन समस्त प्रसंगों का उल्लेख अभिनव अपनी टीका अभिनव भारती में करते हैं। इसके अलावा, भरत जैसे आचार्य 'शम' चित्तवृत्ति से अपरिचित रहे होंगे, यह भी नहीं माना जा सकता है। भरत नाटक में 'शम' का एक विशेष प्रयोजन मानते हैं। नाटक में प्रदर्शित धर्म को उन्होंने पर्याप्त महत्त्व दिया है। तत्त्वज्ञान जन्य निर्वेद, गुरुभक्ति, मोक्ष, विराग, मोक्षकाम, तपस्वी, विश्रान्तिजननकाल आदि का भी विशेष उल्लेख हुआ है जो कि शान्त से ही सम्बद्ध है। भावों की गणना करते हुए उन्होंने उन्चास भावों में निर्वेद को प्रथम स्थान दिया है। मानवीय चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि एक ही रस का आस्वादन मनुष्य अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार करता है।

१- तत्त्वज्ञानन्तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्य: स्थायितम सर्वा रत्यादिका: स्थायिन्चित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति।
--अ०भा०, षष्ठोऽध्याय:, पृ० ६२४।

२- शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति।
--आ०भा०, षष्ठोऽध्याय:, पृ० ४२६।

भरत ने स्वयं स्वीकार किया है कि कोई भी ऐसी विद्या, शिल्प, कला या ज्ञान नहीं है जिसका प्रदर्शन नाटक में न हो सके । अतः नाटक में भी शान्त की सत्ता का निराकरण नहीं माना जा सकता है ।

इस सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र की परम्परा में शान्तरस का स्थान यदि रहा भी हो तो अत्यन्त पार्श्विक महत्व का ही रहा होगा । यह अवश्य है कि शम चित्तवृत्ति का उपयोजन इस परम्परा में भी है । विषयासक्त अभिनेता को शान्त का तादात्म्य होना दुर्लभ है, कदाचित् इसलिए या कदाचित् इसलिए कि यह परम्परा अनुभूति के बाहर रसानुभूति को केवल इसी अंश तक मानती है कि उसका स्वरूप अन्य लौकिक अनुभूतियों से दुःख से असम्पृक्त होने के कारण पृथक् है, अन्यथा विषय-संकलन तो लौकिक अनुभूति की ही तरह रसानुभूति में भी है, शान्तरस की अनुभूति को अलग रखा गया है ।

(ख) शम स्थायी की प्राचीनता, विभिन्न आचार्यों द्वारा उसका स्वरूप-निरूपण--

केवल भरत ही नहीं अपितु भरत के कुछ पूर्ववर्ती आचार्यों में भी शान्तरस का उल्लेख बराबर मिलता आया है । कालक्रम के अनुसार आचार्यों के शान्तरस सम्बन्धी मतों का पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि उसकी सत्ता कितनी प्राचीन है ।

शान्तरस को रस के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम आचार्य वासुकि का नाम शारदातनय के `भावप्रकाश' से प्राप्त होता है । `भाव प्रकाश' में वासुकि की शान्तरस की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :--

रजस्तमोविहीनात्तु सत्त्वावस्थात् सचित्ततः ।
मनागस्पृष्टबाह्यार्थाद् शान्तो रसः स्मृतोरितः[१] ।।

पर वासुकि की काल सम्बन्धी स्थिति कुछ स्पष्ट नहीं है । `भाव प्रकाश' में लिखित एक वासुकि-सम्मत स्थल के नाट्य-शास्त्र में भी प्राप्त होने के कारण वासुकि का काल भरत के पहले का माना जाता है । परन्तु भरत न तो स्वयं ही वासुकि के शान्तरस सम्बन्धी प्रकरण के सम्बन्ध में कुछ

१- भाव प्रकाश, द्वितीयोऽधिकार, पृ० ४८ ।

67

कहते हैं और न ही भरत कोश में वासुकि का नाम मिलता है ।

'साहित्य रत्नाकर' के रचयिता धर्मसूरि ने शान्तरस को मानने वाले कोहल नामक एक अन्य व्यक्ति का उल्लेख किया है । शान्तरस के स्थायी के सम्बन्ध में वे कहते हैं :-

"कोहलस्तु उत्साहो वा निर्वेदो वाशमो वा अस्य स्थायीत्युवाच"[१]

कोहल की काल सम्बन्धी स्थिति कुछ स्पष्ट नहीं है । वी०टी० ताताचार्य ने अपने लेख 'शान्त, दि नाइन्थ रस' में 'प्राकृत सर्वस्व' के रचयिता मार्कण्डेय कवीन्द्र का उल्लेख करते हुए शाकल्य,भरत आदि आचार्यों के साथ ही कोहल का भी नाम लिया है[२] । इससे यह कहा जा सकता है कि कोहल ने भी किसी प्राकृत ग्रन्थ की रचना की होगी जो कि अब अप्राप्य है और वे वररुचि से पहले ही हुए होंगे । किन्तु परवर्ती आचार्यों ने धर्मसूरि के इस कथन का उल्लेख नहीं किया है । अत: इस सम्बन्ध में यह अनुमान कियाजा सकता है कि संभव है इस ग्रन्थ का (जिसमें शान्तरस का वर्णन है) रचयिता कोहल न होकर कोई अन्य व्यक्ति रहा हो किन्तु बाद में कोहल का नाम उस ग्रन्थ के साथ जोड़ दिया गया हो और धर्मसूरि ने अपने विचार इसी कोहल रचित ग्रन्थ (जो कि वास्तव में किसी दूसरे की रचना है) के आधार पर दिया हो[३] ।

इस प्रकार इन आचार्यों का काल-क्रम निश्चित करना यद्यपि कठिन है, फिर भी शान्तिरस की परम्परा अति प्राचीन है, यह नि:संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है ।

भरत के पश्चात् काव्यशास्त्रकारों में भामह (७००-७५०ई०) और दण्डी (६६०-६८० ई०) का नाम आता है । पर इन दोनों ही विद्वानों ने रस का विवेचन न करके रसवत् अलंकार को ही महत्त्व दिया है । उद्भट (नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के ग्रन्थ 'काव्यालंकार सार संग्रह' तथा उद्भट के

१- जर्नल आफ ओरियेंटल इन्स्टीट्यूट मद्रास, १९३१, जिल्द ५, पृ० २६ ।

२- "शाकल्य,भरत,कोहल,वररुचि,भामह,वसन्तराजाद्यै: प्रोक्तान् ग्रन्थान्....
मार्कण्डेयकवीन्द्र: प्राकृतसर्वस्वमारभते ।"
--जे०ओ०आर०,१९३१ जिल्द ५, पृ० २६ ।

३- दि नंबर आफ रसाज़ १, पृ० १२ ।

पहले भी 'अग्नि पुराण' और 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में शान्तरस का नामोल्लेखमात्र मिलता है । अग्निपुराण में रसों के सम्बन्ध में विचार करते हुए शान्त के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा गया है --

..........शृंगाराज्जायते हास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः ।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः । शृंगारहास्यकरुणा
रौद्रवीरभयानकाः ।। बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः ।[1]

यहां पर शान्तरस का उल्लेख कैसे हो गया है, यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि लेखक ने रसों की उत्पत्ति बताते समय शान्त के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा और स्थायी भावों की संख्या भी आठ ही मानी है[2]। जहां पर अभिनय आदि का निरूपण किया गया है, वहां आठ ही रसों की चर्चा है, अतः सम्भव है कि उन्हें काव्य में शान्त की सत्ता मान्य हो, पर नाटक में उसका निषेध ही अभीष्ट हो ।

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में महाकाव्य और नाटक के लक्षणों में उसे नव रसों से युक्त होना कहा गया है । शान्तरस को स्वतन्त्र रस की संज्ञा दी गयी है । इसके अलावा रसदृष्टि, ताराकर्म, पुटकर्म, वृत्तियां और लय आदि बताते समय सर्वत्र शान्त का उल्लेख हुआ है[3]। यह शान्तरस मोक्ष मार्ग का प्रवर्तक, सुख-दुःख, राग द्वेषादि से परे, सब प्राणियों में सम भाव वाला, वैराग्य से उत्पन्न एवं अभिनेय है । इसके देवता 'परपुरुष' बताए गए हैं[4]। शान्तरस को काव्य और नाटक दोनों में ही बताने वाला यह प्रथम प्राप्त ग्रन्थ है ।

इसके पश्चात् कालक्रम से रुद्रट (८२५-८५०ई०) का नाम आता है । आलंकारिक होने के कारण इन्होंने काव्य और नाटक में शान्तरस का

१- अग्निपुराण, पृ० ४२३ ।

२- स्थायिनोऽष्टौ रतिमुखाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिणः ।
--अग्निपुराण, पृ० ४२३ ।

३- हास्यशृंगारकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्या नव नाट्ये रसाः स्मृताः ।।
शान्तो रसः स्वतन्त्रोऽत्र पृथगेव व्यवस्थितः ।।
--वि०पु०,अध्याय १७, पृ०३१४ ।
दृष्टिकर्म--किंचिदुन्नमितपुटा शान्ता सा तु विधीयते । ३१६
ताराकर्म--ध्यानादनिमिषाशान्ता ह्यपांगमार्गविचारिणी इत्यादि ।वि०पु०अ०२५,पृ०।
४-शान्तस्य देवो विज्ञेयः परः पुरुष एव तु ।।८।।शान्तस्य समुत्पत्तिस्तु वैराग्यतः स्मृता ।स चाभिनेयो भवति लिंगग्रहणतस्तथा ।।६।।सत्त्वमुत्तदया ध्याननिमोक्षमार्गप्रवर्तनः । नास्ति यत्र सुखदुःखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।।१०।।समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो ।।

पृथक् विवेचन नहीं किया है, पर वे उसकी सत्ता अवश्य मानते हैं। उनके अनुसार सम्यग्ज्ञान शान्तरस का स्थायी विषयों के वास्तविक रूप का ज्ञान विभाव, जरा, मरण, त्रास आदि अनुभाव हैं। इसका नायक 'विगतेच्छ' होता है[1]।

रुद्रट के समय तक सम्भवत: शान्तरस पर विवाद प्रारम्भ हो गया था। उनके 'काव्यालंकार' से इसका ज्ञान होता है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है --

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः[2]॥

काव्यालंकार पर टीका (१०६६ ई०) लिखने वाले आचार्य नेमिसाधु ने भी इस विवाद की ओर संकेत किया है :--

केश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम्।
यदुतनास्ति सा कापि चित्तवृत्तीर्या परिपोषं गता न रसीभवति।
भरतेन सहृदयावर्जकत्व प्राचुर्यात्संज्ञा चाश्रित्याष्टौ नव वा रसा उक्ता इति[3]।

रुद्रट के पश्चात् आचार्य आनन्दवर्धन (८६०-८९० ई०) ने काव्य में शान्तरस की सत्ता का प्रबल समर्थन किया है। उन्होंने 'तृष्णाक्षयसुख' को शान्तरस का स्थायी बताया है। संसार में कामजन्य सुख और अन्य अलौकिक सुख-- सभी 'तृष्णाक्षयसुख' के समक्ष हेय हैं। यह शान्तरस सर्वसाधारण मनुष्यों के अनुभव का विषय नहीं, अपितु असाधारण महापुरुषों की चित्तवृत्ति विशेष है[4]।

१-सम्यग्ज्ञानप्रकृति: शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात्॥ १५॥
जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये।
सुखदु:खयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते॥ १६॥
-- काव्यालंकार, अध्याय १५, पृ० १६६।

२-काव्यालंकार, अध्याय १५, पृ० १५०।

३-वही०, पृ० १५१।

४- शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य य: परिपोषस्तल्लक्षणो रस: प्रतीयत एव।
तथा चोक्तम् -- यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम्॥
-- ध्वन्यालोक, तृतीयोद्योत, पृ० ३९०।

आचार्य अभिनव (९५० ई० के लगभग) ने शान्तरस को नाटक और काव्य दोनों में ही स्थापित करकर उसके अंग-प्रत्यंग का वैज्ञानिक एवं तर्कसम्मत ढंग से विश्लेषण किया है। उनके अनुसार शान्तरस का स्थायीभाव आत्मज्ञान है। विभाव वैराग्य और संसार से पलायन आदि, अनुभाव मोक्ष शास्त्र का विचार आदि तथा व्यभिचारीभाव निर्वेद, स्मृति, धृति आदि हैं। जैसे माला में पिरोई मणियों के बीच में से चमकता हुआ उज्ज्वल सूत्र कभी कभी थोड़ा देर के लिए दिखाई पड़ जाता है उसी प्रकार रत्यादि से आच्छादित आत्मा का स्वरूप भासित होकर समस्त दुःखों से रहित एवं आनन्द से युक्त काव्य और नाटक द्वारा प्रतीत होता हुआ लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त कराता है तथा सामाजिक को आनन्दमय कर देता है[१]।

अभिनव शान्तरस को समस्त रसों की प्रकृति मानते हैं। शृंगार आदि समस्त रसों का प्रादुर्भाव तो शान्त से होता ही है, पर्यवसान भी शान्त में ही होता है। जैसे सम्भोग शृंगार की चरमावस्था में समस्त काम व्यापारों की उपरति हो जाती है, उसी प्रकार अन्य रसों की चरमावस्था में उनसे सम्बद्ध विषयों की उपरति हो जाती है। इस दृष्टि से सभी रसों का आस्वादन शान्त रूप में ही होता है और इसी से उसे 'प्रकृति' कहा गया है। शान्तरस के आस्वादन और शान्तरूप में परिणत होने वाले ८ अन्य रसों के आस्वादन में अन्तर यही है कि शान्तरस में तो शुद्ध शान्त का आनन्द मिलता है, किन्तु दूसरे रसों के अन्य भावों का प्राधान्य होने के कारण उन्हीं के अन्तराल में शान्तरस का आस्वादन होता है[२]।

१- उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भित-रत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवदाभातस्वरूपं, सकलेषु रत्यादिषु परंजकेषु तथा भावनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं परोन्मुखतात्मक-सकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभ संविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारण-तया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविधहृदयं विधत्ते।
-- अ०भा०, षष्ठोऽध्यायः, पृ० ६४० ।

२- तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्योविपरिवृत्त्या तन्मुख्यतया लाभात्। केवलं वासनान्तरोपहित इति। अस्य सर्वप्रकृतित्वमभिधाय पूर्व-मभिधानम्।
-- अ०भा०, षष्ठोऽध्यायः, पृ० ६३५ ।

शान्तरस का फल मोक्ष है और इसके द्वारा आत्मस्वरूप का आस्वादन होता है[१]। इसके देवता बुद्ध हैं[२]।

चन्द्रिकाकार (९००-९५० ई०) शान्त को रस मानते हुए भी प्रधान रस के रूप में उसका चित्रण असम्भव मानते हैं। उनका कहना है कि शान्तरस सर्वदा अंगरस के रूप में ही नाटक में आ सकता है पर काव्य में उसका पुरस्थापन हो सकता है[३]।

भट्टनायक (९३५-९८५ ई०) की रचना `हृदयदर्पण` यद्यपि अप्राप्य है किन्तु अभिनव भारती से ज्ञात होता है कि उन्होंने शान्तरस को स्वीकार किया है[४]।

क्षेमेन्द्र (९९०-१०६६ ई०) भी शान्तरस के समर्थकों में से हैं।

आगे चलकर धनन्जय (९७४-९९६ ई०) ने शान्तरस की अभिव्यंजना के लिए नई विधि बताई। उनका कहना है कि शान्तरस में सुख-दुःख, राग-द्वेष एवं समस्त क्रिया-कलापों का लोप हो जाता है, अतः वह अभिनेय तो निश्चितरूप से नहीं है। काव्य में भी शान्तरस का अभिधया वर्णन नहीं हो सकता है, क्योंकि शान्तरस की अवस्था केवल मोक्ष में ही प्राप्त होती है और मोक्षावस्था अनिर्वचनीय है। काव्य में लक्षणया शान्तरस का वर्णन हो सकता है। मुदिता करुणा, मैत्री, उपेक्षा -- ये चित्त की चार वृत्तियां शान्तरस के `उपाय` हैं। इन वृत्तियों की चार भूमियां-- विकास, विस्तर, क्षोभ और विक्षेप हैं। इन भूमियों का कारण शान्तरस है।

१- ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीत--निवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम् ।।१५।। अ०भा० षष्ठोऽध्यायः, पृ०४३२

२- अ०भा० षष्ठोऽध्यायः, पृ०५३१

३- आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः। --ध्वन्यालोक(लोचन), पृ० ३९४।

४- `शान्तरसो ऽप्यं भविष्यति स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः इति। तदनेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तं` इति व्याख्यानं हृदयदर्पणे पर्यगृहीत । --अ०भा०, प्रथमोऽध्यायः, पृ० ३५।

अत: काव्य में इनके द्वारा शान्तरस का वर्णन किया जा सकता है[१]।

सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोज (१००५-१०५४ ई०) ने शान्तरस की सत्ता मानते हुए 'धृति' को उसका स्थायीभाव बताया है। इस रस का नायक धीर प्रशान्त होता है[२]।

मम्मट ने नाटक में तो आठ ही रस मानते हैं[३]। परन्तु काव्य में शान्त की सत्ता को भी स्वीकार किया है। यह शान्त तत्वज्ञानजन्य निर्वेद द्वारा रसता को प्राप्त होता है[४]। इन्होंने शान्तरस से सम्बन्धित उदाहरण मात्र दिये हैं जिनसे उसका प्रकर्ष द्योतित होता है।

शारदातनय (११७५-१२५० ई०) ने शान्तरस की सत्ता मानी तो अवश्य है, लेकिन इनका विवेचन अधिक स्पष्ट नहीं है। इनके अनुसार शान्तरस केवल सत्तामात्र ~~लोक-~~रूप से है। शान्त की सत्ता काव्य में है या नाटक में (क्योंकि रस का सम्बन्ध लोक से तो है ही नहीं) इसका विवेचन नहीं किया गया है। शान्तरस के सर्वश्रेष्ठ रस मानते हुए भी उसे विकलांग कहा है --यही उनकी नवीनता है। शान्त की आत्मा 'शम' होने के कारण उसके अनुभाव सम्भव नहीं हो पाते, अत: वह विकलांग है[५]।

१-..... न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदया: स्वादयितार: सन्ति अथापि तदुपायभूतो मुदिता मैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तार-क्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपित: ।
--दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, पृ०२५१ ।

२-अत्र कस्यचिदुपशान्तप्रकृतेर्धीरप्रशान्तनायकस्य यथोपनतमनोऽनुकूलदारादिसम्पत्ति-रालम्बनविभावभूताया: समुत्पन्नो धृतिस्थायिभावो वस्तुतत्त्वालोचनादि-भिरुद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमान: समुपजायमान स्मृतिसत्यादिभिर्व्यभिचारिभावै० वागारम्भादिभिरनुभावैर्व्यज्यमानो निष्पन्न: शान्त इति गीयते ।अन्ये पुनरेष शमं प्रकृतिमामनन्ति । तद् धृतिरेव विशेषो भवति ।
--सरस्वती कण्ठाभरण, पंचम परिच्छेद, पृ०२६५।

३-काव्य प्रकाश, सूत्र ४४, पृ० ९८ ।

४-निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस: ।
-- का०प्र०, सूत्र ४७, पृ० ११७ ।

५-निर्वेदादेरनुदयादनुभावो न दृश्यते ।
अतो हर्षाद्यनुभावराहित्याद्विकलांगता ।।
--भाव प्रकाश, षष्ठोऽधिकार:, पृ०१३६

नाटक और काव्य दोनों में ही शान्त की स्थिति को समझाते हुए हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने 'शम' को शान्त का स्थायी माना है। उनके अनुसार वैराग्य आदि विभावों से विभावित, यम आदि अनुभावों से अनुभावित एवं धृति आदि व्यभिचारियों से पुष्ट हुआ शम ही शान्तरस है[1]। अन्य समस्त रस त्रिपुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम) पर आधारित हैं, किन्तु शान्त निवृत्ति-धर्मात्मक है और मोक्ष उसका फल है[2]।

विद्याधर (१२८५-१३२५ ई०) भी शान्त को त्रिवर्गात्मक प्रवृत्ति के विपरीत मोक्षरूप फल को देने वाला कहते हैं[3]। इन्होंने 'निर्वेद' को शान्त का स्थायी माना है। धनञ्जय की भाँति ये भी चित्त की चार वृत्तियाँ--विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप मानते हैं। अतः शान्तरस की सत्ता भरत की मान्यता के आधार पर स्वीकार करते हैं[4]।

विद्यानाथ (१४वीं शताब्दी ईसवी का आरम्भ) ने भी प्राचीन परिपाटी के अनुसार 'शम' को शान्त का स्थायी माना है और 'शम' का अर्थ वैराग्यादि के कारण निर्विकार चित्त का होना लिया है[5]।

आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ (१३००-१३८४ई०) अपने मत में किंचित नवीनता ला लाते हुए कहते हैं कि शान्तरस में जो सुख-दुख, राग-द्वेष

१- वैराग्यादि विभावो यमाद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारी शमः शान्तः ।।
--काव्यानुशासन, सूत्र १७, पृ० १२० ।

२-ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः ।
-- काव्यानुशासन, पृ० १०६ ।

३-ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मकोऽपवर्गफलः शान्तः ।
--एकावली, पृ० ६६ ।

४-एकावली, पृ० ६६-६७ ।

५-शमो वैराग्यादिना निर्विकारचित्तत्वम् ।
--प्रतापरुद्रयशोभूषण, रस प्रकरण,
पृ० २३६ ।

आदि का अभाव कहा गया है, उसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि शान्तिरस केवल मोक्षदशा में ही आस्वाद्य हो सकेगा। इस अभाव का इतना ही अर्थ है कि शान्त में विषयजन्य सुख नहीं होता। 'युक्त-वियुक्त' दशा में अवस्थित 'शम' ही शान्तरस में परिणत होता है[1]। इस सम्बन्ध में आगे विवेचन किया जायगा। इनके अनुसार शान्त का स्थायी 'शम' है, आश्रय उत्तम पात्र, वर्ण चन्द्रमा, तथा कुन्दपुष्प के सदृश है, देवता भगवान लक्ष्मीनारायण हैं। इसके अतिरिक्त विभावादि का वर्णन इन्होंने पूर्वाचार्यों की भाँति ही किया है[2]।

भानुदत्त (१४५०-१५०० ई०) नाट्यभिन्न स्थलों में 'निर्वेद' स्थायीभाव वाले शान्तरस को सत्ता मानते हैं[3]। शान्तरस दोष (काम, क्रोध आदि) का प्रशमन रूप है। इन्होंने चित्तवृत्ति के दो भेद-- प्रवृत्ति और निवृत्ति मानकर शान्तरस की विरोधिता से 'मायारस' की सत्ता सिद्ध की है। इनका कहना है कि यदि मायारस नहीं माना जायगा तो शान्तरस न होकर रसाभास हो जायगा, क्योंकि निवृत्ति में रसानुभूति होती है और प्रवृत्ति में नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता है[4]। लेखक ने शान्त रस का विवेचन गौणरूप से किया है। वे शान्ति की अपेक्षा मायारस की सत्ता सिद्ध करने में अधिक प्रयत्नशील हैं--इसी से इनका विवेचन अधिक स्पष्ट नहीं है।

१- युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा ।।२५०।।
यश्चास्मिन्सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः।
--साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १२२।

२- साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १२१, श्लोक २४५-२४८।

३- नाट्यभिन्ने परं निर्वेदस्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसो भवति।
--रसतरंगिणी, सप्तम तरंग, पृ० १६३।

४- चित्तवृत्तिर्द्विधा-- प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेतिवक्तुमशक्यत्वात्।
--रसतरंगिणी, षष्ठ तरंग, पृ० १६१।

रूपगोस्वामी (१४७०-१५५४ ई०) शान्त को भक्ति के पांच भेदों के अन्तर्गत ही एक भेद मानते हैं। इन्होंने भक्ति के अन्य चार भेदों को शान्त की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। इसका स्थायी 'शान्तरति' है। शान्त के इन्होंने दो भेद किए हैं -- (१) आत्माराम (२) तापस। शम की निर्विकारता के कारण शान्त का नाटक में निषेध किया जाता है, परन्तु भक्तिरस के भेद शान्ति के रति-युक्त होने के कारण यह कठिनाई दूर हो जाती है।

अलंकार शेखर के रचयिता केशवमिश्र (१६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) और अप्पयदीक्षित को (१५५४-१६२६ ई०) भी शान्तरस मान्य है।

श्री निःशंकशार्ङ्गदेव तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शान्त का स्थायी मानते हुए विषयों से विमुख होकर आत्मानन्द में स्थित होने को शान्तरस कहते हैं[1]।

रामचन्द्र और गुणचन्द्र(११५०-११७५ई०) शान्तरस के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का उल्लेख करके,उनके द्वारा शान्त की अभिव्यक्ति बताते हैं[2]। अल्लराज(१२५०-१३५०ई०के बीच) के अनुसार शान्तरस में ऐसा सुख प्राप्त होता है जैसे कारागृह से छूटे हुए व्यक्ति को होता है। शान्तरस में शरीर कदम्ब मुकुल के समान पुलकित दिखाई पड़ता है। प्रतिक्षण आनन्दाश्रु से व्याप्त दृष्टि और हर्ष से गद्गद वचन निकलते हैं[3]।

काव्यशास्त्र पर विशद विवेचन करने वाले अन्तिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ (१६२०-१६६५ ई०) का नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। इन्होंने 'निर्वेद' (नित्यानित्य वस्तुओं के विचार से उत्पन्न) को शान्त का स्थायी माना है[4]। शान्तरस के स्थायीभाव निर्वेद का वर्णन य यदि ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डाल आदि आश्रय में होगा तो वहां शान्तरस न होकर रसाभास ही जायगा[5]। पण्डितराज के शान्तरस सम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन आगे

१- संगीत रत्नाकर, पृ० ८३८ ।

२- नाट्य दर्पण, तृतीय विवेक, पृ० १७० ।

३- रसरत्नप्रदीपिका, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ४३ ।

४- नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः ।
गृह कलहव्यादिस्तु व्यभिचारी ।
--रसगंगाधर, पृ० १३२ ।

५- रसगंगाधर, पृ० ३४४ ।

पि तारपूर्वक किया जायगा । डा० राघवन ने रुद्रभट्ट के अप्रकाशित ग्रन्थ 'रसकलिका' का उल्लेख किया है । रुद्रभट्ट ने वीर के भेदों के सदृश शान्त को भी वैराग्य,दोषनिग्रह,सन्तोष तथा तत्त्व-साक्षात्कार नामक चार भेद किए हैं[2] । परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है । वैराग्य आदि चारों ही शान्त अवस्था तक पहुंचने के साधन मात्र ही रह सकते हैं, उन्हें शान्त का भेद नहीं माना जा सकता है ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शान्तरस की सत्ता अति प्राचीन है । काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रारम्भ के साथ ही बराबर शान्त रस का उल्लेख होता आया है । भरत से लेकर पण्डितराज तक कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसने शान्त के महत्त्व को स्वीकार न किया हो । अतः भरत के पश्चात् तथा उद्भट के पूर्व लगभग ४०० ई० में शान्त को रस के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था । आगे चलकर अभिनव ने शास्त्रीय और मौलिक ढंग से शान्त का विवेचन किया । परवर्ती समस्त आचार्यों ने उनके मत के ही आधार पर अपने मत में किंचित् नवीनता लाते हुए शान्तरस का वर्णन किया । शान्तरस का नाटक अथवा काव्य में क्या स्थान है-- इस विषय को लेकर आचार्यों में मतभेद अवश्य है, किन्तु शान्त की रस के रूप में स्थिति है-- इस विषय में सभी आचार्य (केवल श्रीशिंगभूपाल को छोड़कर) सहमत हैं । कुछ आचार्य नाटक और काव्य दोनों में ही शान्तरस मानते हैं और कुछ केवल काव्य में ही । किन्तु उसे किसी न-किसी रूप में वे स्वीकार अवश्य करते हैं ।

१- अथ शान्तः -- विषयेभ्यो विरक्तस्य तत्त्वज्ञस्य विवेकिनः ।
रागादिनिर्विकारत्वं शान्तिरित्यभिधीयते ।।
सा चतुर्विधा -- वैराग्य,दोषनिग्रहः, तत्त्वसाक्षात्कारिता चेति ।
विषयेभ्यो निर्वृत्तिर्वैराग्यम् । रागाद्यभावो दोषनिग्रहः.... । तृष्णोन्मूलनं सन्तोषः.. तत्त्वसाक्षात्कारः ।
--नम्बर आफ रसाज़ , पृ० ५४ पर उद्धृत ।

(ग) शम स्थायी के विरोधी आचार्यों के मतों का परीक्षण तथा तत्सम्बन्धी निर्णय :-

शान्त रस की दृष्टि से काव्यशास्त्र के आचार्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम तो वे आचार्य हैं, जो शान्त रस की सत्ता का पूर्णरूपेण निराकरण करते हैं और रस के रूप में उसकी स्थापना को असम्भव बतलाते हैं । द्वितीय प्रकार के आचार्य वे हैं जो शान्त रस की सत्ता का केवल नाटक में निराकरण करते हैं, पर काव्य में उसकी स्थिति स्वीकार करते हैं । तृतीय प्रकार के आचार्य काव्य और नाटक दोनों में ही शान्तरस को प्रतिष्ठित करते हैं । इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रकारों का एक ऐसा वर्ग भी है जो शान्तरस की सत्ता तो अवश्य मानता है, किन्तु काव्य या नाटक में उसकी संभावना का पृथक विवेचन नहीं करता है ।

शान्तरस का विरोध करने वाले आचार्यों के तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं :-

१- भरत को यह मान्य नहीं है ।

२- राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति असम्भव है,जो कि शान्तरस की सत्ता के लिए आवश्यक है ।

३- अन्तर्भाववाद अन्य रसों में शान्त का अन्तर्भाव हो जाता है ।

४- शान्त की चरमावस्था अवर्णनीय है ।

५- शान्तरस की सामग्री (विभावादि) सुलभ नहीं है ।

६- चतुर्थ पुरुषार्थ का अभाव है ।

७- शान्तरस अनभिनेय है, अत: नाट्य में उसका प्रयोग असम्भव है ।

८- चेष्टाशून्य पुरुष तत्त्वज्ञान के उपाय नहीं करेगा ।

९- शम और शान्त समानार्थक है, अत: दोनों में भेद उचित नहीं है ।

प्रथम आक्षेप के सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि केवल मात्र भरत की मान्यता का आधार लेकर किसी भी मत का समर्थन अथवा विरोध नहीं किया जा सकता है । यदि हम रसशास्त्र का ही पर्यवेक्षण करें तो देखेंगे कि रस संख्या चार से आठ और आठ से तेरह तक बढ़ गयी है । भानुदत्त जैसे आचार्यों ने `मायारस' तक की सत्ता नि:संकोच सिद्ध कर दी है । फिर केवल

शान्तरस के सम्बन्ध में ही `प्रसिद्ध -- प्रधान` की बात क्यों उठाई जाय ? मुख्य बात तो यह है कि यदि शान्तरस आस्वादनीय है तो उसे `रस` मानना ही पड़ेगा । इसके अतिरिक्त भरत का नाट्यशास्त्र नाट्यकला की दृष्टि से लिखा गया ग्रन्थ है । अत: उसके लक्षणों को नाटक और काव्य दोनों पर घटित करना ठीक नहीं है ।

दूसरी बात जो कि शान्त को रस-कोटि तक पहुंचाने में बाधा-स्वरूप है, वह है शान्त की सत्ता के लिए राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति । रागद्वेषात्मक चित्तवृत्ति अनादि काल से मनुष्य के पीछे लगी रहती है, अत: उससे पूर्णरूप से छुटकारा पा लेना अत्यधिक कठिन कार्य है । सुख-दुख से उदासीन रहना संसारी जीव के लिए असम्भव है । यह तो योगियों के ही बस की बात है । अत: काव्य और नाटक की बात तो दूर रही, व्यावहारिक क्षेत्र में भी शान्त की सत्ता नहीं मानी जा सकती । शान्तरस का स्वरूप `न यत्र दु:खं न सुखं न चिन्ता` .... आदि से भी इस कथन की पुष्टि होती है कि शान्त का आस्वादन केवल मोक्षावस्था में ही हो सकता है मुक्ति दशा में आस्वाद्य शान्तरस की सामग्री विभाव-अनुभाव- आदि का होना भी सम्भव न हो सकेगा । तप और स्वाध्याय आदि जिनको शान्त या शम के प्रति कारणरूप माना जाता है, वे वास्तव में उसके कारण नहीं हैं । तप-अध्ययन आदि की विभावता तत्व ज्ञान के प्रति है, शम के प्रति नहीं । `शम` का कारण `तत्वज्ञान` है । अत: तप आदि को शान्त का विभाव नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार कामादि के अभाव को भी शान्त का अनुभाव नहीं कहा जा सकेगा । क्योंकि ऐसा मान लेने पर अनुक अनुमान प्रक्रिया में अन्वय--व्यतिरेक का सिद्धान्त घटित न होगा[१] । अर्थात् शान्त के होने पर कामादि का अभाव हो-- यह अन्वय तो बन जाता है, किन्तु शान्त रस के न होने पर कामादि भी अविद्यमान रहें यह व्यतिरेक नहीं बनता है ।

१- तत्वज्ञानस्यानन्तरहेतव: इति चेत्,पूर्वोदिततत्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीनां शमविभावता त्यक्ता स्यात् । कामाद्यभावो पिनानुभाव: शान्त विपदादव्यावृते: अगमकत्वात् ।

--अ०भा० षष्ठोऽध्याय:,पृ० ६११

इस प्रकार अनुमापक के न होने से कामादि का अभाव शान्त का अनुभाव नहीं हो सकता है । फिर विभाव,अनुभाव और संचारी आदि के अभाव में शान्तरस की निष्पत्ति कैसे हो सकेगी ? मुक्ति दशा में तो व्यक्ति परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाता है जिसके कारण उसकी चरमावस्था भी अवर्णनीय ही रहेगी ।

उपर्युक्त शंका का समाधान आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में किया है । उनका कहना है कि `युक्त-वियुक्त` दशा में स्थित `शम` स्थायी ही शान्तरस में परिणत होता है मोक्षदशा का शम नहीं । अतः शम में संचारी आदि की स्थिति विरुद्ध नहीं है । जब पुरुष विषयों से अनासक्त होकर किसी ध्यान में एकाग्र हो जाता है तो उस योगी को `युक्त` कहते हैं । जिस योगी को योगबल से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हैं और जिसके अन्तःकरण में समस्त वस्तुओं का ज्ञान समाधि भावना करते ही भासित होने लगता है उसे `वियुक्त` कहते हैं । समस्त अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी-युक्त-वियुक्त कहलाते हैं[1] । इन योगियों को इस जीवन में ही पूर्ण शान्ति की प्राप्ति हो जाती है । यह अवश्य सत्य है कि इस प्रकार के महापुरुषों की संख्या कम है , पर है अवश्य । मोक्षप्राप्ति तो गृहस्थों को भी हो सकती है । अन्तर केवल यही है कि सन्यासियों को तत्त्वज्ञानोपरान्त सकाम कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती, वे सदैव के लिए मुक्त हो जाते हैं । पर गृहस्थ परोपकारादि की भावना से सकाम कर्म करते हैं जिसके कारण उन्हें कुछ समय तक मोक्ष जैसा सुख मिलता है । किन्तु सकाम कर्म के कारण उन्हें दुबारा देह धारण करनी पड़ती है । शान्तरस की चरमावस्था को अवर्णनीय कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पर्यन्तावस्था में तो सभी रस अनिर्वाच्य हो जाते हैं ।

कुछ आचार्य शान्तरस का अन्तर्भाव अन्य रसों में करने का आग्रह करते हैं । अन्तर्भाववादियों की इस इच्छा से इतना तो स्पष्ट है ही कि वे

१- युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः ।
रसतामेति तदस्मिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा: ।।२५०
-- साहित्य दर्पण,तृतीय परिच्छेद,पृ० १२२ ।

शान्तपरक चित्तवृत्ति की स्थिति मानते हैं, क्योंकि चित्तवृत्ति की सत्ता न मानने पर अन्तर्भाव का प्रश्न ही न उठेगा । मतभेद उनका इस बात पर है कि उस चित्तवृत्ति का पृथक् रूपेण आस्वादन नहीं किया जा सकता है और न ही उसका स्थायीभाव अलग से माना जा सकता है । वह अन्य रसों में अंतर्भावित है । उदाहरणार्थ संसार के प्रति घृणा और जुगुप्सा बीभत्स के अन्तर्गत आ जाते हैं । ब्रह्म के प्रति उन्मुखता वीर के स्थायीभाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाती है । इस प्रकार शान्त के प्रत्येक तत्त्व का अन्तर्भाव किसी न किसी रस में हो जाता है । पर किसी एक तत्त्व को अन्तर्भावित होने से उस रस की सत्तामात्र का निराकरण नहीं किया जा सकता है । फिर शान्त में यह जुगुप्सा व्यभिचारी रूप ही रहती है, स्थायीरूप नहीं । जुगुप्सा से उस आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती जिसकी शान्त से होती है । शान्त पुरुष संसार के बीभत्स स्वरूप से परिचित रहता है । संसार के बीभत्स रूप को समझकर ही वह उससे विरक्त होता है अत: हम यदि अन्तर्भाव करना ही चाहें तो शान्त में भी बीभत्स का कर सकते हैं, क्योंकि बीभत्स शान्त का एक अंग मात्र है, शान्त बीभत्स का अंग नहीं है । शान्त का क्षेत्र भी बीभत्स की अपेक्षा व्यापक है । इस दृष्टि से अद्भुत भयानक आदि का अन्तर्भाव भी शान्त में हो जायगा । वीर रस में तो शान्त का अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता, क्योंकि वीरता अभिमान प्रधान होती है, उसमें अपनी देह पर गर्व रहता है । शत्रु को पराजित करने और उसे नीचा दिखाने की प्रबल इच्छा रहती है । वीरता में अभिलाषा का प्राधान्य रहता है । इसके विपरीत शान्त में निरीह भाव रहता है[१] । वह सुख, दुख, राग-द्वेष आदि से परे है, उसमें न तो स्वयं जीतने

१- न चास्य विषयजुगुप्सारूपत्वाद् बीभत्सेऽन्तर्भावो युक्त: । जुगुप्सा ह्यस्य व्यभिचारिणी भवति न तु स्थायितामेति । पर्यन्तनिर्वाहे तस्या मूलत स्वोच्छेदात् । न च धर्मवीर । तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थानात् । अस्य अहंकारप्रशमैकरूपत्वात् । तथापि तयोरैकत्व परिकल्पने वीररौद्रयोरपि तथा प्रसंग: । धर्मवीरादीनां चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहंकाररहितत्वेशान्तरस प्रभेदत्वम् इतरथा तु वीररस प्रभेदत्वमिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद्विरोध: । तदेवं परस्पर विविक्ता नवापि रसा: ।

--काव्यानुशासन, पृ० १२३-१२४ ।

की इच्छा रहती है और न दूसरे को पराजित करने की प्रवृत्ति होती । अतः यदि धर्मवीर,दानवीर और देवताविषयक रति सब प्रकार से अहंकार-शून्य हो जायं तो शान्त में अन्तर्मुक्त हो सकते हैं । पारस्परिक विरोध के रहते हुए भी यदि शान्त और वीर को एक माननेका प्रयास किया जायगा तो वीर और रौद्र को भी एक मानना पड़ेगा । क्योंकि वीर और रौद्र दोनों ही धर्मार्थ और कामार्जन में उपयोगी हैं , दोनों का लक्ष्य एक है । शृंगार के प्रवृत्तिमूलक एवं आसक्तिप्रधान तथा शान्त के निवृत्तिमूलक एवं विरक्ति-प्रधान होने के कारण शृंगार में भी शान्त का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । दोनों ही एक-दूसरे के विरोधी हैं । अतः यदि शान्त का अन्तर्भावअन्य रसों में किया जायगा तो सर्वत्र एक ही रस होने का प्रसंग उठेगा और समस्त रसों की सत्ता सन्दिग्ध हो जायगी ।

कुछ आचार्य संख्या का आधार लेकर शान्तरस का निराकरण करते हैं । उनके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि शान्त के प्रशंसकों की संख्या अत्यल्प भले ही हो पर है अवश्य । इसके अलावा केवल संख्या के कारण किसी मत का निराकरण नहीं किया जा सकता है । यदि कतिपय लोगों की रुचि का आधार लेकर ही किसी चित्तवृत्ति की रसता सिद्ध की जायगी तब तो अन्य रसों की स्थिति भी संदेहास्पद हो जायगी[१] क्योंकि शृंगार,बीभत्स,भयानक आदि रसों का आस्वादक समस्त संसार न होकर एक वर्ग होता है । राग-द्वेष आदि से कलुषित अन्तःकरण वाले सामान्यजनों के लिए शान्तरस अचर्वणीय और अश्लाघ्य है किन्तु वीतरागियों में तो यह सम्भव है । संख्या के आधार पर केवल इतना कहा जा सकता है कि अन्य रसों का आस्वादक वर्ग शान्त के आस्वादकों की अपेक्षा बड़ा है । जो भी हो, यह निश्चित है कि शान्त की स्थापना सिद्धान्तरूप में अवश्य ही माननी पड़ेगी, भले ही उसका ग्राहक पक्ष

१- यदि कतिपयश्लाघ्यत्वमात्रेण रसत्वात् प्रच्यवेत् तर्हि वीतरागाणामश्लाघ्य इति शृंगारोमपि प्रच्यवताम् ।

—प्रतापरुद्रयशोभूषण रस प्रकरण,पृ० २३७ ।

अन्य रसों की अपेक्षा कम हो ।

इसके उपरान्त शान्तरस का एक ऐसा विरोधी वर्ग आता है जो काव्य में तो शान्तरस की अवतारणा करता है,किन्तु नाटक में उसका विरोध करता है । इस मत के समर्थक आचार्यों के अन्तर्गत धनञ्जय,भानुदत्त,विद्याधर, शारदातनय तथा चन्द्रिकाकार के नाम उल्लेखनीय हैं । इन आचार्यों का यह कहनाहै कि शान्त के निर्विकार होने के कारण वह अभिनय के सर्वथा अनुपयुक्त है । नाटक का प्राण अभिनय है पर शान्तरस में समस्त क्रियाओं का लोप हो जाता है अत: उसका अभिनय कैसे सम्भव हो सकेगा ? दूसरी बात यह है कि सुख,दु:ख,चिन्ता,राग-द्वेष आदि से परे शान्तरस की स्थिति का चित्रण करना भी नाटक में असम्भव है । नाटक मनोरंजन के लिए होता है, पर शान्त की वैराग्ययुक्त दशा का आस्वादन सांसारिक मनुष्य कर ही न सकेगा । इसलिए चन्द्रिकाकार कहते हैं कि काव्य में तो शान्त आधिकारिक रस के रूप में आ सकता है,किन्तु नाटक में वह प्रासंगिक ही रहेगा, केवल सहायक तत्व के रूप में ही आ सकेगा । धनञ्जय भी नाटक में तो शान्तरस नहीं मानते,काव्य के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि उसमें लक्षणया शान्तरस का चित्रण हो सकता है । मुदिता,करुणा,मैत्री,उपेक्षा-- इन चार चित्तवृत्तियों की चार भूमियां — विकास,विस्तर,क्षोभ और विक्षेप हैं । इन भूमियों का कारण शान्तरस है , अत: इनके माध्यम से शान्तरस का वर्णन हो सकता है[1] । शान्तरस की अवस्था केवल मोक्ष में प्राप्त होती है और मोक्षावस्था अनिर्वचनीय है ही , अत: शान्तरस का वर्णन अभिधया नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त सूक्ष्म,अतीत आदि वस्तुएं शब्द द्वारा प्रतीति योग्य होने से काव्य के विषय हो सकती हैं-

---

१- "......................यथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपित: ।

—दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश,पृ० २५१ ।

अतः काव्य में तो शान्तरस हो सकता है, पर नाटक में नहीं।[१]

काव्य में शान्तरस के समर्थन का और नाटक में उसके विरोध का यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं लगता। यदि काव्य में शान्तरस का आस्वादन अलक्षणया पाठक कर सकता है तो फिर नाटक में ही क्यों न कर पायगा? वैराग्ययुक्त दशा का आस्वादन जिस प्रकार सहृदय पाठक करेगा, उसी प्रकार सहृदय दर्शक भी तो कर सकता है। सामाजिकों में शान्तरस का उदय नाटक देखने के फलस्वरूप अवश्य होगा, क्योंकि नट में तो शान्त की सम्भावना और असम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता है। रसाभिव्यक्ति नट में नहीं अपितु, सामाजिक में होती है। अतः सामाजिक यदि शान्तयुक्त होंगे तो उनमें रसबोध अवश्यमेव होगा। नट में रसाभिव्यक्ति मानने पर वीर, रौद्र आदि का अभिनय भी असम्भव हो जायगा। नट जैसे शान्त विहीन है वैसे ही क्रोध, भय आदि से भी रहित है। यदि उसे शान्तयुक्त कहा जायगा तो उसे क्रोध, भय आदि से युक्त भी मानना पड़ेगा। फिर क्रोध के वशीभूत होने पर या भय से आक्रान्त होने पर क्या उसका अभिनय नट कर पायेगा, अवश्य ही वह ऐसा करने में असमर्थ होगा। अभिनेता की दृष्टि से नाटक में शान्तरस की सत्ता मानने में कोई आपत्ति होनी ही नहीं चाहिए। नट तो पानकादि रसों के आश्रयभूत पात्र के समान हैं। जैसे पात्र को उसी में स्थित पेय का आस्वादन नहीं होता, वह केवल पेय का आधारस्वरूप ही रहता है, वैसे ही नट भी रस का आस्वादन नहीं करता, अपितु रस का आधार मात्र रहता है।[२]

१- शान्तरसस्य चानभिनेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वाद् काव्यविषयत्वं न निवार्यते। —दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, पृ० २५१।

२- अतः कारणान्नटो रसं किंचिदपि न स्वदते। नटस्य स्वकार्याभिनयविहितत्वेनाल्पोऽपि रसस्याऽऽस्वादस्तस्य नास्तीत्यर्थः। तेषां कार्यानुसन्धानाभावात्ते तु कृत्स्नात्रसान्स्वदन्ते। अतः कारणान्नटः पात्रं रसस्याऽऽधारमात्रम्। अयमर्थः। यथा लोके पानकादिरसस्य चषकादिकमाधारत्वेन पात्रं न तु तदास्वादज्ञातृत्वेन। —संगीत रत्नाकर, पृ० ८१५।

रसास्वादन तो सामाजिक करता है । यह भी कहना ठीक नहीं कि नट में क्रोध आदि का अभाव होने के कारण वास्तविक वध,बन्धन आदि कार्य उत्पन्न नहीं हो पाते, किन्तु अपनी शिक्षा और अभ्यास के कारण नट कृत्रिम वधादि का प्रदर्शन कुशलतापूर्वक कर लेता है[1]। कारण यह है कि यही बात शान्तरस के संबंध में भी प्रयुक्त हो सकती है । नट में यद्यपि शम का अभाव, संसार से विरक्ति आदि बातें नहीं होती हैं किन्तु वह अपनी शिक्षा आदि से बनावटी शम के कार्यों को दिखला सकता है । ऐसी स्थिति में सामाजिक को विभावादि से परिपुष्ट शान्तरस के आस्वादन में क्या कठिनाई होगी ?

शान्तरस में समस्त क्रियाओं का लोप मानकर उसे अनभिनेय बताना भी ठीक नहीं है, क्योंकि समस्त क्रियाओं का `लोप` या `लय` प्रदर्शित करना ही शान्त का उद्देश्य नहीं है । वरन् `यत्मान` पुरुष की भावनाओं पर विजय और उसके कार्यों का वर्णन करना ही शान्त का उद्देश्य है । यह वर्णन सरलतापूर्वक किया भी जा सकता है । समस्त क्रियाओं का लय तो उसकी पर्यन्तभूमि में ही होगा और यह चरमावस्था अवश्य ही रंगमंच पर नहीं दिखाई जा सकती है । किन्तु यह कठिनाई समस्त रसों के साथ जुड़ी हुई है । शृंगार करुण आदि की पर्यन्तभूमि अवर्णनीय ही है । करुण की पराकाष्ठा मरण के मंच पर प्रदर्शन का निषेध समस्त आचार्यों ने किया है । शृंगार में भी उसके संयोग और वियोग पक्ष में आने वाली अनेक दशाएं रंगमंच

१- यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधबन्धनादीनामुत्पत्त्यसम्भवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित उत्पत्तौ नास्तिबाधकमिति निरीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।
--रसगंगाधर, पृ० १२३ ।

२- So, the acceptance of Santa does not mean the attempt to present the impossible cessation of action, but means only the protrayal of an ordent spirit in search of truth and tranquility. The manifold efforts of the yatmana, his trials, his victories over passions these can be protrayed with great interest.

पर प्रदर्शित नहीं की जा सकती है । अन्य रसों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कहा जा सकता है । केवल भयानक अथवा केवल बीभत्स रस पर लिखे गए नाटक को देखना मंच पर किसी को भी अभीष्ट न होगा । यह अवश्य सत्य है कि नाटक सामाजिकों के मनोरंजन के लिए होता है । अत: उसमें गीत,वाद्य, विषय-चिन्तन आदि का होना आवश्यक/रहता है किन्तु ऐसा होने से शान्तरस की सत्ता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि यदि विषय-चिन्तन मात्र को शान्त का विरोधी मान लिया जायगा तब तो शान्त रस का आलम्बन संसार का अनित्य होना और उसके उद्दीपन पुराणों का सुनना,सत्संग,पवित्र वन आदि भी विषय होने के कारण शान्त के विरोधी हो जायँ[1] और ऐसा मानना हमारे अनुभव के विरुद्ध है । अत: वे भजन,कीर्तन आदि जिनमें शान्तरस के अनुकूल वर्णन हों, वे शान्तरस के व्यंजक ही कहे जायेंगे ।

सारांश यह है कि नाटक में शान्तरस का पुरस्थापन हो सकता है । नाटक में यदि सांसारिक चरित्रों का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया जाय कि दर्शक कौ मन में वैराग्य भाव जागृत हो सके अथवा मोक्ष दशा को प्राप्त करने के साधनों का इस ढंग से वर्णन किया जाय कि दर्शक स्वत: उसकी ओर आकृष्ट हो सके तो इन बातों का प्रदर्शन करने वाले नाटक शान्तरस से सम्बन्धित ही कहे जायेंगे । मोक्षावस्था को प्राप्त हुए पुरुष का वर्णन वर्णन भी नाटक में किया जा सकता है क्योंकि मोक्षावस्था को प्राप्त पुरुष निष्क्रिय हो जाता है-- यह धारणा नितान्त भ्रामक है । गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मुक्ति के बाद भी पुरुष को लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहना चाहिए । शान्तरस के चित्रण के लिए यह तो बिलकुल ही आवश्यक नहीं है कि केवल निष्क्रिय और समाधिस्थ पुरुष का दिग्दर्शन कराया जाय , जिससे दर्शक ऊब जायं । मनोरंजन नाटक के बड़े प्रयोजनों में से एक है, पर केवल उसी को प्रधानता नहीं दी जा सकती है और फिर मनोरंजन के भी तो भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं ।

१- विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे,तदीयालम्बनस्य संसारानित्यत्वस्य,तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण--सत्संग--पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः ।

-- रसगंगाधर, पृ० १२३ ।

किसी को सांसारिक विषयोपभोग में ही आनन्द मिलता है और किसी को शुद्ध दार्शनिक तत्वों के श्रवण में । एक व्यक्ति जिसको अश्लील कहता है, दूसरा उसी की सराहना करता है । अत: शान्तरस के नाटकों में से यह तात्पर्य है कि वे शान्तरस सम्बन्धी ऐसे तत्वों का एवं ऐसी परिस्थितियों का दिग्दर्शन करावें जो कि हमें शान्तरस की चरमान्तावस्था तक पहुंचा दें । अनेकों ऐसी घटनायें और विषय हैं जिनका दर्शन दर्शक को मानसिक शान्ति दे सकता है। ~~विकल्प~~ विषयों में लिप्त पुरुष की दुर्गतिदिखा कर शान्त का प्रतिपादन किया जा सकता है । लौकिक सुख-दुख के प्रति वैराग्य उत्पन्नकरना और आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किए गए उपायों के प्रदर्शन मात्र से शान्तरस का अभिनय हो सकता है । शान्तरस का वर्णन करते समय अन्य रसों का वर्णन भी ~~सहक्षम~~ सहायक रूप में आ सकता है, इसे अभिनव भी मानते हैं । भरत ने भी स्वीकार किया है कि कोई ऐसी विधा शिल्पकला या ज्ञान नहीं है, जिसका प्रदर्शन नाटक में न हो सके । अत: ऐसा कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता जिससे नाटक में शान्तरस की अवतारणा को असम्भव बताया जाए, उसे अनभिनेय कहा जाय ।

हिन्दी के भी लगभग सभी प्रमुख आचार्य शान्तरस के समर्थक हैं किन्तु इन आचार्यों में शान्तरस सम्बन्धी कोई मौलिक विवेचन नहीं प्राप्त होता है । उनका विवरण संस्कृत ग्रन्थों पर ही आधृत है । इन आचार्यों का महत्व इस दृष्टि से अवश्य अधिक है कि इन्होंने संस्कृत के आधार पर हिन्दी में काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया । तथापि यहां पर प्रमुख आचार्यों द्वारा उल्लिखित शान्तरस सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है ।

हिन्दी के आचार्य केशव समस्त वस्तुओं से मन के उदासीन होकर एक स्थान पर ईश्वर में ही स्थिर हो जाने को 'समरस' मानते हैं[1]। निम्न उदाहरण शान्त के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है --

> दनुज मनुज जीव जल थल जननि को परयोई रहत जहां काल सो समरु है ।
> अनन्त अनन्त अज अमर भरत पर केशव निकट जाने सोई तो अमरु है ।।
> बाजत श्रवण मुनि समुझि केशव करि वेदनि को वाद नाहीं शिव को अमरु है ।
> भागहु रे भागो भैया भागनि जो ज्यों भाग्यो परै भव के भवन मांझ भय को -
> भंवरु है ।।[2]

१- रसिक प्रिया, पृ० १८१
२- रसिक प्रिया, पृ० १८२

संसार में राजा, मनुष्य तथा अन्य जल-थल के जीवों का काल ने भक्षण किया है । देवता आदि भी मरकर पुन: इसी जीव योनि में पड़ते हैं । अमर तो वही होता है जो इस संसार से निकलने की क्षमता रखता है । अत: इस संसार के भय का भंवर से तुरन्त दूर हटने का प्रयास हमें करना चाहिए इन पंक्तियों में संसार के प्रति उदासीनता दिखलाई गई है । निर्वेद यहां स्थायी भाव, वेदध्व शब्द विभाव, जीवों की नश्वरता अनुभाव, कंप और धीरज रख कर भागना सात्त्विक भाव है । इस प्रकार इसमें शुद्ध शान्त का चित्रण किया गया है ।

देव नें भवानी विलास में केवल शृंगार को ही मूल रस माना है । उनके अनुसार उसी के द्वारा उत्पन्न भाव रस का रूप धारण करते हैं । जैसे रति द्वारा उत्पन्न उत्साह वीर रस का रूप धारण करता है, इसी प्रकार रति से जो निराशा या निर्वेद होता है, वही शान्तरस है । शान्तरस को उन्होंने प्रेमभक्ति, शुद्धभक्ति, शुद्ध प्रेम और शुद्ध शान्त में विभक्त किया है । अन्तिम प्रकार में पूर्ण निर्वेद की अनुभूति होती है । देव शृंगार, वीर और शान्त को ही प्रधान रस मानते हैं । अन्य रसों को उन्हीं का अंग कहते हैं ।

भिखारीदास ने अपने रस सारांश में शान्तरस का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है --

देवक्रिया सज्जन मिलन तत्त्व ज्ञान उपदेश ।
तीर्थ विभाव सुभक्ति क्रम धारि सांत सुदेस ।। ४७५।।
क्षमा सत्य वैराग्य थिति धर्मकथा में चाउ ।
देव प्रनति अस्तुति बिनय गुनौ सांत अनुभाव ।।४७६।।[1]

उजियारे कवि ने[2] 'रसचन्द्रिका' में शान्त रस को मानते हुए भक्ति का अन्तर्भाव शान्त में किया है । कुलपति अपने रस-रहस्य में नाटक में शान्त का निषेध करते हैं[3], किन्तु श्यामसुन्दरदास नाटकों में भी शान्तरस

१- रस सारांश, पृ० ६६।
२- हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० १५५ ।
३- वही०, पृ० ७७ ।

को रस मानते हैं । नट अपने अभिनय की कुशलता से अन्य भावों की भांति इस भाव का भी अभिनय कर सकता है । जिस भाव का वह अभिनय करता है, उसका अनुभव भी करे-- यह आवश्यक नहीं । केवल देव विषयक रति और शुष्क ज्ञान को शान्तरस समझने के कारण लोग शान्त का आनन्द नहीं ले पाते हैं । शान्त में निर्वेद और मनोयोग अर्थात् मानसिक शान्ति आवश्यक है । इसके अतिरिक्त श्री रामदहिन मिश्र,कुमारमणि शास्त्री, शम्भुप्रसाद पाण्डे, गुलाबराय,पद्माकर, श्रीमद् अयोध्या नरेश, हरिऔध आदि सभी प्रमुख आचार्य शान्त के पक्ष में हैं ।

(घ) शान्त का रसत्व-- इसकी उत्कृष्टता तथा इसका महत्त्व--

अब हम यहां देखेंगे कि किसी भी चित्तवृत्ति में के रसत्व कोटि तक पहुंचने के लिए आवश्यक तत्व `शम` में सुलभ हैं या नहीं । चित्तवृत्ति की रसता तभी सिद्ध होती है, जब उसको रस सामग्री (विभाव,अनुभाव और व्यभिचारी तथा स्थायी) पूर्णरूपेण सुलभ हों । विभाव,अनुभाव से पुष्ट स्थायी रस निष्पत्ति कराता है, इसको सभी आचार्य मानते हैं । शान्तरस के विभावादि सुलभ हैं--यह आगे दिखलाया जायगा । रस सामग्री के विद्यमान होने पर जब शृंगारादि अन्य रसों की निष्पत्ति हो जायगी, तो फिर शान्त की ही क्यों न होगी ? रस की सबसे बड़ी विशेषता अखण्डानन्द की अनुभूति शान्तरस से होती है । इसमें सहृदयों का अनुभव प्रमाण है । यदि शान्त रस में आस्वाद्यमानता का गुण न होता तो हम किसी भी शान्तरस संबंधी काव्य या नाटक को न तो पढ़ना ही पसन्द करते और न देखना ही चाहते । यदि इसमें आस्वादन की क्षमता न होती तो इतने महत् लेखक शान्तरस संबंधी साहित्य का सृजन ही क्यों करते ? किन्तु शान्तरस सम्बन्धी साहित्य का निरन्तर सृजन इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि साधारण जन और साहित्यकार

१- साहित्यालोचन, पृ० २३६-२४० ।

शान्तरस के प्रति रुचि रखते चले आये हैं । शान्तरस के कुछ ऐसे नाटक हैं, जिनको पढ़कर संसार के विषयों के अनित्यत्व का काम, क्रोध आदि के घृणित स्वरूप का परिज्ञान होता है । अत: मन क्षण भर उनके प्रति घृणा से भर जाता है और उस विराग में भी एक विशिष्ट प्रकार की आनन्दानुभूति होती है । उस वैराग्यभाव का चिरकाल तक स्थायी या अस्थायी रहना लेखक की सामर्थ्य और हृदय की रुचि एवं प्रवृत्ति पर निर्भर करता है । यदि लेखक सफल कलाकार होगा, उसकी कला में हमारे प्रसुप्त भावों को प्रबुद्ध करने की शक्ति होगी तो उसकी कृति हमारे मन में अवश्य ही अमिट संस्कार छोड़ेगी । सहृदय की रुचि को धीरे-धीरे परिष्कृत करके उसे शान्तरस का आस्वादक बनाया जा सकता है । रति आदि चित्तवृत्तियों की भांति ही 'शम' चित्तवृत्ति भी रहती है । संसार में अत्यधिक लिप्त रहने के कारण मनुष्य की रत्यादिक चित्तवृत्तियों को जो कि संसार से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध है -- उभरने का पूर्ण अवसर मिलता है । 'शम' नामक चित्तवृत्ति मनुष्य में रहती तो अवश्य है, पर संसार से असम्बद्ध है । अत: उसे उभारने के लिए लेखक में विशेष योग्यता होनी ही चाहिए[1] ।

रसाभिव्यक्ति में स्थायी भाव का प्रमुख स्थान है, क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से पुष्ट स्थायी ही रस रूप में व्यक्त होता है । जो प्रतिकूल और अनुकूल भावों से विच्छिन्न न होकर तथा अन्य सभी (प्रतिकूल और अनुकूल) भावों को आत्मसात् कर लेता है, वही स्थायी है[2] -- ऐसा आचार्यों का मत है । शान्त रस के स्थायी 'शम' या आत्मज्ञान में यह विशेषता है । उदाहरण स्वरूप यहां दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं :-

(१) मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्या: समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बा: किमु भूधराणामुत स्मरस्मेर विलासिनीनाम्

(२) एवं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्विलोक्य पुन:
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृंगारभारालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं ।
शम्भोर्भिन्न रसं समाधि समये नेत्रत्रयं पातुव: ।।

१- श्रीमद्वैपायन मुनि ने कहा भी है --
शृंगारी चेत्कवि: काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव चेद्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ।। अ०पु०, पृ० ४२३ ।

२- विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि: ।
आनीयमान: स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस: स्मृत: ।।
--दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, पृ० १७६ ।

प्रथम श्लोक में 'रति' और 'शम' इन दोनों भावों का सम प्राधान्य दिखाई पड़ता है । इसमें कवि कामवासना या रति को तुच्छ बतलाना चाह रहा है । यह बात आर्या:मवांद्र' इस पद से स्पष्ट हो जाता है । अत: यहां 'रति', 'शम' भाव को पुष्ट कर रहा है । वह 'शम' अपने साथ आने वाले अन्य भाव से विच्छिन्न नहीं हो रहा है वरिक उनके आत्मरूप बनाकर उनसे पुष्ट हो रहा है ।

दूसरे श्लोक में रति,शम और क्रोध इन तीनों भावों का वर्णन किया गया है । यहां पर भी शम भाव का प्राधान्य है और वही स्थायी माना जाएगा । रति एवं क्रोध दोनों ही भाव यहां शम परक हा हैं । समाधिस्थ होने पर भी शिव की शम भाव की अनुभूति अन्य योगियों से भिन्न था है -- यह बतलाने के लिए ही यहां अन्य भावों का समावेश किया गया है । धनन्जय का कहना है कि शान्तरस की सत्ता नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसके स्थायी निर्वेदादि में विरोधी और अविरोधी भावों से विच्छिन्न होने का गुण नहीं है । निर्वेदादि को पुष्टि रस के स्थान पर वह-है वैरस्य उत्पन्न करेगी । परन्तु ऐसा है नहीं । पहली बात तो यह है कि निर्वेदादि स्थायी है ही नहीं, इसकी गणना तो संचारियों में है । दूसरी बात यह है कि ऊपर जो दो श्लोक दिए गए हैं, वे धनन्जय के दशरूपक में उद्धृत हैं । उन दोनों में ही धनन्जय ने 'शम' भाव का प्राधान्य दिखलाया है और उनसे यह भी स्पष्ट होता है कि यह शम अपने विरोधी भाव से विच्छिन्न न होकर पुष्ट हो रहा है । अत: 'शम' में स्थायी भाव का लक्षण घटित नहीं होता, ऐसा कहना ठीक नहीं । धनन्जय काव्य में शान्तरस को असम्भव बताते हैं,परन्तु बिना स्थायी के काव्य में रसानुभूति कैसे हो जायगी ? भले ही वह लक्षणया रसानुभूति हो या अन्य किसी प्रकार से हो । रस-निष्पत्ति चाहे काव्य में हो या नाटक में, उसके लिए स्थायी भाव का होना बहुत ही आवश्यक है, केवल विभाव अनुभाव रस निष्पत्ति नहीं करा सकते हैं ।

शान्तरस साधक को मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाला है । अत: इसे केवल रस के रूप में ही नहीं प्रतिष्ठित करना चाहिए, वरन् सर्वोत्कृष्ट रस भी मानना चाहिए ।

(१०) शान्त के विभावादि का विवेचन --

विभाव

शान्तरस के आलम्बन विभाव आत्मा या परब्रह्म हैं। उद्दीपन विभाव तत्त्वज्ञान, वैराग्य अनित्यरूप से समझा गया संसार, वेदशास्त्रों का श्रवण, तपोवन, तपस्वियों के दर्शन, अध्यात्म विषयक गोष्ठी जहाँ हो ऐसे तप की साधना आश्रम, भगवत्कृपा, तीर्थस्थान, निर्जन वन, विषयों में दोष दर्शन, मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्र का निमर्शन, वस्तुतत्त्वालोचन आदि हैं।

अनुभाव

सांसारिक विषयों में अरुचि होना, शत्रु और मित्र के विषय में उदासीनता, निरपेक्षता, नासिका के अग्रभाग पर बराबर दृष्टि को एकाग्र करना एवं इस प्रकार से ज्ञानमुद्रा का प्रदर्शन करना मोक्षशास्त्र का चिन्तन, ब्रह्मविद्या का उपदेश, तत्त्वदर्शी संवाद, आनन्दाश्रु से व्याप्त दृष्टि, गद्गद् वचन, यम, नियम आदि अनुभाव हैं।

संचारी

हर्ष, स्मरण, मति, धृति, परमानन्द के रसपान से उत्पन्न उन्माद, विबोध, निर्वेद, चिन्ता आदि लगभग सभी भाव हैं।

देवता, वृत्ति और गुण

आचार्य अभिनव ने इसका देवता 'बुद्ध' माना है। विश्वनाथ ने 'नारायण' को और हर्षोपाध्याय ने 'परब्रह्म'[१] को इसका देवता माना है। इसका रंग श्वेत माना गया है। इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है तथा इसका सम्बन्ध सात्त्वती वृत्ति से है।

१- दि नंबर आफ रसाज़, पृ० ५० ।

हिन्दी आचार्यों में गुलाबराय, पद्माकर और श्रीमद् अयोध्या नरेश ने सम्न शान्त का देवता 'नारायण' और वर्ण 'शुक्ल' माना है। कुमारमणि शास्त्री ने इसका देवता 'हरि' और वर्ण 'कुन्द' पुष्प के समान माना है। 'हरिऔध' ने शांतिमूर्ति 'विष्णु' को इसका देवता माना है। गुलाबराय इसमें सत्वगुण, श्यामसुन्दरदास, श्री रामदहिन मिश्र, चिन्तामणि और कुमारमणि शास्त्री माधुर्य गुण का प्राधान्य मानते हैं।

स्थायीभाव

शान्तरस की सत्ता की भाँति उसके स्थायीभाव के सम्बन्ध में भी उतना ही विवाद है। शान्तरस के समर्थक भिन्न-भिन्न आचार्य उसके स्थायीभाव भी भिन्न-भिन्न मानते हैं। यहां पर इन्हीं आचार्यों द्वारा अभिहित स्थायी भावों का विवेचन किया जायगा।

अधिकांश आचार्य 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायीभाव मानने के पक्ष में हैं। इनमें पण्डितराज जगन्नाथ, श्री नि:शंकशार्ङ्गदेव, मम्मट, भानुदत्त और विद्याधर प्रमुख हैं। 'निर्वेद' को स्थायी, मानने वाले आचार्य अपने मत के समर्थन में भरत को प्रमाण स्वरूप उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि 'निर्वेद' के स्थायी होने के कारण ही अमंगलकारी एवं अनुपादेय होने पर भी भरत ने तैंतीस व्यभिचारियों में सर्वप्रथम उसकी गणना की है। 'निर्वेद' के दो रूप हैं -- तत्वज्ञानजन्य और दारिद्र्यादि से उत्पन्न। संसार की असारता और जीवन की क्षणभंगुरता को समझ कर उनके प्रति विरक्ति का होना ही 'निर्वेद' है। यही तत्वज्ञानजन्य 'निर्वेद' शान्त का स्थायी है दूसरे प्रकार का निर्वेद तो व्यभिचारी मात्र होगा। पण्डितराज ने आलम्बन भेद से निर्वेद के दो प्रकार -- नीच पुरुषगत और उत्तम पुरुषगत -- माना है। प्रथम प्रकार के निर्वेद की कुल उत्पत्ति तिरस्कार, दारिद्र्य आदि से और दूसरे प्रकार की उत्पत्ति अवज्ञा आदि कारकों से होती है। अनुभाव रोदन, मुख पर दैन्य आदि दोनों में एक से ही होते हैं। आक्रोशन आदि से नीच पुरुष को जिस प्रकार कष्ट होता है और जो वि[1] कष्ट और विकार साधारण अवज्ञा से उत्तम पुरुष में होते हैं। इस

१- रसगंगाधर, पृ० ३३१।

निर्वेदात्मक चित्तवृत्ति का नाम विषयों से द्वेष भी है[1]। यह तत्त्वज्ञानजन्य `निर्वेद` रत्यादि की अपेक्षा अधिक स्थायी स्वभाव वाला होने के कारण अन्य सभी स्थायी भावों का उपमर्दक है[2]।

अभिनव `निर्वेद` के स्थायित्व को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। कारण यह है कि तत्त्वज्ञानजन्य `निर्वेद` तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का उपाय-मात्र ही है। विरक्त पुरुष के प्रयत्न से ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष का कारण वैराग्य और वैराग्य का कारण `तत्त्वज्ञान` है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता है। हां, परम्परित कारणत्व में विभावत्व व्यवहार हो रहा है जिसको मानने से अति व्याप्ति दोष आ जाता है[3]।

निर्वेद स्थायी की अपूर्णता के कारण उद्भट, हेमचन्द्र, रामचन्द्र और गुणचन्द्र, विश्वनाथ तथा अल्लराज आदि आचार्यों ने 'शम' को शान्त का स्थायीभाव स्वीकार कर लिया, किन्तु `शम` स्थायी के विरुद्ध भी निम्न आक्षेप किए गए हैं --

(१) `शम` को शान्त का स्थायी मानने पर संचारियों की संख्या पचास हो जायगी, जो कि भरत को मान्य नहीं।

(२) नाट्य शास्त्र के कुछ संस्करणों में शान्त की भांति `शम` का वर्णन भी उपलब्ध नहीं होता है।

(३) `शम` और शान्त दोनों ही पर्यायवाची शब्द हैं।

इनमें से प्रथम और द्वितीय आक्षेप तो निरर्थक हैं। तृतीय आक्षेप `शम` और `शान्त` की पर्यायता का परिहार अभिनव ने हास्य और

१- नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः। गृहकलहादिस्तु व्यभिचारी।
-- रसगंगाधर, पृ० १३२।

२- तत्त्वज्ञानजस्तु निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः।
भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमस्थायिशीलः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः। -- अभिनव भारती, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६१५।

३- अत्र इदमपि पर्यनुयुज्यते --तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवास्य विभावत्वेनोक्तम् स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथं विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्, कारण-कारणेऽस्य विभावताव्यवहारः स चातिप्रसङ्गावहः।
--अ०भा०, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६१५

हास शब्दों से किया है । हास्य और हास दोनों ही समानार्थक शब्द हैं, फिर भी हास को हास्य का स्थायी समस्त आचार्यों ने माना है । इसी प्रकार शम को भी शान्त का स्थायी माना जा सकता है । स्थायीभाव के असाधारण और रस के साधारण अर्थात् सामाजिक मात्र द्वारा आस्वादन योग्य होने के कारण 'शम' और 'शान्त' में परस्पर भेद भी है[1]।

हेमचन्द्र ने 'शम' स्थायी को तृष्णाक्षयरूप माना । आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षयसुख' को ही शान्त का स्थायी माना[2]। भोज ने इस शम का अन्तर्भाव धृति में करते हुए धृति को शान्त का स्थायी बताया[3]। शृंगारप्रकाश में 'शम' को ही शान्त का स्थायी मानते हैं ।

रुद्रट और केशव मिश्र 'सम्यग्ज्ञान' को शान्त का स्थायी मानते हैं[4]। परन्तु 'सम्यग्ज्ञान' और 'तत्त्वज्ञान' में नामान्तर मात्र है । अतः कुछ विद्वानों ने 'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम' और 'निर्विशेषचित्तवृत्ति' को शान्त का स्थायी बताया, जो कि ठीक नहीं है । क्योंकि भाव विक्रियाजनक होते हैं तथा रसास्वाद में चित्तवृत्तियों की शान्ति नहीं होती है ।

उपर्युक्त समस्त स्थायीभावों में नाममात्र का ही अन्तर है । इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों का कहना है कि रत्यादि आठ स्थायीभावों में से किसी भी एक को शान्त का स्थायी माना जा सकता है जैसे --

---

१- शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् । सिद्ध साध्यते लौकिकालौकिकत्वेन । साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव ।
-- अ०भा०, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६१६ ।

२- यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥
-- ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० ३९० ।

३- अन्ये पुनरस्य शमप्रकृतिमानस्ति । स तु धृतेरेव विशेषो भवति ।
-- सरस्वती कण्ठाभरण, पृ० २९५ ।

४- (अ) सम्यग्ज्ञानप्रकृतिःशान्तो विगतेच्छनायको भवति ।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ।
-- काव्यालंकार, अध्याय १५, पृ० १९९ ।
(ब) सम्यग्ज्ञान समुत्थानः शान्तो निस्पृहनायकः ।
रागद्वेषपरित्यागे सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥२७॥
-- अलंकार शेखर, मरीच २०, पृ० ७५ ।

१- रति शृंगार का स्थायी भाव है, परन्तु अध्यात्मचर्चा जैसे विभावों से पुष्ट होकर शान्त को व्यक्त करेगा ।

२- समस्त विषयजन्य विकारों को देखकर हास ।

३- समस्त संसार के शोचनीय रूप को देखने वाले साधक को करुण ।

४- संसार को (आत्मा के लिए) अपकारी देखने वाले साधक को क्रोध ।

५- ज्ञान प्रधान उत्साह को स्वीकार करने वाले साधक को उत्साह ।

६- समस्त विषयों में भय का अनुभव करने वाले को भय ।

७- कामिनी आदि से घृणा करने वाले को घृणा ।

८- अपूर्व आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण साधक को विस्मय ।

शान्त रस की अनुभूति कराता है । इस प्रकार इन आठों स्थायीभावों के दो रूप हैं -- अपने विशिष्ट रसों की अनुभूति कराना और मोक्ष प्राप्ति में सहायक । भरत ने जहां इन स्थायी भावों की विभाव की गणना की है वहां अन्त में प्रायः `आदि` शब्द का प्रयोग किया है । इस मत के समर्थक आचार्य इस आदि शब्द से मोक्ष साधक रत्यादि का ग्रहण करके भरत की भी सम्मति दिखलाते हैं[1] । यह मत भी अशुद्ध है । रत्यादि को शान्त रस का स्थायी मान लेने पर उनका अपने विशिष्ट रस के प्रति स्थायी भावत्व नहीं रह जायगा । यदि उपायभेद से रत्यादि का शान्त में स्थायित्व माना जायगा, तो भी ठीक न होगा, क्योंकि प्रत्येक पुरुष में पृथक स्थायी मानने पर शान्त के अनेक भेद हो जायेंगे । स्थायी भावों में भेद के रहते हुए भी मोक्षरूप एक ही फल सब का होने के कारण शान्त को अभिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर वीर और रौद्र को भी (धर्म रूप एक ही फल होने से) एक मानने का प्रसंग उठेगा[2] । अतः रत्यादि अन्यतम

१- अभिनव भारती, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६२०-६२१ ।

२- सर्ववादिनान्तु परस्परमेव विचारकामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यत एव । तदुपायभेदात् तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानमप्रगुणमेव । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं रसस्यानन्त्यापत्तेः । मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत्, धर्मैकफलत्वे वीररौद्रयोरप्येकत्वं स्यात् ।

—अ०भा०, षष्ठोऽध्याय, पृ० ६२२ ।

शान्त के स्थायी नहीं हो सकते ।

अन्य आचार्यों का यह कथन कि रत्यादि पृथक् रूप से नहीं बल्कि समष्टि रूप से 'पानकरस' के समान मिलकर शान्त की अभिव्यक्ति करा सकते हैं-- भी ठीक नहीं है ।क्योंकि रति हास,शोक,क्रोध आदि चित्तवृत्तियां परस्पर विरोधी हैं । जुगुप्सा में घृणा के साथ द्वेष और उत्साह में अहंकार का समावेश रहता है । शृंगार में आसक्ति की प्रधानता है । परन्तु शान्त,राग,द्वेष,घृणा, अहंकार आदि से परे है । अत: ये सब शान्त के स्थायी नहीं माने जा सकते हैं ।[1]

आचार्य अभिनव ने इन समस्त मतों का पूर्णरूपेण खण्डन करके शान्त के वास्तविक स्वरूप को बताने वाले 'आत्मज्ञान' को शान्त का स्थायी माना है । ज्ञान आनन्द आदि से युक्त और विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही शान्त का स्थायी है[2]। यह आत्मा का स्वरूप लौकिक प्रतीति का विषय नहीं है । ये 'निर्वेद' और 'शम' आदि आत्मा के स्वरूप न होकर चित्तवृत्ति मात्र हैं । कुछ विद्वानों ने आत्मरति नामक स्थायीभाव की कल्पना की है । इनके अनुसार परमात्मा के प्रति प्रेम का नाम 'आत्मरति' है । आत्मा का ० वास्तविक स्वरूप पहचान कर व्यक्ति ब्रह्म की उपलब्धि करता है और आनन्द भोगता है । पर ये विद्वान् भी शान्त का लक्ष्य आत्मज्ञान ही मानते हैं । अत: आत्मज्ञान को स्थायी मान लेने से शान्त के स्थायी की समस्या सुलझ जाती है , क्योंकि वह शान्त के स्वरूप को स्पष्ट करने की पूर्ण क्षमता रखता है ।

१- अन्ये तु -- पानकरसवदविभागं प्राप्ता: सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहु: । चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात् ,अन्योन्यं च विरोधात्तदपि न मनोज्ञम् ।
-- अ०भा०,षष्ठोऽध्याय:, पृ० ६२२ ।

२- इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता । तत्त्वज्ञानं च नाम आत्मज्ञानमेव । आत्मनश्च इन्द्रियादिव्यतिरिक्तस्यैव ज्ञानम् । परो ह्येवात्मा अनात्मैव स्यात् ।............तेनात्मैव ज्ञानानन्दादि-विशुद्धधर्मयोगी परिकल्पित विषयभोगरहितोऽत्र स्थायी ।
-- अ०भा०, पृ० ६२३ ।

अध्याय -- ३

-०-

शान्त और भक्ति

अध्याय -- ३

-०-

शान्त और भक्ति

(क) भक्ति और रस -- उपनिषद् पुराण विशेषतया श्रीमद्भागवत (भक्तिसूत्र नारद,शाण्डिल्य) तथा भक्ति-शास्त्र (रूपगोस्वामी मधुसूदन सरस्वती) के आधार पर --

चित्त के सतत परमेश्वर में आसक्त रहने का नाम `भक्ति` है । अतः भक्ति के प्रादुर्भूत होने पर साधक मन,कर्म एवं वचन-- तीनों से ही ईश्वर के ध्यान में तल्लीन हो जाता है । समस्त सांसारिक यथार्थ परमसत्ता के प्रति उत्कट प्रेम के समक्ष तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं । भक्त उनसे विमुख हो जाता है । विषयवासनाग्रस्त चित्त से ईश्वरासक्ति कभी हो ही नहीं सकती । दोनों ही परस्पर विरोधी हैं । `भक्ति` ईश्वर के प्रति शुद्ध एवं सात्विक प्रेम की भावना है । यह भक्ति स्वभावतः दिव्य तथा रसरूप ही है । इस भक्तिरस का आस्वादन लोकोत्तर रसास्वादन है । उपनिषदों में भी भक्ति-रस को सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वोत्तम रस बतलाया गया है । परमात्मा स्वतः आनन्द रूप एवं रसमय है । जीव इस रसस्वरूप को प्राप्त करके सुखी होता है[1] । यह परमात्मा तर्क का

१- रसो वैसः । रस-- ह्येवायं लब्ध्वाह्नन्दीभवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद यदेष आकाश आनन्दो नस्यात् ।
-- तैत्तिरीय उपनिषद् २।७।१

विषय न होकर भक्ति का विषय है । जो व्यक्ति अपने मन को पवित्र एवं शुद्ध करके प्रभु-भक्ति सम्पादित करता है, उसी पर प्रभु अपने आप को प्रकट कर देते हैं । इस भक्ति से ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है । भक्ति की इस अलौकिकता के कारण हमारे प्राचीन ग्रन्थों से लेकर अब तक भक्ति का प्रतिपादन विभिन्न प्रकार से किया गया मिलता है ।

वेद भक्ति के आदि स्रोत के रूप में सर्वप्रथम हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । इसमें भक्ति के पुनीत उद्गार अनेक स्थलों पर अंकित हुए मिलते हैं । भक्तिपूर्वक सम्पन्न किए गए यज्ञादि के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति एवं देवतृप्ति आदि की बात अनेक स्थलों पर कही गई है । वैदिक भक्ति एक प्रकार से कर्मकाण्ड के अन्तर्गत आती है । भक्ति का शास्त्रीय विवेचन उसमें न होने पर भी भक्ति तत्त्व के बीज उसमें सर्वत्र दिखलाई पड़ते हैं । किन्तु उपनिषदों में यह भक्ति तत्त्व सर्वथा भिन्न रूप में प्रकट हुआ । उपनिषद् के साधक की दृष्टि बहिर्जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत में विशेषरूप से केन्द्रित है । साधक इस नामरूपात्मक संसार के अन्तराल में एक शाश्वत सत्य को देखता है और वही 'ब्रह्म' है । इस ब्रह्म को साधक किस प्रकार प्राप्त कर सकता है तथा उसका स्वरूप क्या है-- यही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है । आत्मदर्शन का एकमात्र उपाय होने के कारण उपासना को उपनिषदों में एक विशिष्ट स्थान दिया गया है । समस्त सांसारिक वस्तुएं ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्मस्वरूप ही हैं -- वे ब्रह्म में ही स्थित एवं ब्रह्म में ही लीन हो जाती हैं । अत: मन को सर्वथा शान्त करके उपासना करनी चाहिए[1] ।कठोपनिषद् में भी इस भगवत्कृपा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । किन्तु इस भक्ति को ब्रह्म की कृपा होने पर ही प्राप्त किया जा सकता है[2] ।

१- सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत

-- छा० उ०, ३।१४।१

२- तद्वनमित्युपासितव्यम् ।

तद् (ब्रह्म) वनम् (भजनीयम्) इति उपासितव्यम् ।

-- केनोपनिषद् ४।६

प्रतीकोपासना का उपनिषदों में पर्याप्त प्रयोग दिखाई पड़ता है। कभी मन को ब्रह्म रूप में उपासना का आदेश दिया जाता है, क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार मन भी इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता[1]। इसी प्रकार सूर्य की भांति ब्रह्म भी ज्योतिर्मय है और इस सादृश्य के आधार पर सूर्य को भी ब्रह्म रूप में उपासना बतलाई गई है[2]। ऊंकार के अक्षर ब्रह्म होने से कठोपनिषद् में ऊंकार को ब्रह्म रूप में उपासना कहा गई है। इस अक्षर रूप की उपासना से साधक अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करता है[3]।

इस भक्ति में ब्रह्म के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण की बात भी कही गयी है। साधक मोक्ष प्राप्ति के लिए परमात्मा की शरण लेता है[4]। इतना होने पर भी ईश,केन कठ, प्रश्न,मुण्डक, माण्डूक्य तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक-- इन दस प्रधान उपनिषदों में 'भक्ति' शब्द का स्पष्ट उल्लेख न देखकर भक्ति के स्थानापन्न रूप में हम श्रद्धा शब्द का प्रयोग देखते हैं। श्रद्धा शब्द की भक्ति के अनुकूल ही व्याख्या मिलती है। केवल श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्तिम भाग में 'भक्ति' शब्द का उल्लेख मिलता है --

> यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मनः[5]।।

भक्ति शब्द का स्पष्ट विवेचन न होने पर भी भगवत्कृपा, प्रतीकोपासना, आत्मसमर्पण की भावना आदि के उपनिषदों में वर्णित

१- मनो ब्रह्मेत्यादेश: -- छा०उ० ३।१८।१

२- आदित्यौब्रह्मेत्युपासीत् -- छा०उ० ३।१६।१

३- एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम।
   एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
   --कठोपनिषद् १।२।१६।

४- मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। श्वेताश्वतर उ० ६।१८

५- श्वे०उ० ६।२३

ग्रन्थों में भक्ति का अंकुरण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है । उपनिषद् में वर्णित ज्ञान भक्ति के द्वारा तथा ब्रह्म ज्ञान के द्वारा प्राप्य कहा गया है । इस भक्ति साधना के आश्रय परमानन्द स्वरूप भगवान ही है ।

पुराणों में ही भक्ति योग की विशद् व्याख्या मिलती है । मुक्ति के त्रिविध साधन कर्म, ज्ञान और भक्ति में भक्ति योग ही सर्वश्रेष्ठ, है मनुष्यमात्र के लिए सुलभ तथा अनायास प्राप्त होने वाला है । इस भक्तियोग को शरीर चित्त आदि को पीड़ित किये बिना केवल मनोवृत्ति के द्वारा सम्पादित किया जा सकता है[1] । ज्ञान मार्ग द्वारा निर्गुण ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा साधारण जीव के लिए भक्ति योग की सगुण ईश्वर की साधना सुकर है । ईश्वर में इसी परानुरक्ति को विष्णु पुराण में बड़े सुन्दर ढंग से प्रह्लाद की प्रार्थना द्वारा व्यक्त किया गया है । यहां पर भक्तिनिरूपण में चित्तवृत्ति पर ही विशेष बल दिया गया है । अविवेकी मनुष्य की विषयों में जैसी अविचल आसक्ति होती है उसी प्रकार की आसक्तिपूर्ण किन्तु अनपायिनी प्रीति जब भगवान का अनुस्मरण करने वाले साधक में भगवान के प्रति होती है, तब उसे 'भक्ति' कहते हैं[2] । भक्ति तत्त्व के प्रतिपादन की दृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान पुराणों में अग्रगण्य है। भागवत में देवहूति के प्रति कपिल के मुख से भक्ति की सारगर्भित व्याख्या देखने को मिलती है । उसके अनुसार वेदविहित कर्म में सतत् लगे हुए व्यक्ति की भगवान के प्रति अनन्य भावपूर्ण स्वाभाविकी सात्त्विकी एवं निष्काम प्रवृत्ति का नाम 'भक्ति' है । वह अणिमादि सिद्धियों से भी महान् है और प्राणियों के लिंग,शरीर का नाश करके उनको मुक्त कर देती है[3] । भक्ति तत्त्व को और भी स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि समुद्र की ओर अखण्ड रूप से प्रवाहित होती हुई गंगा की धारा की भांति परमात्मा

१- त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं, शक्योऽस्ति सर्वथा ।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात् ।।
--देवी भागवत० ७।३७।१३ ।

२- या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ।। वि०पु० १।२०।१९

३- देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।।भा०पु० ३।२५।३२-३३ ।

के प्रति उनके गुण श्रवण मात्र से ही प्रादुर्भूत अविच्छिन्न मनोगति का नाम 'भक्ति'[1] है। भागवत में भक्ति की यथार्थ सत्ता मानसिक स्थिति में ही मानी गई है --बाह्य विधान साधन मात्र है। इसी को अहैतुकी भक्ति भी कहा गया है। भगवान् के बिना भक्त को कुछ भी वांछनीय नहीं रहता[2]। साधकों की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर भागवतकार ने भक्ति के चार प्रकार माने हैं -- निर्गुण, सात्त्विक, राजसी, और तामसी[3]। कर्तव्य बुद्धि के अनुसार पापक्षय की इच्छा से अथवा भगवान के प्रति कर्म समर्पण के उद्देश्य से की गई भेद भाव युक्त भक्ति 'सात्त्विकी' है। इसमें सत्वगुण का प्राधान्य रहता है[4]। भोग,यश अथवा ऐश्वर्य आदि की इच्छा करने वाले सकाम हृदय साधक के द्वारा भेद बुद्धि से की गयी भक्ति 'राजसी' है[5]। क्रोधी, हिंसक आदि के द्वारा[6] परपीड़नार्थ ,मात्सर्यवश की गई ईश्वर की अर्चना 'तामसी' भक्ति है। भेद ज्ञान द्वारा प्रभावित होने के कारण -- ये तीनों ही भक्ति गौणी भक्ति है। सात्त्विकी भक्ति में मोक्ष आदि की इच्छा वर्तमान रह सकती है अत: उत्तमा होने पर भी उसे सर्वोत्कृष्ट नहीं माना जा सकता है। मोक्ष आदि की कामना से रहित साधक की एकमात्र पुरुषोत्तम[7] में लगी हुई अविच्छिन्न एवं अहैतुकी चित्तवृत्ति को 'निर्गुण' भक्ति कहते हैं। यह निष्काम अहैतुकी

१-मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोम्बुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे ।।१२।।
--भा०पु० ३।२९।११-१२

२- भा० पु० ३।२५।३२

३- वही भा० पु० ३।२९।७-१२

४- भा० पु० ३।२९।१०

५- भा० पु० ३।२९।९

६- भा० पु० ३।२९।८

७- भा० पु० ३।२९।११-१२

भक्ति ही प्रेम है । इसको प्राप्त करने पर साधक भगवत्सेवा को छोड़कर और किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता है । वह पांचों प्रकार की मुक्ति का भी (सालोक्य,सार्ष्टि,सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य) कामना नहीं करता है[1] । भक्ति के इस उच्चतर सोपान में पहुंचकर साधक समस्त भूतों के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है । वह सर्वभूतों में आत्मारूपी भगवान का एवं आत्मारूपी भगवान के भीतर सर्वभूतों को देखता है[2] । इस भक्ति के नौ प्रकार के साधनों का उल्लेख भी भागवत में हुआ है[3] ।

भागवत में ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त भक्त की ही प्रशंसा की गई है क्योंकि भक्ति ज्ञान के द्वारा दीप्त होती है तथा वैराग्य के भीतर से आत्मप्रकाश करती है । साधक वैदिक शास्त्रों से उत्पन्न ज्ञान एवं वैराग्य युक्त भक्ति को प्राप्त करके उसके द्वारा अपने भीतर ही आत्मा का दर्शन करते हैं[4] । अत: भक्ति धर्म का पालन करने वाले साधक को शास्त्र विहित धर्मानुष्ठान एवं नैतिक अनुशासन आदि का पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए । कूर्मपुराण के अन्तर्गत ज्ञानी भक्त को ही सर्वोत्तम कहा गया है,क्योंकि

१- सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना: ।।
-- भा०पु० ३।२६।१३

२- सर्वभूतेषु य: पश्येद भगवद्भावमात्मन: ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम: ।।
-- भा०पु० २।४५ ।।

३- श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।।
-- भा०पु० ७।५।२३-२४ ।

४- तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ।।
--भा०पु० १।२।१२ ।

~~५--ज्ञानमेव भक्तानामिष्ट: प्रियतमो मम ।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा ।।~~

परमेश्वर की ज्ञान समन्वित आराधना ही रुचिकर है[1]। शिवपुराण में भी ज्ञान सम्पन्न साधक की मुक्ति की बात कही गई है[2]।

नारद के अनुसार ईश्वर के प्रति प्रेम-भाव ही भक्ति है । इस प्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति होने पर मनुष्य जन्म मृत्यु के बन्धन को नष्ट कर देता है, उसकी सारी वासनाएं सर्वदा के लिए शान्त हो जाती है, वह तृप्त हो जाता है । मनुष्य निर्विकार चित्त होकर न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु में आसक्त ही रहता है । उस प्रेम रूपा भक्ति को प्राप्त कर वह उन्मत्त हो जाता है, आत्माराम बन जाता है[3]। महर्षि नारद के अनुसार भक्ति वह वृत्ति है, जिसकी प्राप्ति हो जाने पर व्यक्ति के सारे क्रिया-कलाप ईश्वरार्पित हो जाते हैं । ईश्वर का विस्मरण होते ही साधक का चित्त व्याकुल हो जाता है[4]। भक्ति की पर्यवसान भूमि में पहुंचकर साधक और ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । नारद ने इस प्रेम रूपा भक्ति को कामनाशून्य तथा निरोधरूपा कहा है । इसमें समस्त कामनाओं का नाश हो जाता है अत: यह कामनाशून्य है । निरोध रूपा कहने से तात्पर्य यह है कि साधक लौकिक वैदिक समस्त व्यापारों का प्रभु में न्यास कर देता है । केवल ईश्वर के प्रति उसका अनन्य भाव रहता है, अन्य समस्त विषयों के प्रति वह उदासीन रहता है[5]। वह प्रेमरूपा भक्ति फलरूपा होने से कर्म, ज्ञान एवं योग से भी श्रेष्ठतर है । वह स्वयं ही फल है, उसका अन्य कोई फल नहीं है । वैसे

१- सर्वेषामेव भक्तानामिष्ट: प्रियतमो मम ।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा ।।
-- कूर्मपुराण,उत्तरार्द्ध ४।२५ कल्याण भक्ति अंक पृ०६६१ से उद्धृत ।

२- सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवति निश्चितम् ।।
-- वही० शिवपुराण

३- सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा -- ना०भ०सू० २ तथा सूत्र १-६

४- ना० भ० सू० १-६ १९।

५- वही०, सू० ७-१४ ।

तो यह भक्ति विषय त्याग एवं सत्संगति से मिलती है किन्तु इस भक्ति का मुख्य साधन भगवत्कृपा तथा महापुरुषों की कृपा है । क्योंकि भगवान एवं उनके भक्तों में कोई भेद नहीं । भक्ति की प्राप्ति के लिए कुसंगति का परिहार उतना ही आवश्यक है, जितना सत्संगति का ग्रहण । यह प्रेमरूपा भक्ति अनिर्वचनीय और गूंगे के स्वाद के समान है, यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और स्वसंवेद्य है । उस प्रेम को प्राप्त कर साधक अपनी मन,बुद्धि,इन्द्रियों से केवल प्रेम का ही अनुभव करता हुआ प्रेममय हो जाता है[1] । इस प्रेम भक्ति की ग्यारह आसक्तियां बताई गई हैं तथा कंठावरोध, रोमांच, अश्रु आदि इसके अनुभाव कहे गए हैं[2] । ये ग्यारह आसक्तियां भक्ति की ग्यारह दशाओं की गणना मात्र हैं ।

शाण्डिल्य ने अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति का शास्त्रीय एवं सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है । शाण्डिल्य के अनुसार ईश्वर के प्रति 'परानुरक्ति' का नाम ही भक्ति है[3] । भक्ति ईश्वर के प्रति शुद्ध प्रेम-भाव,चित्त की रागात्मिका वृत्ति एवं मोक्षप्राप्ति का साधन है । भक्ति और मोक्ष के बीच साधना का अन्य कोई सोपान नहीं है । प्रीति और भक्ति में अभेद है । पराकाष्ठा पर पहुंची हुई भगवत्प्रीति ही भक्ति है । यह भक्ति देश-काल की अपेक्षा न रखकर सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्रदान करती है । धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि केवल प्रभु की आराधना से ही हो जाती है । यही नहीं, श्रीकृष्ण की भक्ति इन चारों पुरुषार्थों से भी बढ़कर है[4] । इससे जीव का अन्त:करण शुद्ध होता है और उसे परमशान्ति मिलती है । लौकिक

१- वही०, सू० ५१-५७।

२- नारद भक्ति सूत्र ८२,६८ ।

३- सापराऽनुरक्तिरीश्वरे -- शा० भ० सू० १।१।२

४- शा०सू० १।१।२ तथा २।२।५६

प्रीति की भाँति भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति भी अश्रु,पुलक आदि अनेक प्रकार के बाह्य चिह्नों से होती है[1]। विभिन्न जीवों के अधिकार भेद से भक्ति के सात्त्विकी, राजसी और तामसी-- ये तीन प्रकार किए गए हैं। ज्ञान विज्ञान शाली--वैराग्ययुक्त जीवन से वर्णाश्रम कर्म का पालन करते हुए गुरु द्वारा प्राप्त ही भक्ति की साधना सात्त्विकी भक्ति है, जो यज्ञादि पुण्य कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक , देश , जाति एवं कुल का अभिमान रखते हुए भगवान का भजन करते हैं वे विच्छिन्न वृत्ति वाले राजस भक्त कहते हैं। जो मूढ़ पुरुष उपदेशानुसार केवल अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ही भजन करता है वह तामस कहलाता है[2]। शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति यज्ञ आदि की भाँति क्रिया रूपा नहीं है। क्रिया में कर्ता के प्रयत्न की अपेक्षा रहती है किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं है। गौणी भक्ति क्रियारूपा अवश्य है, पर वह समस्त क्रियाओं में श्रेयस्कर है[3]। भक्ति ज्ञानरूपा भी नहीं है। भक्ति और ज्ञान में भेद है। ज्ञान भक्ति का साधन है। भक्ति साधन भी है और साध्य भी[4]। भक्ति स्वतन्त्र है। श्रद्धा को भक्ति का अंग मानने से अनवस्था दोष आ जायगा अतः दोनों अभिन्न न होकर अंगांगी हैं। भक्ति श्रद्धा रूपा भी नहीं है[5]।

नारद पंचरात्र में भी भक्ति की अनन्यता पर विशिष्टरूप से बल दिया गया है। भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव, नारद आदि ने विष्णु के प्रति अव्यभिचारी प्रेम-भाव को भक्ति कहा है[6]। अन्यत्र भी तत्परतापूर्वक हृषीक (इन्द्रिय) के द्वारा हृषीकेश की निर्मल एवं सर्वउपाधियों से विनिर्मुक्त सेवा 'भक्ति' कहलाती है[7]।

१- शा०भ०सू० २।१।४।४३

२- शा०भ०सू० ६।७-८, ६।१०-११,६।१२-१३ ।

३- न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् -- शा०भ० सू० १।१।७।
तथा
उत्कर्षत्वात्परंतु भावाच्च क्रियाकृता: श्रेयस्य: --शा०भ०सू० २।२।७९

४- शा०भ०सू० १।१।४-६, १।१।२ ।

५- शा०भ०सू० १।२। २४-२५

६- अनन्यममताऽविष्णौ ममता प्रेमसंकुला।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ।।
अनन्यममता व्यभिचारिममता यस्या न कदाचिदपि कथमप्यलंबुद्धि:।प०चं०पृ०६।

७- सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ।। नारदपंचरात्र,
-- ह०र०सिं० पृ० १२

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के सम्बन्ध में मौलिक विचारों की उद्भावना की । उनके अनुसार भक्ति केवल ईश्वरीय रति नहीं है । वह द्रुतचित्त की भगवदाकार वृत्ति है, अर्थात् द्रुतचित्त का भगवदाकार हो जाना ही भक्ति है । द्रुतचित्त की समता जतु(लाह) से दी जा सकती है । जैसे जतु की कठिनता दहनात्मक ताप के बिना शान्त नहीं होती, पर दीपक का आलोक दिखाने से वह शिथिल हो जाती है , ठीक उसी प्रकार चित्त भी विषयात्मक तापों के बिना द्रवीभूत नहीं होता है । कामादि चित्त के तापक हैं चित्त और जतु दोनों ही स्वभाव से कठिन होते हैंप परन्तु जतु तापक अग्नि के संयोग से और चित्त तापक विषयों के संयोग से द्रवत्व को प्राप्त होते हैं । कामादि की विद्यमानता में चित्त द्रवीभूत होता है तथा पुन: कामादि के तिरोभूत हो जाने पर काठिन्य को प्राप्त कर लेता है[1] । द्रुतचित्त पर पड़ी वस्तु की आकारता छा जाती है । वस्तु द्वारा द्रुतचित्त के जो स्वाकार निक्षिप्त किया जाता है वह संस्कार,वासना,भाव,भावना आदि शब्दों से व्यवहृत होता है[2] । तापक कामादि द्वारा विषयों से मन शिथिल तो अवश्य हो जाता है पर वासनारूप से चित्त में प्रविष्ट नहीं हो पाता । अत: चित्त के द्रुत होने पर ही वासना होती है अन्यथा (केवल शिथिल होने पर) वासना मात्र होगा । द्रवावस्था को प्राप्त चित्त में जिस वस्तु का स्वरूप एक बार प्रविष्ट हो जाता है, वह काठिन्य दशा पर्यन्त स्थिर रहता है । वह विषयान्तर के गृहीत होने पर भी चित्त को नहीं छोड़ता, इसी से उसे 'वासना' कहते हैं । पर जब वस्तु का स्वरूप द्रुतावस्था में प्रविष्ट न होकर शैथिल्यावस्था में प्रविष्ट होता है तो वह काठिन्यावस्थापर्यन्त नहीं रहता और अगर रहता भी है तो विषयान्तर के ग्रहण के समय चित्त उसे त्याग देता है । इसी से उसे 'वासनामात्र' कहते हैं ।

१- चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम् ।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वम्प्रतिपद्यते ।। भ० र० १।४

२- भ० र० १। ६-७

निष्कर्ष यह है कि द्रुत होने पर चित्त भगवान की आकारता धारण कर लेता है, भगवन्मय हो जाता है । एक बार चित्त में भगवदाकारता प्रविष्ट होने पर वह सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है-- यही भाव भक्ति है[1] । इस भक्ति के लिए चित्त द्रुति की अनिवार्यता की पुष्टि की गई है[2] । यह भगवद्विषयक मनोवृत्ति रज एवं तम से रहित तथा सुखाभिव्यंजक होने से 'रति' कहलाती है[3] । भक्ति प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए लेखक ने भक्ति की भूमिकाएं इस प्रकार निर्धारित की हैं । महान् पुरुषों की सेवा , उनकी दया और उनके धर्म में श्रद्धा को प्राप्त करना, हरिगुण का श्रवण, रत्याकर की उत्पत्ति अपने रूप की अधिगति, परमानन्द में प्रेम की वृद्धि, उसका साम्मुख्य, भगवद्धर्म में निष्ठा, अपने में भगवद्गुणों का समावेश, उसके पश्चात् प्रेम पराकाष्ठा है । भक्ति स्वयं अपना साधन भी है और साध्य भी । अतः भक्ति के दो भेद-- साधन और फल किए गए हैं[4] । भागवत धर्म चित्तप्रसाद और सत्वशुद्धि साधन भक्ति के ही दो रूप हैं ।

तत्वज्ञान एवं भक्ति में भी भेद है । ज्ञान प्रायः भक्ति के साधन रूप में उपस्थित होता है और रस रूप में वह भक्ति का संचारी रहता है[5] । तत्वज्ञान एवं भक्ति में स्वरूपभेद, साधन भेद, फलभेद तथा आश्रय भेद है । स्वरूप

१- द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतांगता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ।।
-- भ० र० १।३

२- द्रुतौ तस्यामभवद्भक्तिरद्र तौ तु न किंचन ।
चित्तद्रुतेरभावेन वेनस्तु क्षमोऽपि न ।। भ०र० २।५७

३- रजस्तमोविहीना तु भगवद्विषया मतिः ।
सुखाभिव्यंजकत्वेन रतिरित्यभिधीयते ।। भ० र० २।५८

४- भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमित्यभिधीयते ।.... भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि साधनमभिधीयते ।
--भ०र० (टीका) पृ० २२ ।

५- भ० र० (टीका), पृ० २

भेद का कारण है कि तत्वज्ञान के अनन्तर जहां ब्रह्मात्मा की अनुभूति होती है वहां भक्ति में भगवदाकारता की । तत्वज्ञान के लिए निर्वेद आवश्यक है तथा 'तत्वमसि' आदि वेदान्त वाक्य उसके साधन है किन्तु भक्ति के लिए निर्वेद अनिवार्य नहीं । भगवान के गुणों का श्रवण एवं कीर्तन ही उसके साधन हैं । तत्वज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति तथा भक्ति का फल भगवद्विषयक प्रेम प्रकर्ष है । भक्ति के लिए चित्त की द्रुति अनिवार्य किन्तु तत्वज्ञान का आश्रय अद्रुतचित्त है । भक्ति का अधिकारी जीवमात्र है किन्तु तत्वज्ञान के अधिकारी साधन चतुष्टय सम्पन्न परिव्राजक ही केवल हैं ।[1]

मधुसूदन सरस्वतीने चित्त की द्रवावस्था को महत्व देकर भक्ति की नवीन ढंग से व्याख्या की । श्री रूपगोस्वामी ने अपने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति तत्व का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है । पूर्व विभाग में भक्ति के भेद प्रभेद का निरूपण करते हुए भक्ति को मुख्यतः चार प्रकार की बताया है -- १- सामान्या, २- साधनभक्ति, ३- भावाभक्ति, ४- प्रेमनिरूपिका । मुक्ति आदि की अभिलाषा न करता हुआ साधक जब केवल कृष्ण की भक्ति के लिए ही उनका बारम्बार अनुशीलन करता है तब वह 'उत्तमा' भक्ति कहलाती है -- यही सामान्या भक्ति है । 'यह क्लेशघ्नी , शुभदा,मोक्षलघुताकरी, सुदुर्लभा सान्द्रानन्दविशेषात्मा और श्रीकृष्णाकर्षिणी' है । भगवद्रति के किंचिन्मात्र भी हृदय में उदित होने पर चारों ही पुरुषार्थ तृण के समान प्रतीत होने लगते हैं । यह दुर्लभा इसलिए कही गयी है कि क्योंकि भक्ति उसी को प्राप्त होती है, जिस पर ईश्वर की कृपा होती है । दूसरे प्रकार की भक्ति साधन भक्ति है जिसके द्वारा साधक भाव और प्रेम भक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है । ईश्वरीय गुणों का श्रवण,कीर्तन,वन्दन आदि सब इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं । इस साधन भक्ति के दो अंग हैं -- १- वैधी, २- रागानुगा । शास्त्र के आदेश से कर्तव्यबुद्धि द्वारा उत्पन्न होने वाली भक्ति वैधी भक्ति कहलाती है । इस वैधी भक्ति की प्रेम की पूर्वावस्था में आवश्यकता रहती है,

---

१- भ० र० (टीका) पृ० ८२-८५

क्योंकि चित्त के प्रेमाप्लावित हो जाने पर साधक स्वत: ही ईश्वर में सदा आसक्त रहना चाहता है । रागानुगा भक्ति में साधक स्वभावत: कृष्ण से अनुराग करता है । इसके भी दो भेद-- १- कामानुगा और २- सम्बन्धानुगा हैं । कामानुगा भक्ति की समस्त चेष्टाएं श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही होती हैं । व्रजांगनाएं इस भक्ति का उदाहरण हैं । सम्बन्धानुगा भक्ति में साधक कृष्ण के साथ अपना कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । वह अपने को कृष्ण के माता,पिता,सखा, सेवक आदि विभिन्न रूपों में देखता है । तीसरी भक्ति भाव भक्ति है । ईश्वर प्राप्ति की अभिलाषा द्वारा चित्त को स्निग्ध करने वाली मनोवृत्ति का नाम भाव है । यह प्रेम शुद्ध सत्त्वमय होता है । इस भावभक्ति के भी तीन प्रकार हैं -- १- साधनाभि निवेशज, २- कृष्णतद्भक्तप्रसादज और ३- कृष्णप्रसादज । इस भावभक्ति के हृदय में प्रादुर्भूत होने पर चित्त में क्षान्ति(किसी भी प्रकार के क्षोभ के रहते हुए भी चित्त का चंचल न होना) अव्यर्थकालत्व(अपने समय को ईश्वरीय कार्यों के अतिरिक्त कार्यों में लगाकर व्यर्थ न करना ।विरक्ति (लौकिक एवं पारलौकिक समस्त भोगों के प्रति विराग) , मानशून्यता(मान का त्याग),आशाबन्ध(भगवान के प्राप्त होने की दृढ़ आशा), समुत्कण्ठा (ईश्वर भक्ति प्राप्ति के लिए तीव्र इच्छा) नामगान में रुचि, भगवान के गुणकथन में आसक्ति और उनके निवासस्थल में प्रीति -- ये नौ अनुभाव होते हैं ।

इस भावभक्ति के पूर्व साधन भक्ति रहता है,क्योंकि विभिन्न साधनों के उपरान्त ही ईश्वरीय कृपा के अनन्तर भावभक्ति का प्रादुर्भाव होता है । अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण प्रकार की भक्ति `प्रेमभक्ति' है । चित्त के निर्मल,शुद्ध एवं ईश्वर के प्रति ममत्व युक्त हो जाने पर इस प्रेम का उदय होता है । इस प्रेम भक्ति के दो रूप -- भावोत्थ और प्रसादोत्थ हैं । प्रेम का उदय भाव के परिपक्व होने पर होता है । भावोत्थ भक्ति वैधी भावोत्थ और रागानुगभावोत्थ तथा प्रसादोत्थ भक्ति माहात्म्यज्ञानयुक्त और केवलाभेद से दो प्रकार की होती है । विधि मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक का प्रेम महिमा ज्ञान से युक्त तथा राग पर आश्रित भक्त का प्रेम केवल (शुद्ध) होता है । इस प्रकार प्रेमभक्ति में सर्वप्रथम शास्त्र श्रवण द्वारा श्रद्धा और विश्वास फिर साधु संगति तथा इसके अनन्तर भजन क्रिया उत्पन्न होती है । इन क्रियाओं द्वारा

समस्त जनों से मुक्ति मिल जाती है । फलस्वरूप स्वभावतः ईश्वर में निष्ठा और रुचि उत्पन्न होती है । रुचि होने पर आसक्ति,तदनन्तर भाव और अन्त में प्रेम का उदय होता है । प्रेमभक्ति युक्त साधक का चित्त किसी भी प्रकार के विघ्न से किंचिन्मात्र भी बलाघात नहीं होता । यह प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है ।

रूपगोस्वामी ने समस्त स्थायीभावों की गणना रति के अन्तर्गत ही की है । श्रीकृष्ण विषयक रति स्थायी के इन्होंने मुख्या और गौणी-- ये दो भेद बताकर मुख्या के अन्तर्गत स्वार्थ ,परार्थ के अलावा शुद्धा,प्रीति, सख्य,वात्सल्य और प्रियता भेद-- किए हैं । गौणी के हास,विस्मय,उत्साह, शोक, क्रोध, भय,जुगुप्सा--ये सात भेद किए हैं । शुद्धा के सामान्या,स्वच्छा और शान्ति -- ये पुनः तीन भेद किए गए हैं । बिना किसी विशिष्ट कारण के सामान्य भजन आदि के द्वारा जिसमें रति उत्पन्न होती है वह 'सामान्या' है । विभिन्न प्रकार के भक्तों की संगति के अनुसार जब चित्त में भक्ति उत्पन्न होती है,तब उसे 'स्वच्छा' कहते हैं । विषय वासना,ममता आदि से रहित, निर्विकार भाव से शम प्रधान अन्तःकरण वाले साधक की परमात्मा कृष्ण में होने वाली रति को शान्त रति कहते हैं[1]। हास्यादि समस्त रसों का कृष्ण भक्ति के अनुसार वर्णन करते हुए इन सातों रसों में किसी एक के द्वारा ईश्वर का भजन सम्भव बताया गया है ।

पश्चिम विभाग में भक्ति के पांच मुख्य भेदों को बताकर[2] गौण भक्ति रसों के अन्तर्गत हास्यादि का वर्णन किया है[3]। किन्तु इन सातों रसों का वर्णन कृष्ण से सम्बद्ध है । निरपेक्षरूप से किसी भी रस का वर्णन नहीं है । उदाहरणस्वरूप वीर रस के वर्णन में युद्ध,दान,दया तथा धर्मवीर चारों का वर्णन करते हुए सुहृदों को ही युद्ध का आलम्बन बताया है ,क्योंकि उनमें कृष्ण के प्रति या कृष्ण का उनके प्रति राग सदैव बना रहेगा, शत्रु से उसका सम्बन्ध मान लेने पर रौद्र रस हो जायगा ।

१- ह०र०सि०, पृ० २८३-२८६ ।

२- वही०, पृ० ३१५ ।

३- वही०, पृ० ३६५- ४७२ ।

इसी प्रकार अन्य रसों के सम्बन्ध में भी कहा गया है ।

उज्ज्वल नीलमणि में लेखक ने मधुर भक्ति का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण विषयक शृंगार का ही चित्रण किया है । इस ग्रन्थ के वर्णनों को कृष्णपरक अर्थों में न लेने पर ये कोरे शृंगार के वर्णन ही प्रतीत होंगे । कृष्ण से सम्बद्ध होने के कारण ही मधुर रस को रसराट् की संज्ञा से विभूषित किया गया है ।

(ख) भक्ति के रसत्व की व्याख्या, भक्तिरस का स्वरूप, शान्त से भक्तिरस का साम्य--विभावादि, आनन्दानुभूति और अन्तिम लक्ष्य की दृष्टि से --

वेदों में जिस भक्ति का बीज रूप में प्राप्त होता है, वही भावना आगे चलकर भागवत में रसत्व के रूप में प्रतिष्ठित की गई मिलती है । तार्किक दृष्टि से देखने पर हम भक्ति के रसत्व का सर्वथा परिहार नहीं कर सकते । जब हम क्रोध, शोक, भय आदि स्थायी भावों का रसत्व में परिणति मान लेते हैं तो फिर अनुभव सिद्ध आनन्दरूप भक्तिरस को न मानना अपलाप होगा[1] । भक्ति 'भग्नावरण चित्' होने के कारण रस दशा ही है[2] । अन्य रसों की अपेक्षा सार्वजनिक न होने से भक्ति को रसत्वहीन नहीं कहा जा सकता है । सार्वजनानुभूत होने से किसी रस की रसात्मकता सिद्ध नहीं होती । शृंगारादि लौकिक रसों में विषयावच्छिन्न चिदानन्द के अंशमात्र का स्फुरण होता है किन्तु भक्तिरस में अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान का स्फुरण होने से आनन्द का आधिक्य रहता है । अतएव भक्तिरस केवल रस ही नहीं, प्रत्युत समस्त रसों में श्रेष्ठतम

१- क्रोधशोकभयादीनां साक्षात्सुखविरोधिनाम् ।
रसत्वमनुगतन्तथानुभवमात्रतः ॥
इहानुभवसिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रसः ।
जडेनैव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते ॥
--भ०र० २।७७-७८ ।

२- भग्नावरणाचिदेव रसः -- र०गं० पृ० ८८ ।

भी है[1]। मधुसूदन सरस्वती ने मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के देवादि विषयक रति भावमात्र है -- इस मान्यता को दूषित करके भक्ति के रसत्व की सुन्दर पुष्टि की है। उनके अनुसार भावमात्र कही जाने वाली देवादिविषयक रति परमानन्दस्वरूप परमात्मा से सम्बद्ध न होकर अन्य देवताओं से ही सम्बन्धित है। ये देवता परानन्द के प्रकाश से रहित जीवत्व विशिष्ट हैं[2]। भगवद्भक्ति-चन्द्रिका में भक्ति के रसत्व को स्पष्ट करते हुए यहां तक कहा गया है कि भक्ति पर अपर बोध के विपरीत सामरस्य की अभिव्यक्तिकारिणी है, वह आनंद की जननी परम प्रेम रूप परमानन्ददायिनी है[3]।

भक्ति को रसत्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय वैष्णव आचार्यों को है। प्राचीन शास्त्रकारों की दृष्टि में उपेक्षित भक्ति का शास्त्रीय विवेचन इन्हीं आचार्यों ने प्रारम्भ किया। भक्तिरस के सांगोपांग एवं शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु', 'उज्ज्वल नीलमणि' एवं मधुसूदन सरस्वतीकृत 'भक्तिरसायन' है। इन्हीं ग्रन्थों की परम्परा में आगे चलकर भक्तिरस तरंगिणी, अलंकारकौस्तुभ आदि ग्रन्थ प्रणीत हुए। वोपदेवकृत मुक्ताफल और जीवगोस्वामीकृत भागवत सन्दर्भ में भी भक्तिरस की चर्चा हुई। इस भक्तिरस की चर्वणा विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा कृष्णरति रूप स्थायीभाव के व्यक्त होने पर होती है[4]। विभावादि की सहायता से जब कृष्णरति रूप

१- इत्थंच लौकिकरसे शृंगारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरण-दानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोक्तचेतोवृत्तिलक्षणे भक्तिरसे त्वनवच्छि-न्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणदत्यन्ताधिक्यमानन्दस्य अतो भगवद्भक्ति-रस एव लौकिकरसानुपेक्ष्य परमरसिकैः सेव्यः।
-- शा०भ०सू० पर भ०चं० पृ० ८।

२- भक्तिरसायन-- २।७३-७४, पृ० २३६।

३- परमानासंग जनयति रतियां नियमतः। परस्मिन्नेवास्मिन् समरसतया ऽपश्यतिइमम्।
परप्रेमाद्वयेयं भवति परमानन्दमधुरा
पराभक्तिः प्रोक्ता इति रसास्वादनचणैः॥

४- स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः।
-- ह०र०सिं० २।५।२

स्थायी भक्त के हृदय में आस्वाद्य होता है तब उसे भक्तिरस की संज्ञा दी जाती है । भगवद्रति एवं शृंगाररस सम्बन्धी रति में विभिन्नता यह है कि भगवद्रति द्रुतचित्त की धारावाहिकी भगवदाकारा वृत्ति है और शृंगार की रति का सम्बन्ध दाम्पत्य भाव से है[1] । यही भगवदाकारा रति रस रूप में व्यक्त होती है । इस भक्ति रस के आस्वादन के लिए प्राग्जन्य एवं आधुनिक जन्म में सहृदय की भावना का होना आवश्यक है । इस भावना से भावित अन्तःकरण वाला व्यक्ति ही भक्ति का रसास्वादन कर सकेगा । चिदानन्द भगवान से सम्बद्ध रहने के कारण इस भक्तिरस में आनन्द का आधिक्य रहता है । अन्य रसों में पूर्ण सुख का संस्पर्श नहीं रहता । भगवद्भक्ति के सामने अन्य समस्त प्राकृत रस क्षुद्र कहे जायेंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे आदित्य के सम्मुख खद्योत कहा जाता है[2] । भगवान के द्रुतचित्त को ग्रहण कर लेने पर कुछ भी शेष नहीं रह जाता । अतः शास्त्रीय उपायों द्वारा मन की शुद्धि सम्पादित करनी चाहिए । भक्ति में तो स्वतः ही नवरसों का मिश्रण रहता है तथा अन्य रसों की भांति वह भी विभावादि से संयुक्त होकर चित्ररूपवद् रसत्व को प्राप्त होता है[3] ।

जिन साधनों द्वारा रति आस्वाद्य होती है, उन्हें विभाव कहते हैं । जिसमें रति उत्पन्न होती है, वह आलम्बन और जिन साधनों से रति उत्पन्न होती है, उन्हें उद्दीपन विभाव कहाते हैं । कृष्ण और कृष्ण के भक्त आलम्बन विभाव हैं[4] । श्रीकृष्ण नायकों में शिरोमणि और चौंसठ गुणों से युक्त है । उनका स्वरूप आवृत (अन्य वेषादि से आच्छन्न होने पर आवृत कहाता है) और प्रकट (वास्तविकरूप) भेद से दो प्रकार का है । कृष्ण धीरोदात्त,धीरललित और धीर प्रशान्त तथा धीरललित भेद से चार प्रकार के स्वभाव वाले हैं । कृष्ण

१- भ०र० २।३, १।३ ।

२- कान्तादिविषया वा रसाद्यास्तत्र नेदृशम् ।
   रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात् ।।
   परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
   खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ।।--भ०र० २।७७-७८ ।

३- भ०र० १।३ ।

४- ह०र०सि० २।१। १६ ।

भक्त के दो भेद साधक और सिद्ध तथा सिद्ध के दो भेद, संप्राप्तसिद्ध और कृपासिद्ध हैं ।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्ति का आलम्बन विभाव और स्थायीभाव दोनों ही भगवान हैं -- किन्तु इसमें आलम्बन विभाव और स्थायी भाव के एक होने की शंका नहीं करनी चाहिए । ईश और जीव की भांति बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव इसमें दृष्टान्तरूप है । बिम्ब ही उपाधि आदि के कारण प्रतीयमान होने से प्रतिबिम्ब कहा जाता है । यह समस्त संसार प्रभुमय है । परमानन्द भगवान भक्त के मन में प्रतिबिम्बित होकर स्थायिभावता को प्राप्त होकर रसत्व को प्राप्त करता है । अतः भगवदाकारता नामक स्थायी प्रभुरूप ही है और देवादिविषयक रति के आलम्बन भी प्रभु ही है । भक्तिरस के आश्रय भक्तगण है ।

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत कृष्ण के गुण (कायिक, वाचिक और मानसिक) चेष्टा (रास आदि की लीला, दुष्ट वध आदि) तथा प्रसाधन आते हैं ।

इस भक्तिरस के अनुभाव, नृत्य, गीत, जृम्भण , तनुमोटन आदि कहे गए हैं। उद्भासुर और सात्त्विक इसके दो भेद हैं । इनके और भी अनेक प्रभेद हैं । सात्त्विक भावों के स्निग्ध दिग्ध और रूक्ष-- ये तीन भेद किए गए हैं । स्निग्ध के मुख्य (कृष्ण के साक्षात् सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला भाव) और गौण (कृष्ण के प्रति किंचित् व्यवधान के अनन्तर उत्पन्न होने वाला भाव) -- ये दो भेद किए गए हैं । जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है--उन भक्तों के सात्त्विक भाव को दिग्ध और जो रति शून्य हैं--पर विस्मयादि के कारण उनमें जो भाव उत्पन्न होता है, उसे रूक्ष कहते हैं । व्यभिचारियों के अंतर्गत तैंतीस व्यभिचारियों का परिगणन किया गया है ।

भक्तिरस के स्वरूप-विश्लेषण से स्पष्ट है कि वह शान्तरस से पर्याप्त साम्य रखता है । शान्तरस के विभाव, अनुभाव एवं संचारी भक्ति में

१- भ०र०, पृ० १८

भी इसी रूप में ग्राह्य है । तत्वज्ञान,तपोवन, आश्रम,निर्जन वन,अनित्यरूप से समझा गया संसार आदि विभाव,आनन्दाश्रु से [illegible] दृष्टि, गद्गद् वचन,मन निश्चल आदि संचारी शान्त की भांति भक्ति में भी पाये जाते हैं । शान्त और भक्ति दोनों में ही विविध मनोकामनाओं का नाश,इन्द्रिय,मन आदि का निग्रह अपेक्षित रहता है । यौगिक क्रियायें जैसे नासिका के अग्र भाग में दृष्टि स्थिर करना,समाधि लगाना आदि भक्ति के क्षेत्र में भी उपयोगी हैं । यद्यपि यह कठिन साधना भक्ति की चरमावस्था में ही सम्भव है । कर्म एवं ज्ञान भक्ति तथा शान्त दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । कर्म द्वारा साधक ईश्वर को प्राप्त करता है । तथा ज्ञान द्वारा वह आत्मा और जीव के स्वरूप को समझता है । शास्त्रों के अध्ययन एवं चिन्तन के बाद ही तत्वज्ञान होता है और तभी साधक भक्ति में प्रवृत्त होता है । इसी के फलस्वरूप उसे संसार के मिथ्यात्व एवं क्षणभंगुरता का परिज्ञान होता है । तत्वज्ञान के अनन्तर वैराग्य की उत्पत्ति होती है । बिना वैराग्य के परमात्मा में चित्त की स्थिरता नहीं आती । जुगुप्सा नामक संचारी भाव का दोनों में ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । शान्त में प्रयुक्त जुगुप्सा सांसारिक आकर्षणों के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा का भाव पैदा करके साधक को संसार से विमुख करती है । भक्ति में भी यह जुगुप्सा रहती है, किन्तु उसका स्वरूप किंचित भिन्न है । भक्ति की जुगुप्सा के अंतर्गत भक्त अपने दोषों को भगवान के सम्मुख रखकर अपनी हीनता का प्रदर्शन करता है । स्पष्ट है कि भक्त का यह दोषदर्शन लौकिक आकर्षणों के प्रति विरक्ति के कारण ही सम्भव है ।

विषयपरांगमुखता,नित्यानित्यवस्तुविवेक,वैराग्य,शम,दम आदि दोनों में मात्रा भेद से ग्राह्य हैं । भक्ति एवं शान्त दोनों में ही निषिद्ध कर्मों के परित्याग की आवश्यकता है । गीता में भी कहा गया है कि काम,क्रोध और लोभ-- ये तीनों नरक के द्वार हैं और मनुष्य को अधोगति में ले जाते हैं । अतएव तीनों के त्याग के अनन्तर ही साधक साधना में अग्रसर हो पाता है[१] ।

१- एतैर्विमुक्त: कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर: ।
आचरत्यात्मन: श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।
--गीता १६।२२ ।

विषयों का सेवन विषयी पुरुष का संग तथा विषयों में सुखबुद्धि-- इन तीनों ही को हानिकर समझकर उनका परित्याग भक्ति एवं शान्त दोनों के ही साधक के लिए अनिवार्य है ।

भक्ति एवं शान्त की साधना के लिए साधक को नित्य नियमपूर्वक एकान्त सेवन का अभ्यास आवश्यक है । एकान्त में निष्काम भावपूर्वक परमेश्वर के नाम का जप और उनके स्वरूप का ध्यान ही उनकी साधना है । यह ध्यान साकार एवं निराकार किसी भी स्वरूप का हो परन्तु सत्कार एवं निष्काम भावपूर्वक ही होना चाहिए । एकान्त में आलस्य और विक्षेप-- ये दो बाधक हैं-- रहते हैं किन्तु मन ही मन ध्येय स्वरूप की वैराग्य पूर्वक आवृत्ति करते रहने पर उन पर विजय मिल सकती है । गीता में भगवान ने स्वयं बतलाया है कि मन एवं इन्द्रियों सहित शरीर को वशीभूत करके आशारहित एवं संग्रहरहित योगी को एकान्त स्थान में अकेले ही अपनी आत्मा को निरन्तर परमात्मा में केन्द्रीभूत करना चाहिए[1] ।

इन सामान्य बातों के अतिरिक्त रस के चरम लक्ष्य आनन्दानुभूति की दृष्टि से भी शान्त और भक्ति में साम्य है । पारलौकिक जगत को सम्बद्ध होने के कारण इनकी अनुभूति भी अलौकिक आनन्द की दात्री है । भक्ति एवं ज्ञान के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ साधक समस्त विषय-वासनाओं को तुच्छ समझकर मन करणों एवं शरीर द्वारा किए गए कर्मों को ईश्वरार्पित करके अपनी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को , भजन,कीर्तन आदि में व्याप्त करता हुआ परम आनन्द की अनुभूति करता है । समस्त भौतिक पदार्थों को वह तटस्थ भाव से केवल ब्रह्म की कृति के रूप में देखता है । आनन्दातिरेक के कारण साधक आत्मसम्पृक्त भावनाओं से अपने को सर्वथा पृथक् रखता हुआ चिदानन्दमय हो जाता है ।

आनन्दस्वरूप परमात्मा से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति,उन्हीं में जीवमात्र का लय होता है । अतः भक्ति एवं शान्त के माध्यम से साधक

१- योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।
-- गीता ६।१०

परमात्मतत्त्व के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करके आनन्द रूप बन सकता है और दुःख मात्र से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेता है । वेदान्त की दृष्टि से भी जीव परमात्मतत्त्व का अंश ही है । अतः भक्ति की साधना द्वारा जब साधक का दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है तो उसकी दृष्टि में जीवमात्र ही आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व दीख पड़ने लगता है । फिर जीव जन्य दुःख उसे अभिभूत नहीं करते । इस प्रकार अज्ञान एवं माया से उपहत जीव आवरण मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करता हुआ निर्विकार और आनन्द स्वरूप हो जाता है । सम्पूर्ण सचराचर संसार को परमात्मतत्त्व का विराट् रूप मान कर साधक प्रभु के दिव्य स्वरूप का आनन्द लेता हुआ स्वयं भी सत्यशिव-सौन्दर्यमय होकर भव जंजाल से मुक्त हो जाता है, इसी चरम स्थिति को प्राप्त करना मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है तथा इसी अवस्था तक साधक को पहुंचाने में शान्त एवं भक्ति-- दोनों ही सहायक हैं ।

(ग) शान्त और भक्ति रस-- काव्यशास्त्रकारों की दृष्टि में -- दोनों के स्थायी भावों के प्रकट विरोध का समाधान --

काव्यशास्त्रकारों ने भक्ति के रसत्व को स्वीकार नहीं किया है । दण्डी आदि आचार्यों ने भक्ति को असम्प्रयोगिकी रति का ही एक रूप मानकर उसे प्रेयान के अन्तर्गत रखा है[1] । मम्मट[2], जयदेव[3], विश्वनाथ[4], जगन्नाथ[5] जैसे प्रमुख

१- काव्यादर्श २।२७५-७६ ।

२- काव्य प्रकाश४।३५-३६ ।

३- चन्द्रालोक ६।१४

४- सा० द० ३।२६०-२६१ ।

५- रस गंगाधर, पृ० १७५ ।

आचार्यों ने देवादि विषयक रति को भाव की कोटि में रखा है । हेमचन्द्र तथा शार्ङ्ग देव ने उसे सामान्य भक्ति का ही प्रकार विशेष माना है[1]। आचार्य अभिनव ने चार पुरुषार्थों के आधार पर केवल नौ ही रस स्वीकार किए हैं[2] अत: भक्ति उनको भी भावरूप में ही मान्य है । उसका अन्तर्भाव उन्होंने धृति,मति, स्मृति तथा उत्साह में करके भक्ति रस का शान्त में अन्तर्भुक्त कर लिया है[3]। भक्ति रस का निराकरण करने वाले आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ का नाम भी उल्लेखनीय है । वे भक्ति और शान्त में भेद उनके स्थायी भाव अनुराग एवं वैराग्य के आधार पर करते हैं । अनुराग और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं । अत: भक्ति और शान्त में भी अन्तर होता है। मधुसूदन सरस्वती ने भी शान्त और भक्ति में अभेद स्थापित करते हुए भक्ति का सम्बन्ध द्रुत चित्त व्यक्ति से और शान्त का सम्बन्ध अद्रुत चित्त व्यक्ति से माना है । मोक्ष पुरुषार्थ को देने वाला शान्त ज्ञानमार्ग से सम्बद्ध है तथा उसका उद्गम वैराग्य से होता है । वेदान्तोपनिषद् के अनुशीलन एवं श्रवणादि से नित्यानित्य वस्तु का विवेक हो जाता है जिसके फलस्वरूप साधक ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होता है । भक्ति का सम्बन्ध जहां भावना से है वहां शान्त का संबंध ज्ञान से अधिक है । शम का लक्ष्य सांसारिक विषयों से मन को हटाकर मोक्षपरक व्यापारों में लगाना है । यह शम भाव परमब्रह्म पर ही केन्द्रित है । मन की

१- स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषा:..... अनुत्तमस्योत्तमे रति: आसक्ति: । सैव भक्ति पदवाच्या । काव्यानुशासन(टीका) पृ० ८१ ।
रतिर्भेदोहि भक्तिस्नेहो तृगोचरौ -- संगीत रत्नाकर , पृ० ८२७ ।

२- एते नवैव रसा: पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात् ।
-- अ०भा०,पृ० ३४१ ।

३- अतएवेश्वरप्रणिधान विषये भक्ति श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहानुप्रविष्टेभ्यो - न्यथैवांगमिति न तयो: पृथग्रसत्वेनगणनम् ।
-- अ०भा०, पृ० ३४० ।

निर्विकारता इसमें अनिवार्य है । आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए शोक,मोह आदि को मन से बहिष्कृत करना आवश्यक है । शम उस अवस्था का पोषक है, जहां पहुंचकर साधक को अद्वैत सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है । इसमें भगवान और उसके भक्त के बीच द्वैत भावना अमान्य है, भक्ति में ज्ञान की अपेक्षा भावना की तीव्रता है । इसी से शान्त की भांति मनोविकारशून्यता इसमें नहीं पाई जाती । इसमें साधक की चित्तवृत्ति निर्गुण की अपेक्षा भगवान के सगुण रूप पर अधिक टिकती है । भक्ति में ईश्वर और साधक के बीच द्वैत भावना भी इसी कारण मान्य है ।

भक्ति एवं शान्त में अन्य अनेक बातों का साम्य होते हुए भी भक्ति के अनुराग मूलक और शान्त के वैराग्य मूलक होने से दोनों में विभेद की बात उठती है । किन्तु ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक का भक्ति के प्रति यह अनुराग, उसकी वैराग्य भावना के कारण ही उदित होता है । वैराग्य रहित अनुराग मूल भक्ति का सम्बन्ध लौकिकता से होगा । भक्ति का उत्कृष्टतम रूप तभी प्रकट होगा, जब साधक के अन्तस् में परमात्मा के प्रति ऐकान्तिक एवं निष्काम भक्ति होगी । इसी कारण हमारे समस्त भक्ति सम्बन्धी शास्त्रों में निष्काम भक्ति के प्रतिपादन को महत्त्व दिया गया है । बिना विरक्ति के इस निष्काम भावना का उदय कैसे होगा ? सकाम भक्ति तो विषयभोग, ऐश्वर्य,यश प्राप्ति आदि के निमित्त की जाती है । अतः उसका स्तर निष्काम की अपेक्षा निम्न है । निष्काम भक्ति का प्रतिपादन गीता में स्वयं भगवान ने किया है । किन्तु सम्पूर्ण भावनाओं का परित्याग कर केवल भगवद्परायण होने के लिए क्या वैराग्य-भावना का निरसन किया जा सकता है? लौकिक उपकरणों के प्रति विरक्ति ही ईश्वरानुरक्ति को जन्म देती है । भक्ति के द्वारा धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष -- इन चारों पुरुषार्थों तथा सालोक्य सामीप्य आदि पांचों प्रकार की मुक्तियों में जो तुच्छ ब बुद्धि उत्पन्न होती है--उसका भी कारण वैराग्य ही है । अतः अनुराग मूला भक्ति और वैराग्यमूलक शान्त परस्पर भिन्न न होकर अन्योन्याश्रित हैं ।

इस प्रकार से लौकिक दृष्टि से शान्त पारलौकिक भक्ति के लिए पीठिका है । शम का उदय अन्य लौकिक भावों व के विलय का द्योतक है , भक्ति का बीज इसी शम की भूमि में अंकुरित हो सकता है । लौकिक काव्यशास्त्र

को शान्त रस पारमार्थिक काव्यचित्रण के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है । एक प्रकार से वह लौकिक और पारमार्थिक के बीच की कड़ी है, विषय जगत् और परमार्थ विषयी के बीच की शून्य बिन्दु है । लौकिक काव्यचिन्तन में उसका महत्त्व यदि निषेधात्मक है तो भागवत काव्यचिंतन में विध्यात्मक ।

(घ) शान्त की व्यापकता में भक्ति का अन्तर्भाव-- भक्ति के अनुराग के मूल में निहित वैराग्य --

भक्ति और शान्त में पर्याप्त साम्य तथा उनके परस्पर सम्बन्ध को देखते हुए शान्त में भक्ति का अन्तर्भाव ही उचित प्रतीत होता है । लौकिक दृष्टि से शान्त का क्षेत्र भक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है । भक्ति देवपरक रति का नाम है , उसमें केवल परमात्मा के अनुध्यान की प्रतिष्ठा ही महत्त्वपूर्ण है , संसार के प्रति उदासीन होने का आग्रह उतना तीव्र नहीं रहता जितना कि शान्त में रहता है । इस प्रकार भक्ति शान्त की प्रथम शर्त है, शान्त के चरम शिखर तक पहुंचने के लिए भक्ति की प्राथमिक आवश्यकता रहती है । सांसारिक प्राणियों को अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को सात्त्विक एवं शुद्ध करने के लिए भक्ति रूप साध्य के ध्यान की आवश्यकता है । भगवान के चरणों में अपने को समर्पित करके क्रमश: उनकी भक्ति करते हुए जीव की चित्तवृत्तियां निर्मल हो जाती हैं, परमात्मा के प्रति यह अनुराग अन्य समस्त लौकिक विषयों के प्रति उसमें वितृष्णा के भाव उत्पन्न कर देता है । भक्ति में हमारी दृष्टि ईश्वर के माधुर्य अथवा सौन्दर्य पर ही अवलम्बित रहती है, शान्त में साधक कुछ आगे बढ़ जाता है, उसमें निर्वेद भाव का प्राबल्य हो जाता है, आत्मग्लानि प्रकट होती है और वह परमात्मा के अतिरिक्त शेष समस्त सृष्टि के प्रति उदासीन हो जाता है । इस अवस्था में पहुंचकर साधक किसी निर्विकल्पक रूप में परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है -- किसी लीलाविस्तारी रूप में नहीं । इस दृष्टि से भगवद्भक्ति शान्त का एक आवश्यक अंग बन जाती है ।

शान्त में यथाकथित योग अथवा समाधि का भक्ति से कोई विरोध नहीं है । धारणा, ध्यान तथा समाधि -- ये तीनों योग सूत्र में योग के अंतरंग साधन कहे गए हैं । ध्येय पदार्थ में चित्त को संलग्न करना धारणा तथा ध्येय में चित्त को स्थिर करना ध्यान है । ध्यान सिद्ध होने के बाद जब साधक को केवल ध्येय की ही प्रतीति होती है वह उसी में तन्मय हो जाता है तब समाधि की अवस्था आती है । भक्ति का लक्षण भी इससे भिन्न नहीं) सर्वेश्वर भगवान में भगवद्धर्मों के अनुष्ठान[1] से द्रवित हुए मन की धारावाहिकता को प्राप्त वृत्ति ध 'भक्ति' कहलाती है यम-नियम आदि के द्वारा इन्द्रियों को संयमित करके भगवान के गुणों का श्रवण भगवद्धर्म है । भगवद्धर्म से पवित्र होकर मन जब अखण्ड धारा के रूप में परमात्मा में स्थिर एवं तन्मय हो जाता है तो वह वृत्ति भक्ति कहलाती है । शाण्डिल्य तथा नारद ने भी ईश्वर में अखण्ड प्रेम प्रवाह को 'भक्ति' का नाम दिया है । अत: भक्ति और समाधि में विरोध नहीं । ईश्वर की भक्ति से यह योग समाधि सिद्ध होती है ।

शान्तरस के स्थायी भाव में वे सभी विशेषताएं सन्निहित हैं , जो भक्ति-रस के लिए आवश्यक हैं । आत्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान और भक्ति परस्पर एक-दूसरे के उपकारक हैं । प्रारम्भ में साधक के लिए अपेक्षित एकाग्रता, मनन , चिन्तन आदि सगुण ब्रह्म की आराधना द्वारा सम्भव हो पाते हैं। चित्त के निर्मल होने पर तत्त्वज्ञान का आविर्भाव होता है और साधक आध्यात्मिक चिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है ।

श्रुतियों में परमात्मा को रस रूप माना गया है । भक्ति के प्रभाव से 'रसो वै स:' का ज्ञान हो जाने पर सांसारिक बन्धन स्वत: नष्ट हो जाते हैं , संसार तिरोभूत हो जाता है और इस प्रकार की रस दशा में मुक्ति भी तुच्छ प्रतीत होने लगती है । भक्ति की यह अन्तिम अवस्था ही शान्त की अवस्था है । इस प्रकार भक्ति के सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान शान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं । भक्ति एक प्रकार से शान्तरस का आराध्य या साध्य भाव है । उसके समस्त उपकरण शान्त से सम्बद्ध हैं तथा वह शान्त को रसत्व कोटि तक

१- भ० र० १।२

पहुंचाने में सहायक है । अत: उसे पृथक् रस न मानकर शान्त के ही अन्तर्गत मानना युक्तिसंगत है । अधिक से अधिक उसे शान्त की चरम परिणति कहा जा सकता है । लौकिक दृष्टि से भक्ति शान्त को पुष्ट करने वाली मनोदशा भी कही जा सकती है ।

(३०) भक्ति-रस के विभिन्न अंगों-- शान्त,दास्य,सख्य,वात्सल्य,माधुर्य-- इन सब के मूल में निहित शम स्थायी --

भक्ति रस के समर्थक आचार्य रूपगोस्वामी ने शान्त को भक्ति की सबसे नीची स्थिति बताते हुए भक्ति रस के पांच मुख्य भेद बताये हैं -- शान्त,प्रीति,प्रेयान, वत्सल और मधुर[१] । मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्ति रसायन में तीन शुद्ध भक्तिरस, सात मिश्रित भक्तिरस और छ: को भक्ति रस के अयोग्य बताया है । उनकी स्थापना है कि सोलह रसों में से शुद्ध भक्ति रस केवल तीन हैं -- १- विशुद्ध भक्तिरस , २- वत्सल भक्तिरस, ३- प्रेयान भक्तिरस[२] । इनमें किसी अन्य रस अथवा भाव का मिश्रण नहीं रहता । शृंगार, करुण, प्रीति, भयानक, अद्भुत,युद्धवीर और दानवीर -- इनके स्थायी भावों का भगवद्भक्ति के साथ मिश्रण सम्भव है अत: इन्हें मिश्रित भक्ति रस कहा है[३] । शेष छ: रस शुद्ध रौद्र,रौद्र भयानक,बीभत्स, धर्मवीर, दयावीर और शान्त भक्ति रस के सर्वथा अयोग्य हैं -- क्योंकि जुगुप्सा धर्मोत्साह और शम के आलम्बन भगवान नहीं हो सकते[४] । इस प्रकार वत्सल भक्तिरस एवं प्रीति भक्तिरस (जो कि मधुसूदन का प्रेयान भक्तिरस है)-- दोनों को ही मान्य है । केवल रूपगोस्वामी का मुख्य शान्तरस मधुसूदन सरस्वती को शुद्ध या मिश्रित किसी भी रूप में मान्य नहीं । मधुर रस को भी

१- हं०र० सिं० २१५ ६५-६८ ।

२- भ०र० २१३४-३५ ।

३- भ०र० २१३३ ।

४- भ० र० २१२८ ।

वे मिश्रित भक्तिरस की कोटि में रखते हैं तथा शृंगार को मिश्रित भक्तिरस के अन्तर्गत रखते हुए भी उसे सर्वश्रेष्ठ रस स्वीकार करते हैं, क्योंकि सम्भोग एवं विप्रलम्भ में ही रति का तीव्रतम रूप पाया जाता है[1]। यहां पर रूप गोस्वामी द्वारा निर्दिष्ट भक्ति के उपर्युक्त पांचों अंगों का पृथक विवेचन आवश्यक है। आगे चलकर हम देखेंगे कि मध्ययुगीन कवियों के काव्य में भक्ति के ये ही पांच रूप विभिन्न प्रकार से प्रस्फुटित हुए। यद्यपि भक्ति का कोई विशिष्ट अंग ही किसी कवि ने नहीं ग्रहण किया है। जैसे यदि किसी कवि की रचना में वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है तो भक्ति के अन्य चार अंग भी उसकी कृति में व्यक्त हुए हैं। मध्ययुगीन काव्यधारा में भक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है जिसमें अवगाहन करके हम भक्ति के किसी भी अंग का आस्वादन कर सकते हैं। कबीर आदि संत कवियों की रचनाओं में जहां हम एक ओर शुद्ध शान्त का आस्वादन करते हैं, वहां दूसरी ओर प्रेममार्गी कवियों में माधुर्य रस के प्रवाह में मग्न हो जाते हैं। रामकाव्य के अन्तर्गत विशिष्ट रूप से तुलसी की कृतियों में हमें भक्ति के अन्तर्गत दास्य का उत्कृष्टतम रूप देखने को मिलता है। कृष्ण काव्य में तो वात्सल्य के साथ ही माधुर्य एवं सख्य की अविच्छिन्न धारा दृष्टिगोचर होती है। भक्ति के इन पांचों अंगों का विवेचन इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है।

चित्त को स्थिर करके भगवान का चिन्तन करना शान्त भाव की उपासना है। ईश्वर को स्वामी एवं स्वयं को दास मानकर की गई साधना दास्य भाव की उपासना है। सखा रूप में ईश्वर का चिन्तन करने पर सख्य भाव और पुत्र रूप में चिन्तन करने पर वात्सल्य भाव की उपासना होती है। पति के रूप में परमेश्वर की आराधना मधुर भाव की साधना है।

भक्ति के प्रथम अंश शान्त को रस की संज्ञा देते हुए श्रीरूपगोस्वामी ने उसका स्थायीभाव 'शान्तरति' बतायाहै। इस भक्ति के आलम्बन विभाव स्वयं हरि श्रीकृष्ण और शान्त व्यक्ति हैं। शान्त को भी आत्माराम और

१- भ० र० २। ३८।

तापस दो भेद किए गए हैं । आत्माराम के अन्तर्गत सनक सनन्दनादि आते हैं । भक्ति के द्वारा निर्विघ्न मुक्ति की प्राप्ति होती है । अत: जो मोक्ष की इच्छा को त्यागकर विरक्त भाव से भजन करते हैं, वे तापस हैं । उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत उपनिषदों का श्रवण, विविक्त स्थान का सेवन, तत्त्व विवेचन ज्ञानी और भक्तों के संसर्ग -- ये असाधारण और चरण कमलों का सेवन, तुलसी गन्ध, शंखनाद, पुण्यशैल, कुमारण्य, सिद्ध क्षेत्र आदि साधारण भाव हैं । नासिका के अग्रभाग में दृष्टिनिक्षेप करना, ज्ञानमुद्रा का प्रदर्शन, द्वेष और प्रेम दोनों में समभाव का प्रदर्शन, ममता और अहंकार से रहित, मौन आदि साधारण अनुभाव हैं । निर्वेद, धृति, मृति, हर्ष, वितर्क आदि इसके संचारी हैं । रूपगोस्वामी शान्त और भक्ति रस में भेद करते हैं । सुख दु:ख द्वेषादि से रहित समस्त प्राणियों में समभाव रखना शान्तरस है । चित्त की इस निर्विकार स्थिति के कारण शम का नाटक में विरोध किया जाता है । किन्तु भक्ति के अंग शान्तारति स्थायी के रतियुक्त होने के कारण नाटक में उसका विरोध नहीं कियाजा सकता । धर्मवीरादि रस अहंकार शून्य होने पर इसी में अन्तर्भुक्त हो सकते हैं । रूपगोस्वामी शान्तिभक्ति रस को अन्य चारों की अपेक्षा सबसे नीची श्रेणी में रखते हैं । इसके विपरीत मधुसूदन सरस्वती उसका अस्तित्व ही नहीं मानते हैं । उनके अनुसार भगवद् भिन्न विषय ही शम का आलम्बन विभाव हो सकता है और भगवद्भिन्न विषय होने के कारण शान्त की भक्तिरसता सिद्ध नहीं होती ।

मधुसूदन सरस्वती की यह मान्यता संगत नहीं है । जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं भक्ति एवं शान्त में विरोध नहीं है । भक्ति शान्त को निष्पन्न करने के लिए आवश्यक उपकरण है । व्यापकता की दृष्टि से उसे हम शान्त में अन्तर्भावित कर लेते हैं । कबीर आदि की रचनाओं में यही शान्तरति पल्लवित होकर शान्त रस के रूप में दिखलाई पड़ती है । इन संत कवियों की कुछ रचनायें तो विशुद्ध शान्त से सम्बद्ध हैं और कुछ में भक्ति समन्वित शान्त का चित्रण प्राप्त होता है । तुलसी आदि सगुण भक्तों की कृतियों में भी अनेक स्थल ऐसे दिखलाई पड़ते हैं जहां केवल शम भाव की ही व्यंजना हुई है । ऐसे स्थलों पर कवि का वास्तविक प्रतिपाद्य यद्यपि भगवद्भक्ति ही रहता है किन्तु ईश्वर विषयक रति शम भाव का अंग होकर शान्तरस की ही पुष्टि करती है ।

वस्तुत: इन दोनों दृष्टियों में कोई भेद नहीं है, दो स्तरों पर दोनों बातें सही हैं लौकिक शान्तरस वस्तुत: भक्ति के अंगभुत शान्तरस से पृथक है, क्योंकि वह लौकिक स्तर पर है, पर पारमार्थिक शान्त भक्ति की ही एक अभिव्यंजना विशेष है ।

भक्ति का दूसरा प्रमुख अंग दास्य है । श्रीरूपगोस्वामी ने संभ्रम प्रीति(दास्य) सख्य और वात्सल्य-- इन तीन स्थायी भावों को स्वीकार करके प्रीति,प्रेयान् एवं वात्सल्य रसों की स्थापना की है । इस प्रीति भक्तिरस अर्थात् दास्य भक्ति का स्थायी संभ्रम प्रीति है । भगवान के माहात्म्य ज्ञान के अनन्तर चित्त में उत्पन्न होने वाले आदर कम्प को संभ्रम कहते हैं । प्रेम, स्नेह एवं राग -- ये क्रमश: उत्तरोत्तर वृद्धि की दृष्टि से इसकी तीन अवस्थाएं मानी गयी हैं । अनुग्राह्य की दासता एवं लाल्य के भेद से यह प्रीति रस क्रमश: दो प्रकार की मानी गयी है -- संभ्रम प्रीति और गौरव प्रीति । कृपाशक्ति एवं ज्ञान आदि के आकार भगवान तथा उनके भक्तजन इसके विषयालम्बन हैं । शान्त भक्ति में हरि चतुर्भुज कृष्ण के रूप में दिखाए गए हैं किन्तु दास्य में वे द्विभुज कृष्ण के रूप में ही आते हैं । उनके दास विश्वस्त प्रभुताज्ञानी एवं निदेशवशवर्ती हैं जो अधिकृत, आश्रित, परिषद् तथा अनुग कहलाते हैं[1] ।

इसके असाधारण उद्दीपन भगवदनुग्रह पदरज प्राप्ति तथा हरिभक्त संगति आदि हैं । साधारण उद्दीपन के अन्तर्गत भगवान का स्मित पूर्वक अवलोकन उनके गुणोत्कर्ष का श्रवण,मुरली, शृंग आदि के स्वर हैं । साधारण अनुभाव के अन्तर्गत सुहृद का आदर, उद्भास्वर, विराग आदि आते हैं और दूसरे असाधारण अनुभाव में ईर्ष्याहीन मैत्री, हरि प्रीतिनिष्ठता आदि हैं[2] । रोमांच आदि आठों सात्विक भाव भी इसमें पाये जाते हैं ।

निर्गुण संत काव्य एवं सगुण रामकाव्य में इस दास्यभक्ति का सर्वव्यापक रूप देखने को मिलता है । भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता

१- ह० र०सिं०, पृ० ३२६-३२८ ।

२- वही, पृ० ३३६-३३६ ।

'अनन्यता' है । इस अनन्य भावना के कारण साधक आराध्य के प्रति जितना उन्मुख रहता है उतना ही अन्य पदार्थों के प्रति तटस्थ भाव धारण कर लेता है । इस अनन्यता की प्राप्ति के लिए वह आत्मनिवेदनपरक भक्ति का आश्रय लेता है । इस आत्मनिवेदन की दशा में वह अपने पृथक् अस्तित्व को मिटाकर परमात्मा में ही तन्मय हो जाना चाहता है । किन्तु दास्य का भक्त सर्वत्र अपने स्वामी के माहात्म्य तथा अपनी तुच्छता से भी पूर्ण परिचित रहता है । अपने को अवगुणों की खान समझकर भी परमेश्वर की महानता के कारण अपने उद्धार के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है । भगवान की शरणागत भक्तवत्सलता के कारण भक्त पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है । कबीर एवं तुलसी की रचनाओं में इस दास्य भक्ति की विशाल राशि सन्निहित है । तुलसी की दृष्टि में तो दास्यभाव का इतना अधिक महत्व है कि दशरथ, कौशल्या आदि की भक्ति - वात्सल्य भाव प्रधान होने पर भी दास्यभावना से मिश्रित दिखलाई गई है । सुग्रीव एवं विभीषण राम के सखा होकर भी दास्यभाव से उनसे निवेदन करते हैं ।[1] दास्य भक्ति का उत्कृष्ट व्यापक रूप तुलसी में ही मिलता है । दास्य का स्थायी भाव संभ्रम प्रीति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करते हुए प्रेम, स्नेह तथा राग का रूप धारण करता है । शंकादि विरहित दृढ़मूल प्रीति को प्रेमा कहते हैं । इस प्रेम के कारण ही चित्त के सान्द्र द्रवण की स्थिति स्नेह कहलाती है । स्नेह तथा दु:ख में भी सुख उत्पन्न करने वाली स्थिति राग है । मधुसूदन सरस्वती ने सात मूल चित्तद्रुतियां मानी हैं । इनमें से स्नेह नामक चित्तद्रुति के दो रूप वत्सल-रति और प्रेयोरति (सेवक सेव्य भाव) किए हैं । इस प्रेयोरति को ही वे दास्य और सख्य दो वृत्तियां मानकर वे सख्य में भी सेवक सेव्य भाव की अनिवार्यता बतलाते हैं ।

सख्य भक्ति प्रेयोभक्ति का ही नामान्तर है । रूपगोस्वामी ने सख्य को प्रेयान रस का स्थायी भाव बतलाते हुए उसे विमुक्त संभ्रम रति कहा है जो क्रमश: प्रपंच, प्रेम, स्नेह तथा रागभेद से कई प्रकार की है । सहृदयों के हृदयस्थ ये सख्य स्थायी आत्मोचित विभावादि के संयोग से पुष्टहोकर ही प्रेयान रस कहलाता है । इसके आलम्बन हरि तथा उनके वयस्य है । भगवान हरि

१- रा० ४।२१।२,५।४५ ।

विषयालम्बन तथा हरिवयस्य आश्रयालम्बन है । उद्दीपन के अन्तर्गत [illegible],शृंग--वेणु वेणु आदि आते हैं । अनुभावों में उनकी क्रीड़ा हास्य है । यहां पर यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान कृष्ण के प्रति उनके सखाओं का स्थायी भाव तो सख्ययुक्त भक्ति है किन्तु भगवान हरि का जो अपने वयस्यों के प्रति [illegible] भाव रहता ह उसमें सख्य भाव के साथ ही वात्सल्य का भी प्राधान्य रहता है । हरि के वात्सल्य एवं भक्त की भक्ति के कारण ही सख्य नामक भावभक्ति की पुष्टि होती है । सख्य भाव के लिए यह आवश्यक है कि भक्त भगवान को स्वामी के रूप में न देखकर सखा के रूप में देखे । किन्तु इस सखा भाव के साथ ही भक्तिभाव की अभिव्यक्ति भी अनिवार्य है । इस सखा भाव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कृष्ण काव्य तथा रामकाव्य में देखने को मिलते हैं ।

शुद्ध भक्ति का एक अन्य अंग वात्सल्य रति भी है स्वीकृत हुआ है । पाल्यपालक भाव से समन्वित भगवद्रति जहां अभिव्यक्त होती है , वहां वात्सल्य भक्ति होती है । यह वात्सल्य माता पिता का सन्तान के प्रति स्नेह मात्र नहीं है । भक्ति के क्षेत्र में वात्सल्य इस संकुचित अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है । यहां वात्सल्य से तात्पर्य ईश्वर विषयक वात्सल्य है । अनुकम्प्य के प्रति अनुकम्पा करने वाले की संभ्रम आदि से रहित रति[1] । विषय एवं आश्रम में परस्पर पाल्यपालक होने के कारण आश्रय की चित्तवृत्ति अनुकम्पा युक्त स्नेह की कही जायगी । वात्सल्य में विषयालम्बन के प्रति आदरभाव अथवा माहात्म्यज्ञान नहीं रहता । इसी से वत्सल रति को संभ्रम आदि से रहित कहा गया है । इस वात्सल्य भक्ति के आलम्बन सर्वगुणसमन्वित कृष्ण एवं गुरुजन हैं । गुरुजनों में यशोदा,नन्द,रोहिणी आदि हैं[2] । बालरूप भगवान का शैशव चापल्य,रूप,वेष, लीला आदि उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं । आशीर्वाद देना , हाथ से अंगों का स्पर्श करना, आश्लेष आदि अनुभाव हैं । यशोदा नन्द आदि में यह रति स्वभावत: उत्कट रूप में प्राप्त होती है किन्तु अन्यों

१- ह०र० सिं० ३।४।२४

२- ह०र०सिं० वही०

में प्रेम के अनुसार उसकी भी दशाएं निर्धारित की जा सकती हैं ।

वात्सल्य भक्ति के क्षेत्र में सूर अन्यतम हैं । सूर की एक सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत वात्सल्य की विभिन्नता द्रष्टव्य है । वात्सल्यमयी माँ के हृदय की अभिव्यंजना उसके वात्सल्याभिभक्ति भक्ति के उद्गार सर्वत्र दर्शनीय है । तुलसी के काव्य में भी कौशल्या के वात्सल्य की सुन्दर व्यंजना हुई है[1] । दशरथ एवं कौशल्या राम के ब्रह्मत्व से भली भाँति अभिज्ञ हैं फिर भी राम के संयोग और वियोग में वात्सल्य भाव से अभिभूत हो जाते हैं । तुलसी ने श्रीराम की भक्तों के प्रति वत्सलता का चित्रण करके वात्सल्य का एक अन्य रूप भी उपस्थित किया है ।

भक्ति के अन्तिम अंग मधुर भक्ति का भक्ति के क्षेत्र में अन्यों की अपेक्षा व्यापक प्रयोग देखने को मिलता है । श्रीरूपगोस्वामी ने मधुर रस को सर्वश्रेष्ठ रस के रूप में स्वीकृत करते हुए उसे निवृत्त लोगों के लिए अनुपयोगी तथा दुरूह बताया है । उन्होंने `उज्ज्वलनीलमणि` नामक अपने ग्रन्थ में इसे मधुर अथवा `उज्ज्वल रस` का सांगोपांग निरूपण किया है । यह वर्णन वस्तुत: कृष्ण विषयक शृंगार ही है । इसका पक्ष शृंगार की ही भांति है किन्तु भक्तिपरक होने से यह परमानन्द प्रदायक है । स्नेह,सख्य,वात्सल्य आदि अन्य स्नेह बन्धनों में भावना की वह तीव्रता नहीं पाई जाती जो दाम्पत्य भाव के अन्तर्गत मिलती है । अत: आचार्यों ने इस मधुर भक्ति को मूर्द्धन्य रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है । इसका स्थायी `मधुरा रति` कहा है[2] । लीला वैदग्ध्य के आश्रय ही राधा एवं उनकी प्रेयसियां आलम्बन विभाव हैं[3] । मुरली निस्वनादि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष स्मित आदि अनुभाव तथा आलस्य उग्रता को छोड़कर सभी इसमें संचारी भाव हैं[4] । विप्रलम्भ और संयोग इसके दो भेद हैं । विप्रलम्भ के भी पूर्वराग ,मान,प्रवास आदि अनेक भेद प्रभेद हो सकते हैं । विप्रलम्भ के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती है । कृष्ण की लीला के आधार पर उनकी प्रकट-

---

१- गी० १।८,२।५१-५५ ।
२- ह०र० सिं० ३।५।१,६ ।
३- वही०, ३।५।३-४ ।
४- वही०, ३।५।५-६ ।

अप्रकट स्थितियों का विचार करते हुए रूपगोस्वामी ने संयोग एवं वियोग स्थिति का वर्णन किया है । कृष्ण तो परम शक्ति हैं वे कहीं भी विद्यमान अथवा अविद्यमान रह सकते हैं । संयोग और वियोग तो केवल लौकिक सम्बन्ध मात्र है ।

मध्यकालीन कवियों के काव्य में इस मधुरोपासना को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । सूफी , संत, रामकाव्य एवं कृष्ण काव्य सभी में मधुर भाव का प्रचुर प्रयोग उनके व्यापक क्षेत्र की ओर ही संकेत करता है । मधुर रस से सम्बद्ध स्थलों में शृंगार मिश्रित भक्ति रस का ही प्राधान्य है । अपने आराध्य का शृंगार निरूपण उनमें अवश्य मिलेगा परन्तु वह शृंगार सर्वत्र भक्ति का सहायक बनकर आया है । उन वर्णनों के द्वारा कवि भगवद्भक्ति की ही अनुभूति कराता है शृंगारिकता की नहीं । सूर,तुलसी,मीरा, कबीर, जायसी आदि सभी भक्त कवियों की रचनाओं से इस कथन की पुष्टि के लिए उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं । रीतिकालीन कृष्ण कवियों की रचनाओं में अवश्य ही ऐसे प्रसंग मिलते हैं,जिनमें शृंगार की प्रधानता रहती है तथा भक्ति गौण हो गई है किन्तु ऐसे प्रसंगों में कवि का प्रतिपाद्य शृंगार ही रहता है , भक्ति वहां पर केवल भावमात्र के रूप में चित्रित रहती है । हिन्दी कवियों में इस मधुर उपासना के विभिन्न रूप दिखलाई पड़ते हैं । कबीर जैसे कुछ कवियों की रचनाओं में परमात्मा को नायक अथवा पति एवं आत्मा को नायिका अथवा पत्नी मानकर भक्ति का प्रतिपादन किया गया है । व कहीं काव्य की नायिका पर परमात्मा एवं नायक पर आत्मा का आरोप हुआ है , कहां पर नायिका आत्मा और नायक परमात्मा के रूप में चित्रित किए गए हैं । माधुर्य भाव के अभिव्यक्तीकरण का एक अन्य रूप सूरसागर में उपलब्ध होता है जिसमें कि मर्यादावादी दृष्टिकोण से भगवान एवं ब उनकी प्रिया के शृंगार का निरूपण किया गया है । तुलसी के काव्य में मधुर रस की व्यापक अभिव्यंजना नहीं हुई है तथापि यत्र तत्र किंचित् शृंगार जो प्रयुक्त हुआ है, वह सर्वथा मर्यादित, परिष्कृत एवं भक्ति रस से आप्लावित है । कहीं-कहीं पर द्रष्टारूप भक्त के द्वारा

१- पद्मावत-- प्राक्कथन-- वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० ५१

भगवान की प्रेम लीला का भी वर्णन दृष्टिगत होता है[1] ।

भक्ति के उपर्युक्त पांचों प्रमुख अंगों का किसी-न-किसी रूप में परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करना ही अभीष्ट है । ~~परमात्मा से~~ यह सम्बन्ध ~~स्थापित करना ही~~ दास्य, सख्य आदि किसी भी रूप का हो सकता है । परमात्मा के प्रति अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त करने के लिए हम चाहे शान्त का आश्रय लें अथवा माधुर्य का, ईश्वर को हम सखा मानकर उनकी उपासना करें अथवा अपने को उनका सेवक बनाकर परन्तु इन समस्त भावनाओं की आधार-भूमि हमारा शम भाव ही है । ईश्वरोन्मुखता तभी सम्भव है जब हमारे अन्त:करण में वैराग्य भावना का उदय होता है । वैराग्य युक्त चित्त से ईश्वर के प्रति उन्मुख होने के पश्चात् ही उसकी विभिन्न भावनाओं से उपासना का प्रश्न उठता है । अन्यथा संसार में रहने वाला प्रत्येक प्राणी ही भगवद्भक्ति से पूर्ण कहा जायगा । भक्त एवं अभक्त का भेद वस्तुत: इसी वैराग्य अथवा शम भावना के कारण है । यह शम भावना केवल समाधिस्थ योगी में प्राप्त होगी -- ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। सामान्य जनों में भी शम भाव सम्भव है, भले ही उसकी मात्रा में भक्ति की क्रमिक प्रगाढ़ता के अनुसार भेद हो । अत: भक्ति के इन पांचों ही भेदों में शम भाव को माने बिना उनकी सार्थकता सिद्ध नहीं होगी । शम अथवा वैराग्य भावना से रहित अन्त:करण वाला साधक भक्ति का अधिकारी ही नहीं है ।

वस्तुत: भक्ति के उपरिदर्शित पांच भेद पारमार्थिक भेद नहीं हैं और उनका शान्त दास्य आदि में विभाजन भी लौकिक आधार पर नहीं है, यह विभाजन अनुभव के निर्विषयीकृत धरातल पर है, यह लौकिक रति, वात्सल्य या शम से भिन्न है । इसीलिए इनके आस्वादन में लौकिक रति आदि भाव बाधक हैं, साधक नहीं । पारमार्थिक साक्षात् अनुभव के स्तर पर इनके भेद तारतम्य की दृष्टि से ही महत्त्व रखते हैं । शम से क्रमश: माधुर्य तक (माधुर्य में भी विरह तक) उत्तरोत्तर गहराई और भगवदाकारता की तीव्र अनुभूति उत्कर्षपर पहुंचती जाती है ।

-0-

१- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ३०५-३०६ ।

अध्याय -- ४

--0--

प्राचीन साहित्य में शान्त रस

अध्याय -- ४

-0-

प्राचीन साहित्य में शान्त रस

(क) धार्मिक साहित्य -- वैदिक, जैन, बौद्ध

वैदिक साहित्य का मन्त्रभाग दृष्ट साहित्य अर्थात् साक्षात् अनुभूत सत्य या स्फूर्त ज्ञान माना जाता है, इसीलिए वह अपौरुषेय या ईश्वरकृत भी माना जाता है । यह स्वत: सिद्ध है कि भीतर के प्रकाश को बाहर के प्रकाश से जोड़ने का संकल्प जिस देववाद की भूमिका होगा, वह देववाद शान्त चित्तवृत्ति में ही प्रतिष्ठित हो सकेगा । वैदिक साहित्य में लौकिक सुख-दु:ख में अध्यात्म ओत-प्रोत है, वह जीवन से अलग नहीं है, उसमें लौकिक और आध्यात्मिक विभाजन करना ठीक नहीं है, क्योंकि वह जीवन-दृष्टि ऐसी है जो `एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' में विश्वास करती है ।

वैदिक देववाद की त्रिस्तरीय कल्पना मानवीय शक्ति की स्तर-रचना के आधार पर की गयी है, आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी इनके देववर्ग क्रमश: प्रकाश, बल और ममता के पोषक हैं और प्रकाश की आराधना के केन्द्र देवताओं के मन्त्रों में इसीलिए सबसे गहरे और ऊंचे आध्यात्मिक संकेत प्राप्त होते हैं । उदाहरण के लिए सविता, विष्णु, अदिति, वरुण, और बृहस्पति के मन्त्रों में यह बात स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है । प्रकाशवाही संकल्प और सत्यसन्ध

ध्रुत के कारण ही वैदिक जीवनदृष्टि समग्र एवं सहज दृष्टि थी, वह निषेधात्मक नहीं थी। वह सम्पूर्ण जीवन को विधिरूप में ग्रहण करता थी। इसी को सामने रख कर ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ब्राह्मणों में ऊपर से तो यह लगता है कि यज्ञ के विविध अनुष्ठानों का वर्णन और उनकी सार्थकता का विशद् विवेचन है, पर वस्तुत: वह समूचे जीवन को यज्ञमय रूप में ग्रहण करके जीवन के अभिप्राय का अनुसन्धान है। प्रत्येक प्रत्यक्ष अर्थ में एक परोक्ष अर्थ सन्निहित है, वह देवता को इष्ट अर्थ है, "परोक्ष प्रिया: देवा: प्रत्यक्षद्विष:"। ब्राह्मण भाग में एक प्रकार से भारतीय विचारधारा की पक्की नींव डाली गयी है।

आरण्यक और उपनिषद् इसी अनुसन्धान के आगे के चरण हैं, इनमें और अधिक समाहित चित्त से परम तत्व की खोज की गयी है और अत्यन्त प्रकट रूप में शान्त की सर्वोत्कृष्ट सामग्री यहां प्रचुर मात्रा में इसी से मिलती है। अमृतत्व के लिए खोज समस्त मर्त्य एवं मरण धर्मा भावों का परित्याग करके ही होती है, नचिकेता ऐहिक सुखों की नश्वरता भली भांति जानकर ही कहता है--

"हे यमराज ये भोग कल रहेंगे या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता, ये तो समस्त इन्द्रियों के तेज को जीर्ण करने वाले हैं। यह समस्त मर्त्य जीवन भी अल्प ही है, ये नाचगाने, साजबाज आपही को मुबारक रहें[१]।"

अमरत्व की प्राप्ति के लिए यह त्याग तो आवश्यक है ही, इसके अलावा चित्तवृत्ति की शान्ति आवश्यक है, कोरा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है[२]। चित्त शान्त तभी होगा, जब वह वीत शोक होगा। वीत शोकता भी भावशुद्धि से ही सुलभ होगी। ज्ञान और भाव का तादात्म्य ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का मूल आधार है। इसी को श्रद्धा और विश्वास का तादात्म्य भी कहा जा सकता है। अपनी सीमाओं से मुक्त होकर विश्व के साथ एकात्म्य स्थापित करते

१- श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
        सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेज: ।
    अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
        तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
            -- कठोपनिषद् अध्याय १ वल्ली १, श्लोक [illegible]

२- नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित: ।
    नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
            -- क० उ० १।२।२४ ।

ही तात्त्विक ज्ञान उद्भूत होता है और उसी को साक्षात् जीवन में उतारते ही साधनी वीत शोक हो जाता है -- एक ही वृक्ष पर व जीव और परमात्मा हैं, जीव देहात्म भाव में डूबने के कारण मोहग्रस्त रहता है और खिन्नता का अनुभव करता हुआ दीन भाव से शोक करता रहता है । जिस समय वह देह की सीमा को अतिक्रान्त करने वाली असीम ईश्वरीय शक्ति के साथ अपने को जोड़ लेता है, वह वीत शोक हो जाता है[१] । इसलिए सब के कारणभूत अविद्या के भी हेतु त्रिकालातीत, सम्पूर्ण अविभाज्य विश्वरूप देवता का ध्यान करके ही व्यक्ति बन्धनों से मुक्ति पाता है और ब्रह्मरूप हो जाता है[२] । साधक को यही सोचना चाहिए कि ' उस कलाहीन क्रियाहीन शान्त दोषरहित निर्लेप अमृतत्व के सेतु ईश्वर की शरण हूं जो निर्धूम अग्नि की तरह देदीप्यमान है[३] ।' 'उसी एक का दर्शन करने से शाश्वत शान्ति मिल सकती है, अन्यथा शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती[४] ।'

उपनिषदों में अनुग्रह या ईश्वरीय कृपा को भी परमावश्यक माना गया, एक प्रकार से भक्ति का बीज भी यहीं सन्निहित है । 'आत्मा जिसे वरण करे, जिसके सामने अपने स्वरूप का निवारण करे, उसी को प्राप्य है, प्रवचन, मेधा और श्रवण अकृतकार्य रह जाते हैं[५] ।'

आत्मतत्त्व के स्फुरण के पश्चात् अभेद दृष्टि उदित होती है और तभी साधक किसी से घृणा नहीं करता, किसी से बिछुड़न का दुःख नहीं महसूस

१- समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः ।।
--श्वेताश्वतर उप० अध्याय ४।७

२- आदिः स संयोग निमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ।।
--श्वेता० उप० अध्याय ६।५

३- निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ।।
--श्वे०उ०६।१९ ।

४- तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।
-- क०उप० अ० २।व२।१३ ।

५- नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।
--क०उप०अ०१।व०२।२३ ।

करता और न उसे किसी का मोह हो पाता है[1]। "ब्रह्म का यही परम रहस्य है कि वह दूध में घी की तरह अर्पित है, वह आत्मविद्या और तप का मूल है[2]।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य में हमारे जीवन की पारमार्थिक शमदृष्टि का सम्यक् निदर्शन मिलता है और हमारा समस्त परवर्ती साहित्य उससे बराबर प्रेरणा लेता रहा है ।

जैन और बौद्ध साहित्य में शान्त रस

जैन और बौद्ध साहित्य दोनों में श्रमणमार्ग पर ही विशेष बल दिया गया है, अत: स्वभावत: ही शम का महत्त्व सर्वाधिक रूप में प्रतिपादित है । अहिंसा, भूतदया, तितिक्षा, निरुद्वेग जैसे गुणों पर बुद्ध और महावीर की शिक्षाओं में समान रूप से बल दिया गया है । बुद्ध की शिक्षा में करुणा पर विशेष बल दिया गया है तब कि महावीर की शिक्षा में इन्द्रिय निग्रह और तितिक्षा पर दोनों ही निर्वाण और कैवल्य के लिए निवृत्ति आवश्यक मानते हैं । इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि दोनों के प्रतिपादित धर्मों का मूल आधार शम होने के कारण उनके चरित्र प्रधान काव्यों, कथानकों, अवदानों एवं नाटकों में शान्तरस का परिपाक पूर्णरूप में हो ।

"छेद सूत्र" जैन आगमों के प्राचीनतम भाग है । ये सूत्र चारित्रिक शुद्धता को स्थिर रखने के लिए प्रतिपादित किए गए हैं तथा इनमें निर्ग्रन्थ एवं निर्ग्रन्थिनियों की प्रायश्चित विधि का वर्णन है । आगम ग्रन्थों के ही अन्तर्गत "मूल सूत्र" में साधु जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों का उपदेश निबद्ध है । मूलसूत्र के अन्तर्गत "उत्तराध्ययन" आगम धार्मिक काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इसमें त्याग, वैराग्य एवं संयम का उपदेश दिया गया है । सन्मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए सरल दृष्टान्त द्वारा लेखक प्रेरित करता है । उसके अनुसार काम भोग कुश के अग्र भाग पर स्थित ओस के कण

१- यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत: ।
तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत: ॥ --ईशावास्य उप० ६-७ ।

२- सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ श्वेताश्व०उप०अध्याय१।१६

के समान है , आयु भी अल्प है अत: क्यों न कल्याण मार्ग को प्राप्त करने का प्रयास किया जाय[1]। इसी प्रकार अप्रमादयुक्त[2] होने एवं धर्माचरण के सम्बन्ध में भी विभिन्न उक्तियाँ प्राप्त होती हैं[3]। आगमेतर साहित्य के अन्तर्गत स्तोत्र, निबन्ध, कथा, चरित उपन्यास आदि विविध साहित्य की रचना हुई। यह साहित्य आगम साहित्य की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं तार्किकतापूर्ण है। कथा साहित्य में जैन आचार्यों ने धर्म कथा को ही प्रमुखता दी है। यद्यपि लोकप्रियता को दृष्टि में रखते हुए उसमें शृंगारादि का भी समावेश किया गया है। लोगों को सदाचरण में प्रवृत्त करना एवं असत्कार्यों के प्रति उनमें विरक्ति का भाव उत्पन्न कराना ही इनका ध्येय था। अत: इनकी कथाओं में सद्भाव, संयम, तप, त्याग, वैराग्य एवं दान आदि को मुख्यता देना स्वाभाविक ही है। इन सब का प्रतिपादन किसी मुनि अथवा केवली के माध्यम से करवाया गया है। उदाहरणस्वरूप हरिभद्र कृत 'समराइच्चकहा' (समरादित्यकथा) में ऐसे नायक-नायिकाओं की प्रेम कथा एवं उनके चरित्रों का वर्णन है जो संसार का परित्याग करके जैन दीक्षा ग्रहण करते हैं। कथा के मध्य में अनेक धार्मिक आख्यान[4] समाविष्ट हैं। कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया गया है।

कथा साहित्य के अन्तर्गत औपदेशिक कथाओं की अधिकता भी जैन साहित्य में सुलभ है। जिनमें उपर्युक्त तथ्यों का ही विश्लेषण मिलता है। जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए ही इस साहित्य की सृष्टि हुई है। हरिभद्रकृत

१- कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ।।
--उत्तरज्झयण, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६६ से उद्धृत ।

२- असंखयं जीवियं मा पमायए, जरोवणीयस्स हु णत्थि ताणं ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कन्नु विहिंसा अजया गहि ति ।।
--उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६६- से उद्धृत ।

३- जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविन्दिया न हायन्ति ताव धम्मं समायरे ।।
--दसवेयालिय (दशवैकालिक) प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १७८ से उद्धृत ।

४- प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४ ।

'उपदेशपद' में धर्म कथा द्वारा मन्द बुद्धि-जनों के प्रबोधनार्थ जैन धर्म के उपदेशों को लौकिक कथा के रूप में निबद्ध किया गया है[1]। जयकीर्ति कृत 'शीलोपदेशमाला'[2] में ब्रह्मचर्य पालन तथा उपदेशमाला[3] में वैराग्य को महत्ता दी गई है।

इन सब के अतिरिक्त 'चरित काव्य' भी जैन साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है, जिसके अभाव में जैन धर्म का सांगोपांग विवेचन अपूर्ण ही रह जाता। 'चरित काव्य' के अन्तर्गत जैन मुनियों ने महापुरुषों के चरितों की रचना की है। इन काव्यों में अधिकतर राम, कृष्ण और तीर्थंकर आदि के जीवन चरित हैं। जैन धर्म के उन्नायक आचार्यों के चरित की रचना भी इन कवियों ने की। पेउम चरित्र में रामकथा तथा 'वसुदेवहिण्डि' में वसुदेव के भ्रमण की कथा है। इसी प्रकार 'कुमारपाल चरित' में कुमारपाल का चरित वर्णन है साथ ही धार्मिक एवं नैतिक उपदेश भी संगृहीत हैं। आत्म त्याग, मोक्ष, गुरु पूजा आदि का विवेचन किया गया है। 'कुम्मापुत्त चरित्र' में महेन्द्र सिंह और रानी कुमा के पुत्र धम्मदेव के दो पूर्वजन्मों और केवल ज्ञान प्राप्ति की कथा है। दान, शील आदि की महिमा वर्णित है। इस कृति का लक्ष्य यह दिखाना है कि गृहस्थ रहकर भी केवल ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार धार्मिकता से सम्बद्ध अनेक काव्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

जैन साहित्य व धार्मिक भावना से विरहित काव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। संसार को नश्वर एवं दुःख बहुल बतलाकर जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करते हुए संसार के मिथ्यात्व का उपदेश देते हुए, इन्होंने इसके प्रति विरक्ति पैदा करने का प्रयास किया। सम्पूर्ण जैन साहित्य में शान्तरस ही पर्यवसायी रस के रूप में निबद्ध हुआ है। वैसे तो वीर, शृंगार एवं करुणा का भी चित्रण अधिक मिलता है किन्तु उनका प्रयोग प्रासंगिक रूप से हुआ है। अपनी रचनाओं को जनसाधारण के लिए सुगम बनाने के हेतु ही इन रसों का समावेश किया गया है --उनका प्रमुख प्रतिपाद्य निर्वेद ही है।

१-प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४६२।

२- वही०, पृ० ५०५।

३- वही०, पृ० ४६९।

धार्मिकता की दृष्टि से बौद्ध साहित्य भी जैनियों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं । इस साहित्य में विनय एवं धर्म सम्बन्धी बातें बुद्ध के उपदेश तथा बौद्ध धर्म में आस्था उत्पन्न करने वाली कथाएं ही मुख्यतया संगृहीत हैं । बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत `त्रिपिटक` का प्रमुख स्थान है । सुत पिटक का तो एकमात्र विषय भगवान बुद्ध के धर्म का परिचय कराना है । बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके शिष्यों ने बुद्ध वचनों के नाम से जिसका संपादन किया वह धम्म और विनय पिटक ही थे । उपनिषदों की भांति गम्भीर विचारों का इसमें भी समावेश किया गया है किन्तु इन पिटकों में विशुद्ध ज्ञान के साथ ही जीवन को भी प्राधान्य दिया गया है । बुद्ध कोई भी उपदेश देने के पहले यह देख लेते हैं कि अमुक व्यक्ति किस वर्ग का है । वह किसान है अथवा राजा या परिव्राजक । पुन: जिस कोटि का वह जीव होता है उससे परिचित जीवन से उपमाएं देकर वे उसे धर्म को स्वतः स्पष्ट करते हैं[1] । इसी प्रकार के नैतिक उपदेश सुत पिटक के अन्तर्गत विभिन्न सुत्तों में दिखलाई पड़ते हैं । इन सुत्तों की यह शैली रही है कि पहले कहानी या पृष्ठभूमि आती है और फिर बुद्ध के भावातिरेकमय उपदेशपूर्ण वचन व्यक्त किए जाते हैं । जातकों में भी यही प्रवृत्ति अन्य रूप में दिखलाई देती है । इसमें भगवान बुद्ध की पूर्व जन्म सम्बन्धी कथाओं के साथ ही विभिन्न नैतिक,धार्मिक एवं व व्यावहारिक कथाएं हैं ।

जनसाधारण के लिए उपयोगी `सुतपिटक` का यही विषय `अभिधम्म पिटक` में भी संगृहीत है किन्तु वह इसकी अपेक्षा अधिक व्यवस्थित तथा कुछ सीमित व्यक्तियों के लिए ही है । इसमें धार्मिक विषयों को सूक्ष्म विस्तार के साथ स्पष्ट किया गया है । "यदि यह देखना है कि निरन्तर परिवर्तनशील, अनित्य दु:ख और अनात्म धर्मों (पदार्थों) के प्रवर्तमान रहने पर भी संसार के सर्वश्रेष्ठ साधक और ज्ञानी पुरुष ने चित्त की निश्चल समाधि किस प्रकार सिखाई है, नियामक को न मानकर भी नियम को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है,ईश्वर प्रणिधान न होने पर भी समाधि का विधान किस प्रकार किया है, प्रार्थना न होने पर भी ध्यान को किस प्रकार टिकाया है,`अत्ता` (आत्मा) न होने पर

१- पालि साहित्य का इतिहास --भरतसिंह उपाध्याय,पृ०१२७ ।

भी पुनर्जन्मवाद को किस प्रकार अवलम्बित किया है, परम सत्ता के विषय में मौन रहकर भी गम्भीर आश्वासन किस प्रकार दिया है, यदि यह सब और इसके साथ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के महान मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी ज्ञान को उसकी पूरी विभूति के साथ देखना है तो अभिधम्म की वीथियों में भ्रमण करना ही होगा ।[1]

'विनय पिटक' की रचना संघ में प्रविष्ट हुए असंयमी तथागत द्वारा निर्दिष्ट धर्म के विपरीत आचरण करने वाले भिक्षुओं को दृष्टि में रखकर की गई है । इसका मूल आत्मसंयम है, कायिक, वाचिक एवं मानसिक -- तीनों ही प्रकार के संयम को महत्व दिया गया है ।

बौद्ध धर्म के उपर्युक्त मान्य ग्रन्थों में नीति विधान का आदर्श रूप रक्खा गया है । वे नैतिक गुण जो जनसाधारण के लिए तथा गृहस्थों के लिए आवश्यक हैं -- उन्हीं की पुष्टि इनमें की गई है । अतः यद्यपि इनमें काव्यगत नवीनता अन्य काव्य ग्रन्थों की भांति उतनी नहीं मिलती तथापि बौद्ध धर्म का सार्वदेशिक ज्ञान कराने में इनका प्रमुख हाथ है । बौद्ध धर्म का काव्यमय चित्रण हमें अश्वघोष की रचनाओं में देखने को मिलता है । उनके महाकाव्य सौन्दरनन्द का प्रतिपाद्य विषय बुद्ध द्वारा उनके सौतेले भाई अनिरुद्धनन्द के धर्म परिवर्तन की कथा है तथा बुद्धचरित बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध है । मातृचेत कृत 'शतपंचाशतिकस्तोत्र' में भी धार्मिक स्तोत्र सुन्दर काव्यशैली में निबद्ध किए गए हैं । बौद्ध कवि मनुष्य के कर्म फलों से सम्बद्ध कथाओं में रुचि रखते थे । किन्तु उन्होंने नैतिकता को महत्व देते हुए भी उसको संकुचित अर्थ में नहीं स्वीकार किया है । केवल नैतिकता की दृष्टि से देखे गये मानव कर्म-फलों का कोरा सिद्धान्त प्रतिपादित करना उन्हें अभीष्ट न था । बुद्ध के अनन्य उपासक होने के कारण वे बुद्ध के प्रति किए गए अपमान का भयानक फल मानते थे तथा इसके विपरीत बुद्ध एवं उनके अनुयायियों ~~के प्रति किए गए अपमान का भयानक फल मानते थे तथा इसके विपरीत बुद्ध एवं उनके अनुयायियों~~ के प्रति किए गए भक्ति के काम से मानव जीवन का कल्याण होता है ।[2]

बौद्धों की दृष्टि में अवदानों (महान कार्य का वर्णन करने वाली अथवा मनुष्य के भविष्य के कारणों को दिखाने वाली कथाएं) का स्थान भी महत्वपूर्ण है

१- पालि साहित्य का इतिहास -- भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ४६५ ।

२- A History of Sans. Litt., Keith, पृ० ६४-६५ ।

जातक कथाओं का वर्णन तथा प्रारम्भ निश्चित ढंग से होता है । बुद्ध के नैतिक उपदेश[1] को विस्तार से ग्रन्थ में स्पष्ट किए गए हैं[2] । साहित्यिक दृष्टि से दिव्यावदान अधिक महत्वपूर्ण है । बुद्ध ने अपने उपदेश कौशल द्वारा किस प्रकार हमारी प्रवृत्ति को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया, यही उसका वर्ण्य-विषय है । 'अवदानशतक' में धार्मिक उपगुप्त द्वारा कैसे मार के धर्मपरिवर्तन के नाटकीय उपाख्यान का अशोक के कथानक के भाग के रूप में वर्णन अतिस्वाभाविक[3] बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत आर्यशूर की जातकमाला में बुद्ध के पूर्व जन्म के कार्यों का उपदेशात्मक लघु कथाओं के रूप में संग्रह मिलता है ।

इस प्रकार वैदिक, जैन एवं बौद्ध तीनों ही कालों में केवल धार्मिक भावना को ही प्रश्रय मिला । वैदिक ऋचाओं में यह भावना आध्यात्मिक तत्त्व निरूपण के साथ ही अपने अभीष्ट उपास्यदेवों की गई स्तुतियों के रूप में प्राप्त होती है । अपने इष्टपूर्ति के निमित्त ऋषि-मुनि निष्कपट भाव से विभिन्न देवों का आवाहन करते हुए दिखाई देते हैं । जैन एवं बौद्ध साहित्य में स्वधर्म प्रचार की भावना अधिक पाई जाती है । अतः दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त नैतिक जीवन एवं सदाचार-पूर्ण उक्तियों का समावेश इनके साहित्य में हुआ । जितनी भी कथाएं उपदेश साहित्य में निबद्ध की गई वे सब धर्मपरक ही हैं । धार्मिक भावना को इतना अधिक महत्व देकर इन साहित्यकारों ने अपने परवर्ती लेखकों के लिए साहित्य-साधना की एक नई दिशा निर्देशित की । इन लेखकों की यह धर्म-भावना धीरे-धीरे पल्लवित होती हुई साहित्य के एक ऐसे वर्ग को जन्म देती है जिसमें केवल पारलौकिक एवं धर्म संबंधी बातों का ही चित्रण होने लगा तथा अन्य बातों को सर्वथा उपेक्षित कर दिया गया । इस प्रकार परवर्ती लेखकों के काव्य एवं नाटक में शान्तरस का समावेश हुआ और आगे हम देखेंगे कि इन्हीं के आधार पर संस्कृत नाटकों एवं काव्यों के एक ऐसे विशाल वर्ग की रचना हुई जिसमें केवल शान्तरस का ही चित्रण है । अतः साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित कराने में इन आचार्यों का प्रमुख महत्व है ।

१- वही०, पृ० ६४-६५ ।

२- वही०, पृ० ६५ ।

३- वही०, पृ० ६६ ।

( ) काव्यों और नाटकों में शान्त रस -- सामान्य

धार्मिक साहित्य के विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्म का चिन्तन एवं आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप विश्लेषण ही भारतीय विचारकों का प्रमुख लक्ष्य रहा है । फलस्वरूप इन सिद्धान्तों का चित्रण तत्कालीन साहित्य में होना स्वाभाविक ही था । यह समस्त प्रपंचात्मक संसार दुःखदायी है किन्तु विचित्रता इसकी यही है कि इन कष्टों के बीच से ही हमें शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होती है । जब इस असार संसार का घृणित रूप हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है, ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं तो इन विषयों के प्रति एक स्वाभाविक विमुखता का भाव उदित होता है । तब जिज्ञासु साधक इस सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्म की लीलामात्र समझ कर उसके प्रति तटस्थ हो जाता है । ऐसी स्थिति में आत्मा और परमात्मा का द्वैत मिट जाता है । इसी तत्त्वमसि सिद्धान्त के प्रतिपादक वेदान्त एवं उपनिषद् आदि तो हैं ही साथ ही परवर्ती साहित्य में भी उन तत्त्वों को किसी न किसी रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति बराबर दिखलाई पड़ती है । हमारे प्राचीनतम संस्कृत साहित्य का तो प्रमुख उद्देश्य ही आध्यात्मिक तत्त्वों का उद्घाटन करना था । जैसा कि आगे हम देखेंगे संस्कृत नाटकों एवं काव्यों में कुछ तो ऐसे हैं जिनमें केवल आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों का साहित्यिक ढंग से वर्णन किया गया है । इस प्रकार के शान्त रस के अन्तर्गत आने वाले नाटक एवं काव्यों में बड़े ही सरस ढंग से जीव के प्रबोधन का प्रयास इन साहित्यकारों ने किया है । इसके अतिरिक्त भी समस्त संस्कृत साहित्य में यत्र-तत्र प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे स्थलों का सन्निवेश मिलता है, जो किसी न किसी रूप में महनीय तत्त्वों से सम्बद्ध है और शान्तरस का आस्वादन कराते हैं । इसका मूलभूत कारण यही है कि यह समस्त साहित्य केवल लौकिकता की भावभूमि पर आश्रित न होकर अलौकिकता पर आधारित है । कुछ अपवाद अवश्य मिलेंगे किन्तु अधिकांशतः लौकिकता का चित्रण आध्यात्मिकता को स्पष्ट करने के हेतु ही हुआ है । गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान के लिए, सृष्टि को समझने के लिए आवश्यक है कि हम अपने सांसारिक जीवन का सूक्ष्मावलोकन करें जीवन की विषम गतिविधियों को समझें । केवल वासनापूर्ति के लिए अपने शरीर का पालन-पोषण करना घातक है, किन्तु जब हम उसको ईश्वर प्राप्ति का साधन समझकर उसे पुष्ट कर भगवदाराधना में लगाते हैं तब वही शरीर परम उपयोगी

हो जाता है । संसार के बीच रहकर ही मनुष्य सांसारिक प्रपंचों की उपेक्षा भी सम्भव रहता है । अतः संस्कृत वाङ्मय में भौतिकता का चित्रण हुआ अवश्य है किन्तु उसमें कहीं भी उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं मिला है । वह हमें उस भावभूमि पर ले जाता है जहाँ विभिन्न विकारों से परामुक्त होकर हम शान्ति का अनुभव करते हैं । महर्षि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण, भारवि आदि की रचनाएं इसका निदर्शन हैं ।

संस्कृत साहित्य का मूलाधार रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत ये ग्रन्थ त्रय हैं । इन्हीं तीनों ग्रन्थों की विषय वस्तु एवं कवि के दृष्टिकोण परवर्ती साहित्यकारों के साहित्य की आधारशिला है । महर्षि वाल्मीकिकृत आदि काव्य रामायण में रामकथा के माध्यम से माता-पिता, पति-पत्नी, भाई आदि के आदर्श स्वरूप को उनके कर्तव्यों की सरल ढंग से पाठक तक पहुंचाने का सफल प्रयास किया गया है । श्रीराम आदर्श पुरुष, शील, सदाचार की प्रतिमूर्ति एवं दिव्य पुरुष के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । भाग्य संकट उपस्थित होने पर भी वे न अप्रिय * बोलते हैं और न कर्तव्य विमुख होते हैं । राज्य त्यागने तथा वन गमन की बात सुनकर भी उनके चित्त में किंचित् मात्र विक्रिया नहीं होती । यही नहीं, राम समस्त नैतिक क्रिया-कलापों के आदर्श हैं । राम के त्याग और वैराग्यमय अलौकिक स्वरूप के कारण ही वाल्मीकि सर्वत्र उस व्यक्ति की निन्दा करते हैं जो राम से विमुख हैं । सारी मानवता धर्म बन्धन से परस्पर बंधी है अतः मनुष्य नैतिकता का आश्रय लेता है, एक दूसरे का ध्यान रखता है ।

महाभारत शान्तरस की उद्भावना करने वाला प्रथम महान ग्रन्थ है जिसके रचयिता कृष्ण द्वैपायन स्वयं भगवान नारायण रूप माने गए हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष -- इन चारों पुरुषार्थों पर विवेचन प्रस्तुत करने वाला हिन्दू संस्कृति का द्योतक प्रथम महाकाव्य होने के कारण इसको पंचम वेद तक मान लिया गया है । आज भी भारतीय श्रद्धापूर्वक इसे देखते हैं । जीवन की उदात्त भावनाएं काव्यरूप में इसमें निबद्ध की गई हैं । धर्मपुत्र धृतराष्ट्र का जीवन सत्य और धर्म के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है । अर्जुन आदर्श पुरुष तथा कर्ण महादानी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होकर उच्च संदेश देते हैं । द्रौपदी के चीरहरण की घटना मानवता मात्र का भगवान की कृपालुता की ओर ध्यान आकृष्ट कराकर

भक्ति करने के लिए प्रेरणा देती है । इसके अतिरिक्त महाभारत में वर्णित सावित्री सत्यवान्, नल-दमयन्ती, कच-देवयानी आदि पात्र भी मानवता के समक्ष आदर्श चरित्र के उपस्थापन द्वारा उनको विकास-पथ पर अग्रसर करने में सहायक है । सत्य एवं धर्म का निरूपण इस महाकाव्य का प्रमुख लक्ष्य है । यह अपने आध्यात्मिक अंग से सांसारिक सुखों की निस्सारता तथा ज्ञान, कर्म और वैराग्य का उपदेश देता है । महाभारत के पात्र पाण्डव आदि धर्म और दुर्योधन आदि अधर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं । दोनों का संघर्ष धर्म और अधर्म का युद्ध है । स्वयं भगवान कृष्ण दुर्योधन को धर्म की श्रेष्ठता समझाते हैं किन्तु नियति के कारण दुराचारी दुर्योधन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता और अपने साथियों सहित नष्ट हो जाता है । अन्त में धर्म की ही विजय होती है ।

श्रीमद्भागवत में तो सर्वत्र ही भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित हो रही है । यह राग-द्वेष को विनष्ट करने वाले भगवान की रसमयी लीलाओं के गान से परिपूर्ण है । भक्ति ही जीवन का सार है, परमात्मा के सच्चे भक्त विपत्तियों से आहत होकर भी विचलित नहीं होते, अस्थिर चित्त साधक अवश्य ही विषयों के सम्पर्क से उद्विग्न हो उठता है । भागवत की कथा सम्पूर्ण पापों का संहार करके अलौकिकानन्द की अनुभूति कराती है । इसमें स्पष्ट कहा गया है कि रस अलंकार आदि से संयुक्त वाणी भी कृष्ण के यशोगान के बिना अपवित्र रहेगी । इसके विपरीत परमात्मा का यश-वर्णन करने वाली दूषित शब्दों से युक्त वाणी भी पापनाशक है । सत्पुरुष उसका श्रवण, गान एवं कीर्तन करते हैं । इसी प्रकार भक्ति रहित ज्ञान को भी मोक्षप्राप्ति में बाधक तथा निरर्थक बताकर भगवान को बिना समर्पित कर किए गए निष्काम कर्म की असारता प्रतिपादित की गई है[१] । वस्तुतः भक्ति, ज्ञान आदि में सर्वोपरि है । भगवान का सेवक कभी भवसागर में नहीं पड़ता[२] । परमात्मा में तन्मय होने के लिए विषयों की असारता बारम्बार प्रस्तुत ग्रन्थ में दोहराई गई है । निम्न पंक्तियों में शान्तरस की सुन्दर व्यंजना हो रही है --

----

१- श्रीमद्भागवत -- १।५।१०-१२ ।

२- वही०, -- १।५।१९ ।

सत्यां क्षितौ किं कशिपो: प्रयासै--
बाँहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणै: किम् ।
सत्यंजलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलै : ।।[1]

भागवत में वर्णित 'पुरंजनोपाख्यान' शान्तरस का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है । इसमें 'अविज्ञात' के उपदेश द्वारा पुरंजन के मुक्ति की कथा वर्णित है । पुरंजन को जीव तथा उसका सखा 'अविज्ञात' कहा गया है । यह 'अविज्ञात' ही ईश्वर है । प्राकृत विषयों को भोगने की इच्छा से जीव मानव देह धारण कर विषयों में अनुरक्त होता है । विविध वासनाओं से युक्त चित्त जीव प्रारब्ध एवं कर्मानुसार भटकता हुआ सुख दु:ख भोगता है । मनुष्य अज्ञानवश इससे छुटकारा भी नहीं प्राप्त कर सकता । अज्ञान के कारण समस्त दृश्य पदार्थ वस्तुत: असत् होने पर भी सत्य से प्रतिभासित होते हैं । इसमें फंसकर जीव संसार से मुक्त नहीं हो पाता है । आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय केवल आत्मज्ञान तथा हरिभक्ति है । एकाग्र भक्ति जीवन में ज्ञान तथा वैराग्य का आविर्भाव करती है । इसी प्रकार अन्य दृष्टान्तों से भी जीव की अज्ञानता एवं विषयासक्ति प्रतिपादित करते हुए तथा अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा परमात्मा में अनुरक्ति रखकर विषयों से विरत रहने का आदेश दिया है[2] ।

इसी प्रकार पंचम स्कन्ध में 'भवाटवी' का स्पष्टीकरण करते हुए सत्वादि गुणों के भेद से शुभ, अशुभ और मिश्र तीन प्रकार के कर्मों की गणना कर बताया गया है कि प्रवृत्ति मार्ग का अनुगमन कर किए गए लौकिक तथा वैदिक दोनों ही प्रकार के कर्म जीव को संसार की ही प्राप्ति कराते हैं[3] । प्रवृत्ति मार्गी कालचक्र से कर्ममुक्त नहीं हो पाता[4] तथा परमात्मा तक नहीं पहुंच पाता । परम सत्ता तक तो निवृत्ति परायण साधक ही पहुंच सकता है[5] ।

१- वही०, २।२।४ तथा २।२।५
२- वही०, ४।२९।५३-५५ ।
३- वही०, ५।१४।२३।
४- वही०, ५।१४।३३ ।
५- वही०, ५।१४।३८ ।

एक अन्य स्थल पर संसार चक्र के चालक मन को वश में करने का आदेश दिया गया है । मन समस्त चेष्टाएं करता है तथा उसके द्वारा ही जीव समस्त विषयों का भोक्ता बन बैठता है । फलस्वरूप कर्मासक्ति उत्पन्न होने पर वह बन्धन में बंधता है । अत: मन को भगवान में समाहित करना अत्यावश्यक है, यही परमयोग है[1] । यह परमसत्ता वस्तुत: एक ही है किन्तु लौकिक तथा वैदिक वाणी के द्वारा उसका विविध रूपों में वर्णन किया जाता है[2] ।

शान्त रस सम्बन्धी अन्य आध्यात्मिक स्थल दशम व स्कन्ध के अन्तर्गत गोपी कृष्ण की रासलीला में सुलभ है । इस लीला की अलौकिकता बारम्बार विविध प्रकार से प्रतिपादित की गई है । गोपियों द्वारा कवि श्रीकृष्ण को ही परमाराध्य सुसेव्य आदि बताता है[3] । परमात्मप्रेम की प्राप्ति के लिए लोक लज्जा का परित्याग आवश्यक है[4] । प्रेम, सेवा और त्याग-- यही गोपियों की भक्ति का आदर्श है । यह रासलीला भगवान के दिव्य धाम में सम्पन्न होती है । रासलीला में गोपियों का अभिसार, गोपीकृष्ण के विविध वार्तालाप, वंशीध्वनि, वनविहार तथा राधा के साथ कृष्ण के अन्तर्ध्यान होने आदि की बातें अलौकिक रूप से अभिव्यक्त हुई हैं । यह लीला केवल भगवत्कृपा से ही समझ में आती है । इस दिव्य रस में भाग लेने वाली गोपियां भगवान के समान सच्चिदानन्दमयी ही हैं । उनके हृदय में केवल श्रीकृष्ण प्रेम प्रवाहित हो रहा है । वे भगवान की प्रेम प्रतिमा रूप हैं । उनके तथा श्रीकृष्ण के बीच विरह केवल लीला के लिए दिखलाया गया है । गोपियां कृष्ण को केवल पूर्ण ब्रह्म के रूप में जानती हैं -- इसी से उन्होंने लोक-जीवन आदि की तीव्र उपेक्षा की और परमभक्त गोपियों के उत्कट प्रेम को देखकर ही भगवान ने विविध रूप धारण कर किंचित् मात्र स्थान नहीं, यही बताने के लिए भगवान गोपियों के बीच से अन्तर्ध्यान हो जाते हैं तथा गोपियों के प्रेमोन्माद को देखकर वे पुन: प्रकट हो जाते हैं ।

१- व वही० ११।२३।४६।६१

२- वही०,१२।४।३१ ।

३- वही०,१०।२६।३२।

४- वही०,१०।३२।२१-२२ ।

इन ग्रन्थों का धार्मिक महत्व तो है ही, साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है, क्योंकि समस्त उत्तरवर्ती साहित्य इनके प्रभाव से अनुप्राणित है । संस्कृत कवियों की दृष्टि केवल बाह्य सौन्दर्य पर केन्द्रित हो, ऐसी बात नहीं, वह अन्तः सौन्दर्य, शील और सौमनस्य का बराबर अनुध्यान करती रही है । इसीलिए संस्कृत काव्य में तपोवन का अभिप्राय अत्यन्त पवित्र अभिप्राय के रूप में गृहीत हुआ है, शम प्रधान ऋषियों के निगूढ़ तेज की चर्चा भी भारतीय काव्य दृष्टि ने उपेक्षा नहीं की । भारतीय काव्यदृष्टि समग्र जीवनदृष्टि है वह क्रमिक विकास के सोपानों पर चलकर मुनिवृत्ति के द्वारा परमार्थ साधन करके कृतार्थ होती है ।

यह सही है कि शृंगार रस सम्बन्धी प्रचुर काव्य संस्कृत साहित्य में मिलता है किन्तु इन समस्त कृतियों में रचयिताओं ने केवल कामासक्ति मात्र का प्रश्रय न देकर नायक-नायिका की सौन्दर्याभिव्यक्ति के साथ ही साथ उनकी चारित्रिक विशेषताओं को भी पूरी तरह से उभारा है । त्याग, दया, धर्म आदि सर्वत्र ही नायक के गुणों के रूप में चित्रित किए गए हैं । शृंगार की कोरी कामुकता का प्रदर्शन किसी भी कवि को अभीष्ट नहीं रहा है । उदाहरणस्वरूप यहां कुछ प्रमुख कवियों की कृतियों का वर्णन अनुचित न होगा । कवि शिरोमणि कालिदास की अमरकृति कुमारसम्भव में संसार के अधिष्ठानभूत शिव पार्वती जैसे दिव्य दम्पति का स्नेह वर्णन तथा देवाधिदेव शिव पार्वती के विवाह से युद्ध के देवता कार्तिकेय की उत्पत्ति का वर्णन है । शृंगार इस काव्य के अंगीरस के रूप में स्वीकृत हुआ है । कुछ प्राचीन आलोचकों ने देव विषयक रति चित्रण को अनुचित बताया है । किन्तु यहां पर ग्रन्थ का केवल अभिधार्थ ग्रहण करना ठीक नहीं । यदि हम काव्य में वर्णित विषय की ओर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि शिव और उमा का विवाह उत्कट एवं संकुचित प्रेम के फलस्वरूप होने वाले सामान्य व्यक्तियों के विवाह के सदृश नहीं है । इन दोनों के संयोग से संसार के लिए विनाशक एवं भयावह तारकासुर का वध करने वाली कार्तिकेय रूप शक्ति उत्पन्न होती है । इस शक्ति का जन्म तारकासुर का संहार और देवताओं की रक्षा के लिए होता है । इसके अतिरिक्त इस दिव्य दम्पति का प्रेम साधारण मनुष्य के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करता है, मनुष्य की उन प्रवृत्तियों में पवित्रता का आधान करता है जिसके द्वारा मानव जाति का अस्तित्व बना है[1] ।

१- ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर -- कीथ, पृ० ८७

पंचम सर्ग में वर्णित पार्वती की कठोर तपस्या तथा तृतीय सर्ग में शिव की समाधि वर्णन को पढ़कर क्या शिव और पार्वती के प्रणय को केवल लौकिकता के मापदण्ड से तौलना उचित होगा ? शिव और उमा का विवाह अत्यन्त प्रगाढ़ एवं पवित्र वैवाहिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए ही दिखाया गया है । रघुवंश के में भी दिलीप की कर्तव्यनिष्ठा और त्याग दर्शनीय है । रघुवंश के अन्तिम सर्गों के शृंगारपूर्ण दृश्यों को हमें केवल एक भावुक के मस्तिष्क का उद्गार ही न समझना चाहिए ।

कालिदास के काव्य में सर्वत्र ही ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए निर्धारित कर्तव्यों के अनुष्ठान का वर्णन किया गया है । उनके काव्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कवि की दृष्टि में कुमारावस्था गुरु से विद्याध्ययन का समय है, यौवनकाल विवाह से सम्बद्ध है तथा अन्तिम वानप्रस्थ है जब कि मनुष्य का मन शाश्वत वस्तुओं के चिन्तन में लीन रहता है[१] । समस्त संस्कृत साहित्य में ही मानव जीवन का कोई भी पक्ष उपेक्षित नहीं किया गया है । जीवन के ध्येय के रूप में चारों पुरुषार्थों को स्वीकृत किया गया है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में अर्थ और काम इन दो पुरुषार्थों का सम्बन्ध मनुष्य की युवावस्था से रहता है, धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का नियमन करता है तथा वृद्धावस्था में किए गए आध्यात्मिक चिन्तन के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है । कालिदास ने इन चारों ही पुरुषार्थों को रघुवंश में विष्णु के अवतार रूप दिलीप के चारों पुत्रों में मूर्तिमान पाया है ।

संस्कृत के लगभग सभी साहित्य में आश्रम, ऋषि, तपोवन, त्याग एवं तपस्या का न केवल उल्लेख हुआ है अपितु इन तत्वों को पर्याप्त महत्व भी दिया गया है, कोई भी काव्य अथवा नाटक ऐसा नहीं है जो कि इनसे अछूता हो । रत्नाकरकृत 'हरविजय' तथा मंखकृत 'श्रीकण्ठचरित' सभी इस सम्बन्ध में दर्शनीय हैं । 'हरविजय' में अन्धकासुर तपस्या द्वारा दृष्टि प्राप्त करके तीनों लोकों का स्वामी बन जाता है, इसके साथ ही दुरात्मा अन्धकासुर का शिव द्वारा वध भी होता है । श्रीकण्ठचरित में भी त्रिपुरासुर के नाश की कथा वर्णित है । द्वितीय और सर्गों में सज्जन तथा दुर्जन आदि के वर्णन द्वारा कुछ नैतिक विषयों का भी समावेश किया

१- वही०, पृ० ६८ ।

गया है । महाकाव्य शिशुपालवध में तो यज्ञ आदि के विस्तृत वर्णन मिलते हैं । रघुवंश में भी उपर्युक्त तत्व स्वीकृत हुए हैं । तपस्वियों के कठिन आसन नीरासन की चर्चा तथा योगाभ्यास का महत्व दिया गया है । कुशासीन होकर वृद्ध राजा धारक का अभ्यास करता है योगी अन्दर दरवाजे के भीतर प्रविष्ट हो जाने की शक्ति प्राप्त कर लेता है । सीता अपने अगले जन्म में पति से पुनर्मिलन के लिए तपस्या का आश्रय लेती है । बाणकृत कादम्बरी में वर्णित प्रेम भी जन्मान्तर का प्रेम होने से आध्यात्मिक जगत से सम्बद्ध मर्यादित और निष्काम प्रेम है । वह केवल बाह्य रूप की अनुरक्ति मात्र नहीं है प्रत्युत अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति करने वाला तीन जन्मों तक उसी प्रकार बना रहता है । अत: जीव चाहे कितनी ही योनियों में भ्रमण करे किन्तु पवित्र एवं सच्चा प्रेम सदैव उसके साथ रहता है । शुकनास द्वारा लक्ष्मी के दोषों का वर्णन भी बहुत ही सुन्दर हुआ है । दण्डी के दशकुमारचरित में दम्भी तपस्वियों एवं कपटी ब्राह्मणों पर खूब करारे आक्षेप किए गए हैं । भारवि का किरातार्जुनीय महाकाव्य वीररस प्रधान है, परन्तु उसमें भी तपस्या और शिवाराधना का सन्निवेश किया गया है । अर्जुन पाशुपतास्त्र पाने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर कठिन तपस्या करते हैं । यहाँ तक कि देवांगनाएं भी उसका व्रतभंग नहीं कर पाती हैं । एकनिष्ठभाव से की गई आराधना एवं तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान स्वयं भ उसे अपना दर्शन देते हैं । भारवि के इस काव्य में नैतिक सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है । उपर्युक्त विभिन्न कथाओं एवं काव्यों के वर्णित अंशों से स्पष्ट है कि चाहे काव्य का वर्ण्य शृंगार हो अथवा वीर किन्तु उसके मूल में अर्थात् शृंगार और वीर को सम्पन्न करने वाले कारणस्वरूप तपस्या और त्याग आदि ही दिखाए गए हैं और इनका शान्तरस से घनिष्ठ सम्बन्ध है -- इसको निराकृत नहीं किया जा सकता ।

संस्कृत साहित्य में एक अन्य प्रवृत्ति दार्शनिक चिन्तन के रूप में दृष्टिगत होती है । कवि का लक्ष्य कुछ भी हो किन्तु वह अपने ग्रन्थ में यत्र तत्र दार्शनिकता का संकेत अवश्य करता है । हर्ष कृत नैषधीय चरित में नल और दमयन्ती की प्रणय कथा के साथ ही अनेक स्थलों में दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन मण्डन के प्रति लेखक का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है । दमयन्ती के स्वयंवर का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है । दमयन्ती के स्वयंवर में चारों देवता नल का रूप धारण करके उपस्थित होते हैं । इन चारों मायारूप धारी नलों के कारण यथार्थ नल का ज्ञान कैसे हो

नहीं हो पाता जैसे जल-तरंग, स्वर्ण तथा बुद्बुद् का पंचमहाभूत से प्रभिन्न होकर इनमें विलक्षण अद्वैत को नहीं समझ पाते[1] । कवि ने यहां उपमा का आश्रय लेकर वेदान्त की अद्वैत भावना का प्रतिपादन किया है । इसी प्रकार के अन्य स्थल भी हैं । जैसे तो श्री नैषध निःसन्देह शृंगार रस सम्बन्धी काव्य है, परन्तु इतना बड़ा दार्शनिक केवल लौकिक प्रेम का चित्रण करेगा, यह आलोचकों को मान्य ही नहीं । उनके अनुसार नल और दमयन्ती का प्रेम ही माध्यम से भिन्न आध्यात्मिक जगत की ओर संकेत करता है । यह मिलन पुरुष द्वारा जीव और ब्रह्म का मिलन है । इस दृष्टि से यह प्रेमपरक काव्य एक अन्य घटनाओं से सम्बद्ध एक अपूर्व ग्रन्थ हो जाता है । कालिदास के दोनों महाकाव्यों कुमारसम्भव और विशेषरूप से रघुवंश से ऐसा प्रतीत होता है कि शिवत्व के स्वरूप के विवरण में कालिदास को सांख्य और योग की मान्यता स्वीकार थी । उनके अनुसार ब्रह्म में सांख्य के प्रकृति और पुरुष दोनों ही संयुक्त हैं । स्पष्ट है कि वे प्रकृति और पुरुष के ऊपर एक परम तत्त्व को मानते थे । यह परम तत्त्व विशिष्ट रूप से तो शिव रूप ही है किन्तु उसे ब्रह्मा और विष्णु भी कहा जा सकता है । यह अन्धकार से परे और कभी नष्ट न होने वाला है । तत्त्वज्ञानी [illegible] इसी परम तत्त्व में मिल जाता है । रघुवंश में ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम का वस्तुत: यही अभिप्राय है । ज्ञान के द्वारा कर्म दग्ध होते हैं अत: यदि तत्त्व ज्ञान न होकर केवल पुण्य कर्म ही हों तो फिर मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त करेगा अन्यथा कर्म विनाश न होने पर वे ही कर्म मनुष्य को बार-बार जन्म ग्रहण करने के लिए विवश कर देते हैं । इस प्रकार शिव, ब्रह्मा और विष्णु इन तीनों महान् देवताओं में कालिदास ने सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है । अपनी आयु वृद्धि के साथ ही वे परमात्मा के सर्वव्यापक स्वरूप की ओर और उनको प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास की क्षमता की ओर उन्मुख होते गए[2] ।

इस प्रकार उपर्युक्त महाकाव्यों एवं अन्य कृतियों में अंगीरस के रूप में विभिन्न रसों के उपनिबद्ध होने पर भी शान्त का पर्याप्त चित्रण मिलता है । इन

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास -- बलदेव उपाध्याय, पृ० २६३ ।

२- ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर-- कीथ, पृ० १०० ।

रचनाओं के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आने वाले नीति काव्य, धार्मिक काव्य, उपदेशात्मक काव्य, लोकसाहित्य तथा सुभाषित संग्रह सभी में प्रचुरता से शान्त का आस्वादन किया जा सकता है । नीति काव्य की नीति एवं वैराग्य सम्बन्धी समस्त रचनाएं शान्तरस के ही अन्तर्गत हैं । उल्लेखनीय नीति काव्य भर्तृहरि के शतकत्रय तथा जयदेव के गीतगोविन्द हैं । भर्तृहरि ने सर्वत्र ही बौद्धों की भांति तृष्णा से मुक्ति तथा वैराग्य का प्रतिपादन किया है । हां, उनका श्रृंगार शतक अवश्य ही स्त्रियों के सौन्दर्य चित्रों से पूर्ण है । कुछ पद्यों में मनुष्य के तप और ज्ञान से प्राप्त शाश्वत शान्ति से सम्भोग सुखों का प्रदर्शन किया गया है । परन्तु अन्त में कवि इसी निश्चय पर पहुंचता है कि सौन्दर्य एक प्रवंचना तथा जाल मात्र है । प्रेम सांसारिकता की ओर ले जाता है तथा मधुर लगने वाली स्त्री सर्प की भांति विषैली है । मनुष्य का वास्तविक कल्याण तो वैराग्य तथा शिव या ब्रह्म में निहित है । जीवन की अवस्थाओं की क्षणभंगुरता का प्रभावोत्पादक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है[1] --

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिक:
क्षणं वित्तैर्हीन: क्षणमपि च सम्पूर्णविभव: ।
जराजीर्णैरंगैर्नट इव वलीमण्डिततनु--
नर: संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ॥[2]

मनुष्य की समस्त आयु व्यर्थ के कार्यों में व्यतीत हो जाती है, समुद्र की लहर पर बुलबुले के समान अस्थिर जीवन में प्राणियों को सुख कहां मिल सकता है ।

आयुर्वर्षशतं नृणां (परिमितं) रात्रौ तदर्धं गतम्,
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयो:
शेषं व्याधिवियोग दु:खसहितं सेवादिभिर्नीयते,
जीवे वारितरंगबुद्बुदसमे सौख्यं कुत: प्राणिनाम् ।[3]

१- वही०, पृ० १७७ ।

२- वही०, पृ० १७९ पर उद्धृत ।

३- वही०,

संसार की असारता, देह की नश्वरता आदि विषयों से सम्बद्ध अनेक उदाहरण इनके काव्य से दिये जा सकते हैं । धर्म भावना से अनुप्राणित गीतिकाव्यों में जयदेव का गीतिकाव्य भक्तिरस का अमरकाव्य है । इसमें श्रीकृष्ण और राधा की लीलाओं का वर्णन किया गया है , कृष्ण परब्रह्म और राधा जीव का प्रतीक हैं, राधा और कृष्ण का मिलन जीव और ब्रह्म का मिलन है--इनके प्रेम को शारीरिक मानना न्यायसंगत नहीं । देवताओं का प्रेम वर्णन हमारे आलोचकों की दृष्टि में भी बुरा नहीं है । कुमार सम्भव उदाहरण स्वरूप है । जयदेव ने मनुष्यों की इच्छा आशा एवं भय से सम्बद्ध उस शक्ति के विधान के रूप में देखा है जो कि अपने पारमार्थिक रूप में अनन्त और अवर्ण्य होने पर भी अपने को कृष्ण रूप में अभिव्यक्त करती है तथा कृष्ण और राधा की क्रीड़ाओं द्वारा मानव जाति के प्रेम को स्वीकृति प्रदान करती है । कृष्ण भक्ति ही जयदेव का प्रमुख लक्ष्य था । राधा एवं गोपियों के साथ क्रीड़ा करने वाले कृष्ण भी जयदेव की दृष्टि में सामान्य देवता न होकर परम देव के मूर्तिमान स्वरूप थे । साधन मार्ग के तत्वों को भी इसमें यत्र-तत्र सुलझाया गया है ।

दूतकाव्य का सन्देश काव्य की अधिकांश रचनाएं शान्तरस से ही सम्बद्ध हैं -- इनका विवेचन आगे किया गया है । रूपगोस्वामी के 'हंसदूत' में ललिता राधा की करुण दशा को हंस द्वारा कृष्ण तक पहुँचाती है । भक्तिरस की यह सुन्दर रचना है जिसमें कृष्ण का चिन्तन करने वाली राधा स्वयं कृष्ण बन जाती है फिर भी उनके हृदय की बाधा दूर नहीं होती । शतकाव्यों का दर्शन के गूढ़ तत्वों को उद्घाटन एवं शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही हुआ है । रूपगोस्वामी के उद्धवशतक में भक्ति तत्व का तथा भल्लट के भल्लट शतक में नीतिमय सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन किया गया है ।

धार्मिक काव्यों के अन्तर्गत स्तोत्र साहित्य एवं देवकाव्यों में तो सर्वत्र ही भक्ति की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होते हुए मिलती है । देवताओं की स्तुति करने वाले स्तोत्रों में कवियों ने अपने भक्ति के उद्गारों की अभिव्यक्ति करते हुए अपने मनोभावों को ईश्वर के समक्ष खोल कर रख दिया है । पुष्पदन्त आचार्य द्वारा लिखित 'शिवमहिम्न स्तोत्र' शंकर भगवान की स्तुति में लिखा गया है , दार्शनिक भावों का भी इसमें वर्णन है । अद्वैतवाद के प्रतिष्ठाता शंकराचार्य ने भी

मात्र न होकर उनमें किसी न किसी महनीय तत्त्व का ज्ञान अवश्य कराया गया है । भवभूति के मालती माधव में प्रेम का वर्णन होने पर भी धर्म विरोधी प्रेमको हेय बताया गया है । इसी प्रकार शूद्रक कृत मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त यद्यपि वसन्तसेना से प्रणय करता है, पर उसमें आदर्श पुरुष के सब लक्षण दिखाई पड़ते हैं । उसका आत्माभिमान और त्याग दर्शनीय है तथा उसमें कहीं भी नैतिकता का उल्लंघन नहीं हुआ है । मुद्राराक्षस नाटक में चाणक्य के सन्यस्त जीवन की सुन्दर व्यंजना की गई है तथा वेणीसंहार में धर्मराज युधिष्ठिर अपने प्रजा के कल्याण के लिए अपने शरीर की अपेक्षा अधिक चिन्ता करते दीख पड़ते हैं । साथ ही भगवान कृष्ण के माहात्म्य का वर्णन भी देखने को मिलता है । `अभिज्ञान शाकुन्तल' में भी दुष्यन्त और शकुन्तला की चिर परिचित प्रणय कथा वर्णित है । नाटक की समस्त घटनाएं आश्रम के पवित्र वातावरण में घटती हैं तथा आश्रम की बालिका शकुन्तला की तपश्चर्या, उसकी साधना एवं सात्त्विकता सर्वत्र दर्शनीय है । उसमें कठोर तपस्या के अनन्तर शुद्ध प्रेम की उत्पत्ति होती है । नाटक में सर्वत्र ही काम और वासना के ऊपर धर्म और कर्तव्य की विजय दिखाई गई है । बलदेव प्रसाद उपाध्याय के शब्दों में शाकुन्तल में आध्यात्मिक रहस्यों की ओर इस प्रकार संकेत किया गया है --" चौथे अंक में "अयमहं भोः" (मैं यह आया) की द्वार पर ऊंची पुकार लगाने वाले पवित्रता के जीवन के लिए आह्वान करने वाले दुर्वासा ऋषि आरण्यवास सादा जीवन, विलास रहित आचरण तथा तपश्चर्या के प्रतीक हैं । छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करने वाला दुष्यन्त विलासिता का प्रतीक है । दुर्वासा का तिरस्कार करके दुष्यन्त को अपना हृदय देने वाली शकुन्तला रूपी भारतभूमि की शोचनीय दशा को देखकर किसके हृदय में सहानुभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती । तपोमार्ग के अवलम्बन करने से असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुख की प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोवन जीवन बिताने के लिए शिक्षा नहीं ग्रहण करता ? शकुन्तला की दुर्दशा को दिखलाकर कालिदास ने गान्धर्व विवाह की प्रथा को दूषित बतलाया है[१] ।"

अतः यह निःसन्दिग्ध है कि संस्कृत काव्य एवं नाटक में शान्तरस संबंधी तत्त्व अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं । कुछ कृतियों में प्रसंगवश आए हुए

१- संस्कृत साहित्य का इतिहास--बलदेव उपाध्याय, पृ० १७६ ।

विभिन्न श्लोकों द्वारा शान्ति का प्रतिपादन किया गया है तथा कुछ में त्याग, तपस्या एवं आश्रम के पवित्र वातावरण तथा धार्मिक चित्रण द्वारा जनमानस की उसकी अभिव्यक्ति हो गई है । धार्मिकता एवं दार्शनिकता से प्रभावित इन कवियों की रचनाओं में ऐसे प्रसंगों का आना अस्वाभाविक नहीं ।

(ग) शान्तरस के काव्य और नाटक

शान्तरस के प्रति हमारे लेखकों की यह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई फलतः शान्तरस केवल सहायक रस न रहकर अंगीरस के रूप में चित्रित किया जाने लगा । विभिन्न नाटक एवं काव्य शुद्ध शान्त की दृष्टि से लिखे गए । जैसा कि पीछे हम देख चुके हैं, संस्कृत में शान्तरस सम्बन्धी साहित्य के सृजन की प्रेरणा का श्रेय जैन एवं बौद्ध आचार्यों को है । संस्कृत काव्य एवं नाटक में शान्तरस का सर्वप्रथम प्रयोग ० बौद्ध आचार्य अश्वघोष की रचनाओं में मिलता है । अश्वघोष ने सौन्दरनन्द तथा बुद्ध चरित् नामक महाकाव्य एवं शारिपुत्र प्रकरण नामक नाटक की रचना की । सौन्दरनन्द में सम्यग्ज्ञान के रहस्यात्मक सत्य का आकर्षक ढंग से वर्णन किया गया है जिससे मनुष्य सांसारिक सुखों में लिप्त न रहकर निर्वाण की ओर प्रवृत्त हो । यह बुद्ध द्वारा उनके सौतेले भाई अनिच्छुक नन्द के धर्मपरिवर्तन का उपाख्यान है । बुद्ध की उपदेश प्राप्ति के अनन्तर नन्द अपने सारे सुखों को त्याग कर अर्हत् हो जाता है तथा बुद्ध के आदेशानुसार अपने निर्वाण के लिए उदात्ततर मार्ग का अनुसरण तथा दूसरों को भी उपदेश देने के लिए निश्चय करता है । बुद्ध चरित् एवं शारिपुत्र प्रकरण भी बुद्ध के महत्तर जीवन से सम्बन्धित हैं ।

लूडर्स ने भोजपत्र पर लिखे गए एक अन्य प्रतीकात्मक नाटक की भी चर्चा की है । यह भी अश्वघोष के नाटक के साथ ही मिला था । इसमें बुद्धि, कीर्ति और धृति आकर बुद्ध की प्रशंसा करते हुए पाए जाते हैं । बुद्ध को दैवी शक्तिसम्पन्न तथा सर्वव्यापी बतलाया गया है ।[1]

बौद्ध और जैन आचार्यों की धर्मप्रियता से प्रभावित होकर संस्कृत साहित्यकारों ने शान्तरस सम्बन्धी प्रचुर साहित्य की रचना की । वैसे अश्वघोष के

१- हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर--विण्टरनित्ज़, जिल्द३, भाग१, पृ०१९८-१९९ ।

पूर्व भी महाभारत में शान्तरस की सत्ता दिखायी देती है किन्तु काव्य एवं नाटक में सर्वप्रथम अश्वघोष ने ही इसका प्रयोग किया । आगे चलकर कृष्ण मिश्र ने प्रबोध चन्द्रोदय की रचना करके प्रतीकात्मक नाटकों को जन्म दिया । इसमें क्रोध, लोभ, मोह आदि विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियां पात्रों के रूप में प्रयुक्त हुई हैं । यह प्रवृत्ति लोकप्रिय हुई और फलस्वरूप मोहराज पराजय, संकल्पसूर्योदय आदि नाटकों का सृजन इसकी परम्परा पर हुआ । इन नाटकों में श्रद्धा, भक्ति आदि भावों को पात्रों का रूप देकर कभी अमूर्त पदार्थों को मूर्त कल्पना तथा कभी मूर्त एवं अमूर्त का मिश्रण मिलता है । इन काल्पनिक पात्रों द्वारा दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्वों का प्रदर्शन आसानी से रंगमंच पर होता है और दर्शक को भी ये सुगमता से ग्राह्य हो जाते हैं ।

संस्कृत के केवल शान्तरस पर लिखे गये नाटक एवं काव्यों की एक संक्षिप्त सूची नीचे दी जा रही है[1] । --

१- मोहराज पराजय -- यशःपाल
२- चैतन्य चन्द्रोदय -- कविकर्णपूर
३- अमृतोदय -- गोकुलनाथ
४- संकल्प सूर्योदय -- वेंकटनाथ
५- विद्या परिणयन -- आनन्दराय
६- धर्म विजय -- शुक्ल भूदेव
७- भावना पुरुषोत्तम -- रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित
८- मुक्ति परिणय -- सुन्दरदेव
९- प्रवणराहूध्य
१०- जीवन्मुक्तिकल्याण -- नल्लध्वरि
११- चित्तवृत्तिकल्याण -- नल्लध्वरि
१२- सिद्धान्त भेरी नाटक -- सुदर्शनाचार्य
१३- अनुमिति परिणय
१४- विवेक विजय
१५- भक्तिवैभव नाटक -- राजगुरु वहिनीपति

१- दि नम्बर आफ रसाज़ के आधार पर, पृ० ३४-४० ।

१६- मिथ्याज्ञान खण्डन -- रविदास

१७- मुद्रितकुमुदचन्द्र -- यशश्चन्द्र

१८- पूर्ण पुरुषार्थचन्द्रोदय -- जातवेदस्

१९- ज्ञानमुद्रा नाटक

२०- प्रबोधोदयनाटक

२१- शिवनारायणभंजमहोदय नाटिका --नरसिंह मिश्र

२२- ज्ञानसूर्योदय नाटक --वादिचन्द्र

२३- नारामक्तितरंगिणी

२४- सत्संगविजय नाटक -- वैद्यनाथ

२५- स्वानुभूति नाटक -- अनन्त पण्डित

२६- विवेकचन्द्रोदय नाटिका -- शिव

२७- धर्मोदय नाटिका --वदैव गोस्वामी

२८- सत्ताविजय -- अनन्त नारायण सूरि

२९- ज्ञानचन्द्रोदय -- पद्मसुन्दर

३०- षण्मतनाटक -- जयन्त भट्ट

३१- तत्त्वमुद्राभद्रोदय -- त्रिलिंगी

३२- अनुव्याकरणनाट्यपरिशिष्ट -- कृष्णानन्द सरस्वती

३३- भर्तृहरिराज्यत्यागनाटक -- कृष्णदेव वर्मा

३४ चित्सूर्यालोक -- नृसिंह देवज्ञ

३५- जैवामृगी या सर्वविनोद -- कृष्ण अवधूत

३६- पाखण्ड धर्मखण्डन -- दामोदर मिश्र

३७- स्वात्मप्रकाश नाटक -- सुन्दरशास्त्रि

३८- कृष्णभक्तिचन्द्रिका नाटक -- अनन्तदेव

काव्य

१- राजतरंगिणी -- कल्हण

२- कैवल्यवल्लीपरिणयविलास

३- ज्ञानमुद्रा परिणय

४- हंस संदेश -- वेदान्त

५- [illegible]दूत -- विनय विजयगणि

६- चेतोदूत

७- भक्तिदूती -- कालीप्रसाद

८- मनोदूत --विष्णुदास

९- मनोदूत -- रामराम

१०- मनोदूतिका

११- मनोदूत

१२- स्वप्न मेघदूत [illegible] लेखा -- मेघविजय

१३- शीलदूत -- चारित्रसुन्दरगणि

१४- मनोदूत -- इन्द्रदेव

१५- सिद्धदूत

१६- ज्ञानविलासकाव्य -- ज्ञानानन्द

१७-विज्ञानतरंगिणी -- महारुद्र सिंह

१८-शीलवीतराग -- अभिनवचारुकीर्तिपण्डिताचार्य

यहाँ पर प्राप्त नाटकों एवं काव्यों का विवेचन किया जायगा ।

प्रबोध चन्द्रोदय -- श्रीकृष्ण मिश्र

नाटक में शान्तरस का निषेध करने वाले आचार्य इसको शान्तरस मानने के पक्ष में नहीं हैं । क्योंकि वे शान्त के अंग-प्रत्यंग के वर्णन को नाटक में असम्भव बतलाते हैं । परन्तु प्रबोधचन्द्रोदय इस मान्यता को भ्रामक सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । इसकी गणना शान्तरस प्रधान नाटकों में अवश्य ही की जा सकती है । जहाँ तक नाटकीय तत्वों का सम्बन्ध है, उसकी दृष्टि से यह नाटक सर्वांगपूर्ण है । नाटक के प्रारम्भ में अपेक्षित नान्दी पाठ की योजना करते हुए नाटक के व्याज से अखण्ड ब्रह्मानन्द के प्रतिपादन हेतु प्रारम्भ में मंगलाचरण किया गया है । नान्दीपाठ के अनन्तर सूत्रधार के प्रवेश से खेले जाने वाले नाटक के सम्बन्ध में ज्ञान होता है । प्रथम अंक में सूत्रधार और नटी के वार्तालाप द्वारा प्रस्तुत वस्तु का आक्षेप करते हुए अपने कार्य का वर्णन किया गया है । इसी बीच नेपथ्य में " आः पाप शैलूषापसद । कथमस्मासु जीवत्सु स्वामिनो महामोहस्य विवेकसकाशात् पराजयमुदाहरसि ।" इत्यादि

कथन से नाटक में वर्णित कथावस्तु का संकेत देते हुए प्रस्तावना समाप्त हो जाती है । आगे काम और रति के वार्तालाप द्वारा भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का ज्ञान होने से विष्कम्भक का प्रयोग भी सफल हो जाता है । इसके अतिरिक्त पांचों सन्धियों का भी उचित समावेश किया गया है । विवेक को नाटक के धीरोदात्त नायक के रूप में और महामोह को प्रतिनायक के रूप में नियुक्त किया गया है । इस प्रकार नाटकीय तत्वों की पूर्णता की दृष्टि से इसमें कोई त्रुटि नहीं है । नाटक के चरम लक्ष्य सहृदय को अलौकिक आनन्द रूप रस का आस्वादन कराना -- के उद्देश्य की पूर्ति भी इस नाटक के आस्वादन से हो जाती है । प्रबोधचन्द्रोदय में ऐसे अति मानवीय कृत्यों का वर्णन नहीं मिलता है जो कि रंगमंच की दृष्टि से अनुपयुक्त हो तथा जिनका अभिनय न हो सकता हो । समस्त कार्य हमारे नित्य प्रति के दैनिक जीवन से सम्बद्ध है । पारिवारिक जीवन परस्पर युद्ध,पुण्य तीर्थ,आश्रम आदि का दिग्दर्शन रंगमंच पर भली भांति किया जा सकता है । अहंकार लोभ,मोह,संतोष और विवेक आदि भावों को पुरुष पात्रों के रूप में चित्रित करने से मानसिक वृत्तियों के प्रदर्शन की कठिनाई भी दूर हो गई है ।

यह देखने के लिए कि इस नाटक में शान्तरस का पूर्णरूपेण परिपाक हो पाया है या नहीं -- इसकी कथावस्तु का विवेचन आवश्यक है । संक्षेप में इसकी कथा निम्नलिखित है --

परमेश्वर यद्यपि असंग और उदासीन है तथापि 'कालकर्मविपाक' से माया के संस्पर्श से वह 'मन' को उत्पन्न करता है । मन की दो धर्मपत्नियां हैं -- प्रवृत्ति और निवृत्ति , किन्तु मन स्वभाव से प्रवृत्ति से ही अधिक प्रेम करता है, निवृत्ति से विवेक प्रधान और प्रवृत्ति से महामोहप्रधान वंश प्रादुर्भूत होते हैं । इन दोनों पुत्रों में मन को महामोह अधिक प्रिय था । इसी प्रेम के कारण महामोह ने अपने पिता मन द्वारा उपार्जित समस्त संसार को आक्रान्त कर लिया । महामोह अपनी महत्वाकांक्षा के कारण अपने पिता मन को भी पराजित करने की इच्छा करने लगा । विवेक अपने पिता को अधिक प्रिय न था । अत: उसका प्रभाव जगत् में बहुत ही थोड़ा हुआ । और इस प्रकार दोनों वंशों में द्वेष भावना के कारण परस्पर संघर्ष भी बढ़ने लगा ।

महामोह के पारिवारिक सदस्य निम्न हैं -- प्रवृत्ति (मन की पत्नी) काम,रति, अहंकार(महामोह का ज्येष्ठ पुत्र) अनृत (लोभ का पौत्र)क्रोध,हिंसा (क्रोध की पत्नी) मान,मद, मात्सर्य,रागद्वेष,अविद्या,मिथ्या दृष्टि,वासना,ममत्व, राजसी और तामसी श्रद्धा,मधुमती विद्या,असूया (मन की कन्या),आशा,चार्वाक दर्शन,दिगम्बरसिद्धान्त, बौद्धागम और कापालिक ।

विवेक के सदस्य ये हैं -- निवृत्ति (मन की पत्नी) उपनिषद् और मति (विवेक की पत्नियां) विष्णु भक्ति,सरस्वती, निदिध्यासन,वैराग्य(मन का पुत्र) सात्त्विकी श्रद्धा शान्ति (श्रद्धा की पुत्री) करुणा और मैत्री (शान्ति की सखियां) सन्तोष,तर्क,गीता, यम , नियम, आसन,प्राणायाम, अत्याचार, ध्यान, धारणा, समाधि (विवेक के आठ अमात्य) प्रबोधोदय ।

महामोह विवेक के सम्पूर्ण साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहता था इस कार्य की सिद्धि के लिए उसने मुक्तिधाम वाराणसी नगरी को अपने निवास के लिए चुना और दम्भ को आदेश दिया कि वह अमात्यों सहित वाराणसी में जाकर चारों आश्रम के निःश्रेयस् में विघ्न डालने का प्रारम्भ करे । अपने दौवारिक अहंकार द्वारा वह (महामोह) काम,क्रोध,लोभ,मात्सर्य, मद आदि को यह आज्ञा देता है कि वे सब मिलकर विष्णुभक्ति को नष्ट कर दें । तथा किसी प्रकार उपनिषद् के पास से श्रद्धा का अपकर्षण करें । श्रद्धा के नष्ट होने पर उसके वियोग से उसकी पुत्री शान्ति तो स्वयं ही मर जायगी । मिथ्यादृष्टि इस कार्य को पूरा करने का वचन देती है ।

इधर शान्ति श्रद्धा से विलग अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगती है । वह अपनी सखी करुणा के साथ श्रद्धा को खोजती हुई एक आश्रम में पहुंचती है । इस आश्रम में दिगम्बर सिद्धान्त बुद्धागम और कापालिक के पारस्परिक वार्तालाप को सुनकर शान्ति को श्रद्धा के स्थान का पता मिल जाता है कि वह (श्रद्धा) विष्णुभक्ति के समीप है । कापालिक महाभैरवी विद्या को श्रद्धा के आहरण के लिए नियुक्त करता है किन्तु विष्णु भक्ति महाभैरवी से श्रद्धा की रक्षा करती है और श्रद्धा के द्वारा विवेक को काम, क्रोध आदि के विरुद्ध युद्ध करने का आदेश देती है । विवेक 'राढा' नामक जनपद में भागीरथी के किनारे उपनिषद् देवी के साथ तपस्या कर रहा था । विष्णुभक्ति की आज्ञा से वह युद्ध के लिए

तैयारी करता है । शम,दम आदि को वह विभिन्न प्रदेशों में भेज देता है । काम को
वस्तुविस्तार, क्रोध को जीतने के लिए क्षमा तथा लोभ को जीतने के लिये
जीतने के लिए सन्तोष नियुक्त किये जाते हैं । विवेक ने सेना के प्रस्थान का आदेश देकर स्वयं भी वाराणसी को प्रयाण किया और वहां पहुंचकर उचित स्थान देख स्कन्धावार बनाया । विवेक ने नैयायिक दर्शन को दूत बनाकर महामोह के पास भेजा । दूत महामोह को वाराणसी नगरी छोड़ने का आदेश देकर कहता है कि उसके ऐसा न करने पर भीषण युद्ध उपस्थित हो जायगा । महामोह इस धमकी से डरता नहीं और युद्ध करने को तैयार हो जाता है । इधर विष्णु भक्ति प्राय समरदर्शन से पराङ्मुख होकर शालग्राम नामक स्थान में वाराणसी को छोड़कर चली जाती है और श्रद्धा से युद्ध की समस्त सूचना देने को कह जाती है । दोनों पक्षों में भयंकर युद्ध होता है । वस्तुविचार-काम को क्षमा-क्रोध,पारुष्य,हिंसादि को सन्तोष-लोभ,तृष्णा,दैन्य,अनृत,पैशुन्य आदि को नष्ट करते हैं । परोत्कर्ष की भावना से मद भी नष्ट हो जाता है । महामोह भी इस संहार से भयभीत होकर कहीं छिप जाता है । इसके बाद मन अपने पुत्र राग द्वेषादि के मरण से अत्यधिक विलाप करता है । सन्ताप से व्याकुल होकर वह चिता में प्रवेश करना ही चाहता है तभी विष्णु भक्ति द्वारा मन के प्रबोध के लिए भेजी गई सरस्वती आती है और समस्त पदार्थों की अनित्यता और क्षणभंगुरता का उपदेश मन को देती है । सरस्वती आत्महत्या को पाप और ममत्व को समस्त अनर्थों का मूल कारण बताकर चित्त को किसी शान्त विषय में लगाने का आदेश देती है । इसी बीच वैराग्य भी आता है । इतने दीर्घ काल बाद अपने पुत्र वैराग्य को आया देखकर मन उसे आलिंगन करता है और उसे अपने साथ रहने के लिए कहता है । वैराग्य के आदेश से मन निवृत्ति (अपनी सहधर्मिणी) को पुन: ग्रहण करता है । मन सरस्वती के सभी उपदेशों को स्वीकार कर उनके चरणों पर गिर पड़ता है । सरस्वती मन को साम्राज्य ग्रहण करने के लिए कहती है । शम,दम,सन्तोष आदि पुत्रों को यम,नियम आदि अमात्यों को उसकी सेवा में नियुक्त करती है । मैत्री आदि को विष्णु भक्ति के साथ मन की प्रसन्नता केलिए भेजने को भी कहती है । साथ ही मन को यम नियम आदि आमात्यों को यत्नपूर्वक देखने की चेतावनी देती है, क्योंकि इन्हीं से उसका (मनका) साम्राज्य स्थित है ।

सब कुछ स्थिर हो जाने पर एक बार पुन: महामोह विवेक को जीतने का प्रयास करता है । मधुमती नामक ऐन्द्रजालिक विद्या को वह विवेक के पास भेजता

है । माया, मन और संकल्प इससे प्रभावित हो जाते हैं पर तर्क इस विद्या से सब की रक्षा करता है और विवेक को पराजित होने से बचाता है ।

इसके पश्चात् विवेक के पक्ष के सब लोग एकत्रित होते हैं । उपनिषद् और शान्ति भी वहीं आती हैं । उपनिषद् गीता से अपना दु:ख सुनाती है कि तर्क विवेक आदि ने उसे आपत्तिकाल में आश्रय नहीं दिया । गीता उसे सान्त्वना देते हुए कहती है कि तुम्हें (उपनिषद को) दु:ख देने वाले को ईश्वर दण्ड देता है । समीपस्थ पुरुष ईश्वर के स्वरूप से अपरिचित था अत: वह उसे जानने के लिए उपनिषद् देवी से प्रार्थना करता है । उपनिषद् समझाती है कि अपनी आत्मा ही परमात्मा है । इसी समय विष्णु भक्ति के द्वारा भेजे गए निदिध्यासन का प्रवेश होता है । विष्णुभक्ति के सन्देश को वह उपनिषद् से इस प्रकार कहता है -- तुम्हारे (उपनिषद्) के गर्भ में क्रूरसत्वा और प्रबोध चन्द्रोदय है । अत: संकर्षण विद्या से क्रूर सत्वा विद्या को तो मन को दे दो और प्रबोधचन्द्र को पुरुष को समर्पित कर दो तथा विवेक के साथ मेरे समीप आ जाओ । उपनिषद् विष्णुभक्ति के आदेश को पूर्णरूपेण ग्रहण कर लेती है । प्रबोधचन्द्र का उदय होता है और पुरुष परमशान्ति को प्राप्त करता है । पुरुष विष्णुभक्ति के चरणों में प्रणाम करता है, वह उसे आशीर्वाद देती है तथा भरतवाक्य से नाटक समाप्त हो जाता है ।

कथावस्तु से स्पष्ट है कि नाटक में शान्तरस की अवतारणा करते हुए उसके अनुकूल समस्त बातों का समावेश किया गया है । वैराग्य और मुक्ति के उपायों को नाटकीय ढंग से उपनिबद्ध किया गया है । असंग, उदासीन और सच्चिदानंद रूप वाला होकर भी परमेश्वर का माया के साथ समागम होता है । मायारूपी स्त्री के संसर्ग से वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है । जैसे कोई गणिका प्रणय, मृदुल भाव आदि को दिखाकर पुरुष को भ्रमित कर देती है वैसे ही माया भी परमेश्वर को अपने वश में कर लेती है[१] । माया का बन्धन बड़ा ही प्रबल और व्यापक है ।

१-(क) एवमपि यदयं मायासंगात् पुमानिह विस्मृत:।।२५।।पृ०३५ प्रथम अंक ।

(ख) विवेक-- प्रिये! अविचारितसिद्धेयं वेश विलासिनीव माया असतो पि भावानुपदर्शयन्ती पुरुषं वंचयति । पृ०३६, प्रथम अंक ।

या औत्पत्तिक ज्ञान आदि व्यक्ति को तभी तक प्रभावित करते हैं --जब तक कि वह व्यष्टि आसक्त रहता है । अहंकार,लोभ,तृष्णा, मोह आदि ऐसी मानसिक वृत्तियाँ हैं जिनसे आक्रान्त होने पर स्वयं जगत्पति भी दीन दशा को प्राप्त हो जाता है । सच्चिदानन्द और सुन्दर स्वभाव वाले परमेश्वर का इनके द्वारा वशीभूत होने में भी मूलकारण माया ही है । माया का बाह्य रूप अत्यधिक आकर्षक है । माया से मन के व्याप्त हो जाने पर मनुष्य में श्रद्धा,ज्ञान,तर्क,विवेक ,क्षमा आदि सद्गुणों का लोप हो जाता है और इसके कारण उत्पन्न काम,क्रोध,मद,लोभ आदि मन में आ जाते हैं । इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए एकमात्र उपाय है उपनिषद् गीता आदि का अध्ययन और ईश्वरभक्ति । गीता सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुशीलन से मनुष्य का मोह दूर होता है और विवेक जागृत होता है । मनुष्य का मन बड़ा चंचल है और लौकिक पदार्थों की ओर आकर्षित होता है । विवेक के जागृत होने पर व्यक्ति वस्तु के यथार्थ चिन्तन में समर्थ हो जाता है और इस प्रकार कामादि को सरलतापूर्वक वशीभूत कर लेता है । यम,नियम, आसन,प्राणायाम,प्रत्याहार,ध्यान, धारणा भी विवेक को स्थिर रखने के लिए आवश्यक है । आश्रम तीर्थस्थल,भागीरथी आदि प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन से उसके मन को शान्ति मिलती है । राग-द्वेषादि के नष्ट होने पर मनुष्य के मन में विवेक का उदय होता है । प्रबोध के कारण वह सांसारिक पदार्थों की अनित्यता को समझने लगता है । आत्महत्या को पाप कहता है और समस्त अनर्थों का मूलकारण ममत्व और स्नेह समझकर उसको भी मन से बहिष्कृत कर देता है । जब पुरुष का मन शुद्ध और शान्तियुक्त होकर वैराग्य को ग्रहण करता है । वैराग्ययुक्त चित्त के समस्त शोकावेग नष्ट हो जाते हैं । पुरुष को बोध होता है कि वास्तव में मैं ही परमात्मा हूं । पुरुषोत्तम मुझसे भिन्न और कोई नहीं है । अभी तक जो भिन्नता दिखायी दे रही है थी उसका कारण अनादि माया थी, जैसे सूर्य के एक होने पर भी जल में उसके प्रतिबिम्ब दो हो गये से मालूम पड़ते हैं[1] । 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान प्राप्त होने पर पुरुष सत् चित् और आनन्द से युक्त हो जाता है ।

१- उपनिषद् --- अतो त्वदन्यो न सनातन? पुमान्
भवान्न देवात् पुरुषोत्तमात् परः ।
स एव भिन्नस्त्वदनादिमायया
द्विधेव बिम्बं सलिले विवस्वतः ।।२५।।
पृ० २०२, षष्ठो स्कन्धः

मनुष्य में सत्य का ज्ञान प्राप्त कराना ही भारतीय दर्शनों का ध्येय रहा है। यह सत्य ज्ञान भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। लेखक ने कर्म, भक्ति और ज्ञान-- इन तीनों में ही सामंजस्य रखते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए तीनों को ही आवश्यक बताया है। तत् और त्वं पदार्थ का तथा ब्रह्म और जीव के अभेद का ज्ञान प्राप्त करके ही साधक सच्चिदानन्द परमात्मा का साक्षात्कार करता है।

एवं प्रीति विविक्त नीति मदलिक्षीण मार्गं कृते
तत्त्वानां विलयं चिदात्मनि परिज्ञाते स्वमर्थे पुनः ।
श्रुत्वा तत्त्वमसीति वाचितमथ वान्तं महावाक्यं
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दं समुद्द्योतते ।।[1]

समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों की इस ग्रन्थ में चर्चा की गयी है। प्रमुख दर्शनों के मूल तत्त्वों को बड़े ही सरल ढंग से और सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है[2]। चार्वाक, दिगम्बर जैन साहित्य, कापालिक कुलागम, कुमारिल शैवमत और अद्वैत वेदान्त आदि का उल्लेख इस नाटक में हुआ है। तृतीय अंक में भिक्षु क्षपणक और कापालिक आदि के वार्तालाप से उनके मुख्य सिद्धान्तों को सरल और रोचक ढंग से समझाया गया है। क्षपणक अर्हत् की और भिक्षु बौद्ध की सर्वज्ञता के लिए तरह-तरह के दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। श्रद्धा आदि को स्त्री पात्र का रूप देकर किंचित् स्थलों में शृंगार रस का भी अच्छा पुट दिया गया है। क्षपणक और भिक्षु दोनों ही राजसी श्रद्धा के संस्पर्श से कापालिक मत ग्रहण कर लेते हैं और अपने अपने सिद्धान्तों को त्याग देते हैं। इसी प्रकार समस्त सिद्धांतों का ज्ञान कराते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त का ही प्रतिपादन किया गया है।

महामोह, अहंकार, विवेक श्रद्धा आदि मानसिक भावों को पात्र का रूप दे देने से नाटक में मौलिकता तो है ही, साथ ही विवेक, क्रोध, मोह, लोभ आदि को पात्र के रूप में वर्णित करके लेखक ने उनसे सम्बद्ध मानसिक वृत्तियों को बड़े ही सरल और यथार्थ रूप में समझाने का सफल प्रयास किया है। प्रत्येक पात्र के से उससे सम्बन्धित चित्तवृत्ति का वास्तविक चित्र उभर आता है। उदाहरण स्वरूप हम अहंकार को लेते हैं। वाराणसी में आकर अहंकार निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील लोगों का उपहास करता है। यतियों को पाखण्डी और वेदों को झूठा

१-प्रबोधचन्द्रोदय, षष्ठो ध्यायः, पृ०२०३।
२-उदाहरण के लिए महामोह के कथन से चार्वाक के सिद्धान्त का ज्ञान कितनी सरलता से हो जाता है--(विचिन्त्य सस्मितम्) सर्वथा लोकायतमेव शास्त्रम्। यत्र प्रत्यक्षमेव प्रमाणं, पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि, अर्थकामौ पुरुषार्थौ, भूतान्येव चेतयन्ते नास्ति परलोकः मृत्युरेवापवर्गः। द्वितीयो ऽङ्कः, पृ०५६ ।

बताता है[1] । उसके अनुसार शास्त्रों का सुनना पाप है । वह जो कुछ कहता है उसी को सत्य और करणीय समझता है ।

इसी प्रकार क्रोध का स्वरूप भी बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है --

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि ।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसन्दधाति ।।[2]

लोभ भी निःसंकोच होकर अपने प्रभाव को बताता है । उसको इस बात का गर्व है कि मनुष्य उसके कारण ही कभी भी अपनी इच्छापूर्ति से तृप्त नहीं हो पाता है । एक न एक कल्पना सदा उसे लालायित किये रहती है । ऐसी दशा में शान्ति, श्रद्धा आदि के चिन्तन का उसे अवकाश ही नहीं मिल पाता । सन्तोष, क्षमा और वस्तु विचार तथा करुणा आदि का स्वरूप भी सुन्दरता से अंकित किया गया है । विवेक और महामोह मन के एक दो प्रधान पुत्र हैं । जैसे दुष्ट पुत्र अपनी महत्त्वाकांक्षा के कारण अपने वंश का नाश कर देता है वैसे ही महामोह भी अपने सहोदर भाई विवेक और पिता मन को नष्ट करना चाहता है । विवेक अच्छे पुत्र की भांति अपने वंश को ऊंचा उठाता है । मानसिक प्रवृत्तियों को पात्र का रूप दे देने से नाटक मनोरंजक भी पर्याप्त हो गया है । मानसिक क्रिया का व्यापार बिल्कुल ठीक उतरा है । सांसारिक आकर्षणों के प्रबल प्रभाव से व्यक्ति सर्वप्रथम मोहग्रस्त हो जाता है । मोह के कारण काम, अहंकार, लोभ और क्रोध उत्पन्न होते हैं । क्रोधी व्यक्ति में हिंसा, पारुष्य, मान, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुण आ ही जाते हैं । काम, महामोह का

१--अहंकार-- अहो मूर्खबहुलं जगत्........ एते सादृश्यार्थकारणविधुराः स्वाध्याय-व्यसनमात्रनिरतावेदविप्लावका एव (पुनरन्यतो गत्वा) एते च भिक्षामात्रं गृहीतयति-व्रता मुण्डितमुण्डाः पण्डितम्मन्या वेदान्तशास्त्रं व्याकुर्वन्ति ।
(विहस्य) प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः ।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ।।४।।
(पुनः स्वतो गत्वा) एते च शैवपाशुपताद्यो दुरभ्यस्ततर्कपादमलाः पशवः रणइव नरा नरकं यान्ति । तदेते दर्शनपाखण्डरताः

प्रबल वीर है, क्योंकि इसी के कारण व्यक्ति विषयासक्त होता है । तथा क्रोधादि उत्पन्न होते हैं, लोभ तृष्णा को जन्म देता है । काम की इसी प्रबलता के कारण लेखक ने ग्रन्थ का प्रारम्भ ही काम और रति के वार्तालाप से किया है । ये समस्त दुर्गुण मिलकर व्यक्ति के विवेक को नष्टभ्रष्ट कर डालते हैं, उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार की शक्ति जाती रहती है जैसा कि हम अपने नित्यप्रति के जीवन में देखते हैं ।

दूसरी ओर सांसारिक कष्टों को स्वतः भोगने के बाद अथवा सांसारिक व्यक्ति की दुर्गति देखकर मनुष्य का मन स्वभावतः ईश्वर की ओर आकर्षित होता है । वह उन्हीं को अपना रक्षक मानने लगता है और अपने उद्धार के लिए उन्हीं पर आश्रित हो जाता है । भक्ति का पूर्ण परिपाक होने पर मनुष्य में श्रद्धा,शान्ति,करुणा मैत्री और क्षमा आदि भाव उत्पन्न होते हैं । तर्क के कारण व्यक्ति में वस्तुविचार की क्षमता आ जाती है और इन सब गुणों द्वारा वह काम क्रोधादि समस्त दुर्गुणों को बहिष्कृत करने में समर्थ हो जाता है । अब मनुष्य का चित्त सांसारिक विषयों से हटकर,यम,नियम,आसन,ध्यान,धारणा,प्राणायाम,प्रत्याहार और समाधि में अधिक लगता है । गीता और उपनिषद् के अध्ययन में उसकी वास्तविक रुचि उत्पन्न हो जाती है । वह वैराग्य की ओर उन्मुख हो जाता है । इन सब उपकरणों से उसका विवेक पुष्ट हो जाता है और उसमें प्रबोध का उदय हो जाता है । फलतः पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को समझने लगता है । वह अपने में और परमात्मा में कोई भेद नहीं देखता तथा परम शान्ति का अधिकारी हो जाता है ।

इस प्रकार शान्तरस के अनुकूल समस्त क्रिया-कलापों का इस नाटक में समावेश मिलता है। नाटक मनोरंजक और उसमें पर्याप्त स्वाभाविकता है । मनुष्य को बन्धनग्रस्त करने वाले समस्त उपकरण महामोह के और बन्धन मोक्ष देने वाले विवेक के पक्ष में हैं । जिन कारणों से मनुष्य बन्धन में फंसता है और जिन उपायों के द्वारा वह मुक्त हो सकता है, इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है । नाटक में भक्ति,ज्ञान और कर्म तीनों में सामंजस्य रखते हुए अद्वैत भावना का प्रतिपादन किया गया है । अतः इस नाटक में शान्त को छोड़कर अन्य किसी रस की सम्भावना ही नहीं की जा सकती है । शृंगार (श्रद्धा आदि के प्रसंग में) वीर (महामोह विवेक युद्ध में) का थोड़ा सा चित्रण बीच में प्रासंगिक रूप से आता है किन्तु वहां भी प्रधानता शान्त की ही रहती है ।

नागानन्द -- [illegible]

नाटक में शान्तरस का स्थान सम्भव है या नहीं, इस विषय में सर्वप्रथम विवेचन सम्भवतः नागानन्द नाटक को लेकर प्रारम्भ होता है। क्या नागानन्द में शान्तरस है अथवा नहीं, इसके बारे में सभी आचार्यों का मत एक नहीं हो सके हैं। कुछ आचार्य इसमें वीर और कुछ शान्तरस की सम्भावना करते हैं। इस सम्बन्ध में विवेचन करने वाले आचार्यों में अभिनव और धनञ्जय के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। धनञ्जय नागानन्द नाटक में वीर रस ही मानते हैं। उनके तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं --

नागानन्द नाटक में आदि से अन्त तक नायक जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग वर्णित होने से और विद्याधर चक्रवर्तित्व की प्राप्ति होने के कारण शम के विरुद्ध हो जाता है। शान्तरस में तो पारलौकिक इच्छा रहता है, लौकिक नहीं। अतः एक ही अनुकार्य जीमूतवाहन के विषय एक साथ ही विषयानुराग और विषयापराग कैसे हो सकते हैं। जीमूतवाहन में विषयानुराग स्पष्ट ही है। अतः इस नाटक में वीर रस प्रधान रस है जिसका स्थायी भाव उत्साह है। वीर रस मानने पर उत्साह स्थायी भाव का शृंगार और लौकिक फल से कोई विरोध नहीं है। मलयवती का प्रेम (शृंगार) उसका अंग बन जायगा और चक्रवर्तित्व की प्राप्ति उसका फल हो जायगा।[1]

अभिनव नागानन्द में दयावीर या धर्मवीर मानते हैं जिसका अन्तरंग वे शान्तरस को कहते हैं। परोपकार विषयक इच्छा और उत्साह इस शान्तरस का विशेषरूप से अन्तरंग है। उत्साह अहंकार रूप है। अतः उसे शान्तरस का अन्तरंग मानने में आपत्ति हो सकती है किन्तु उत्साहशून्य व्यक्ति जड़ होता है। शान्तरस को

१- यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं तत्तु मलयवत्यनुरागेणा प्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधर चक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वं शृंगारस्यांगत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात्।

दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, पृ० २६९-२७०।

प्राप्त व्यक्ति चाहता नहीं है । वह आत्मा और जीव का ज्ञान प्राप्त करके परांपकार के लिए प्रवृत्त होता है । परोपकार में सर्वस्व दान कर देना शान्तरस का विरोधी नहीं है । शान्तरस के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है । नागानन्द का नायक तत्त्वज्ञानी हो है, नहीं तो परार्थ शरीर परित्याग के लिए तत्पर कैसे होता,[1] जीमूतवाहन में त्रिवर्ग(धर्म,अर्थ और काम) की प्राप्ति ही फलरूप से अभीष्ट है । मोक्ष के फलरूप से अभीष्ट न होने के कारण ही शान्त का स्थायित्व होने पर भी उसका प्राधान्य नहीं है । अत: यही कहना उचित है कि नागानन्द में दयावीर या धर्मवीर का ही प्राधान्य है जिसका अन्तरंग शान्त है[2] ।

वास्तव में नागानन्द का अध्ययन करने से यही ज्ञात होता है कि उसमें शान्तरस का प्राधान्य मानना ठीक नहीं । नागानन्द नाटक में पांच अंक हैं । प्रथम तीन अंकों में जीमूतवाहन और मलयवती के परस्पर प्रणय,विरह और विवाह का वर्णन किया गया है । इन तीन अंकों में इस बात की ओर किंचित भी संकेत नहीं मिलता कि मलयवती के प्रेम में आकुल यही नायक आगे चलकर इतना बड़ा त्याग करेगा वह एक साधारण व्यक्ति की ही भांति मलयवती में अनुरक्त दिखाया गया है । चतुर्थ और पंचम अंक में आकर उसकी परार्थ वृत्ति का ज्ञान होता है । चतुर्थ अंक में जीमूतवाहन समुद्र के किनारे आता है । वहीं उसे ज्ञात होता है कि गरुड़ को प्रतिदिन एक नाग आहार के लिए दिया जाता है और उस दिन अपने मां के इकलौते बेटे शंखचूड़ की बारी है । शंखचूड़ की मां के करुण क्रन्दन को सुनकर वह दयार्द्र हो जाता है और उसकी जगह अपने को समर्पित करने को तत्पर हो जाता है । परन्तु शंखचूड़ इसके लिए तैयार नहीं होता ।अत: उसकी अनुपस्थिति में जीमूतवाहन रक्तवस्त्र से अपने को ढंककर बैठ जाता है । गरुड़ उसे अपना आहार समझ कर उठा ले जाता है । पंचम अंक में शंखचूड़ के माता-पिता का विलाप अंकित है । शंखचूड़ को जब इस बात का पता चलता है तब वह बहुत ही पश्चात्ताप करता है । स्वयं गरुड़ भी इस घटना से प्रभावित होकर नागों को कभी न खाने की प्रतिज्ञा कर लेता है । यहीं नाटक समाप्त होता है ।

अभिनव भारती, पृ० ६२९-६३० ।

वही०, पृ० ६३२ ।

जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक है । उदात्तता सर्वोत्कृष्ट वृत्ति को कहते हैं और उसका जीमूतवाहन में अभाव नहीं है । यह उदात्तता तभी हो सकती है जब मनुष्य में दूसरों को जीतने की, उनसे उत्कृष्ट बनने की इच्छा हो । शक्ति का प्रयोग करके बलपूर्वक दूसरे को हानि पहुंचाने ही को जीतना नहीं कहते । जीमूतवाहन शक्ति से नहीं वरन् त्याग आदि गुणों से दूसरों को जीतता है । शंखचूड की रक्षा के लिए गरुड़ को भोजनार्थ अपना शरीर अर्पित कर देना जीमूतवाहन के लिए श्लाघनीय अवश्य है परन्तु शंखचूड की भी त्याग की भावना कम महत्त्वपूर्ण नहीं -- जो कि अपने नश्वर शरीर के प्रति मोह न रखके जीमूतवाहन का प्राण नहीं मानता और जब जीमूतवाहन उसकी क्षणिक दुरवस्थिति का लाभ उठाकर अपने को गरुड़ के आहार के लिए दे देता है तो उसे पर्याप्त पश्चाताप भी होता है । अतः दोनों के ही कृत्य उनकी वीरता के परिचायक हैं । फिर धीरोदात्त नायक प्रधान रूप से शृंगार रस का ही माना गया है । शृंगार और शान्त तो परस्पर विरोधी हैं अतः इसमें शान्त का प्राधान्य कैसे मान सकते हैं । श्रीहर्ष को यदि नागानन्द में शान्तरस का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट होता तो वे उसी के अनुकूल ही नायक का चुनाव भी करते । किन्तु उन्होंने इस प्रकार के नायक को लेकर उसके लौकिक प्रेम और राज्य सुख आदि का वर्णन किया है । अतः शान्तरस की दृष्टि से उनकी कथावस्तु दूषित कही जायगी ।

फिर शान्तरस में नायक को मोक्षप्राप्ति होती है या नायक किसी न किसी प्रकार से मोक्ष की ओर अग्रसर होता हुआ दिखाया जाता है । लौकिक जगत सम्बद्ध वस्तुओं की ओर से उसके मन में एक प्रकार का वितृष्णा का भाव जागृत हो जाता है । जब कि नागानन्द में स्त्रियों की प्राप्ति ही फलरूप से अभीष्ट है । जीमूतवाहन अन्त में विद्याधरचक्रवर्तित्व को प्राप्त करता है -- मोक्षरूप पुरुषार्थ को नहीं ।

अतः जैसा कि कहा जा चुका है, नागानन्द में यदि वीर रस मान लिया जाय तो फिर कोई भी कठिनाई नहीं रहेगी । एक ओर विद्याधर चक्रवर्तित्व प्राप्ति रूप फल से उसका कोई विरोध नहीं होगा, दूसरी ओर शृंगार रस के वर्णन को भी उसका अंग बनाया जा सकेगा । शान्तरस भी गौणरूप से नाटक में प्रयुक्त हुआ है ,

वही०, पृ० ६२०-६३२ ।

उसके तत्व नाटक में वर्तमान हैं, परन्तु फिर भी उसको प्रधानता नहीं दी जा सकती है ।

मोहराजपराजय -- यशःपाल

मोहराजपराजय शान्तरस सम्बन्धी अन्य श्रेष्ठ नाटक है । पांच अंक का यह नाटक श्रीसंघ के आदेश से अभिनीत हुआ था । प्रथम अंक में राजा कुमारपाल द्वारा मोह वृत्तान्त जानने के लिए प्रणिधि ज्ञानदर्पण जाता है । वह मोहराज के शिविर में गया था । किन्तु प्रमाद नामक उसके रक्षक के वहां होने से वह चिरकाल तक प्रवेश नहीं पा सका । मुनि का वेष धारण करके वह अन्दर किसी प्रकार प्रविष्ट होता है और वहां पाखण्डमण्डप से सम्बद्ध होता है । कुछ दिन पश्चात् अचानक उसे महामोह के सैन्य प्रस्थान को सूचित करता हुआ भेरीरव सुनाई पड़ा । ज्ञानदर्पण भी कुतूहलवश मोह के साथ चला जाता है । मोह सेनासहित जाकर राजा विवेक की 'जनमनोवृत्ति' नामक नगरी को घेर लेता है । पुरवासी व्याकुल हो जाते हैं और विवेक सदाचार नामक प्राकार में छिप जाता है । दोनों पक्षों में संघर्ष होता है । शत्रुओं ने उस नगर में बहने वाली 'धर्मचिन्ता' नामक नदी को रोक दिया । पर वहां प्रयत्नपूर्वक 'सदागम' नामक कूप थे, जिससे वहां की जनता पुनरुज्जीवित हो जाती है । इधर 'मनोभव' आदि ने मोह से मिलकर उन कूपों को रज से आच्छादित कर दिया । प्रबल प्रबोध प्रतीति प्राणियों के संचार को रोक दिया गया । यह, निकाय में अन्न और ईन्धन की कमी हो गई । यह अत्याचार देखकर राजा विवेक ने विरति आदि प्रमुख अमात्यों के साथ सलाह करके मोह से याचना करके 'धर्मद्वार' को ले लिया । तत्पश्चात् विवेक अपनी शान्ति और पुत्री कृपासुन्दरी के साथ नगर से निकल गया । इस प्रकार जन मनोवृत्ति नामक नगरी में मोह का पूर्ण अधिकार हो जाता है । इधर कुमारपाल कृपासुन्दरी का नाम सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हो जाता है । कुमारपाल की पत्नी कीर्तिमंजरी अपने भाई प्रताप से यह वृत्तान्त और अपने निकाले जाने का समाचार सुनकर क्रुद्ध होकर विपक्षी मोह से मिल जाती है । कुमारपाल भी मोह को पराजित कर देने की प्रतिज्ञा कर लेता है ।

द्वितीय अंक में अमात्य पुण्यकेतु जाकर कुमारपाल को ज्योतिषी गुरु का आदेश बताता है कि विवेक की पुत्री कृपासुन्दरी से विवाह करके मोह को जीत सकता है । इस कार्य की सिद्धि के लिए व्यवस्था जानकर विवेक को उसकी पत्नी और

कन्या सहित लाकर हेमचन्द्र के व तपोवन में निवास करवाता है । राजा विवेक को अपनी चित्रशाला में आश्रय देता है । कृपासुन्दरी से अपना मन हटाने के लिए वह 'धर्म' नामक अरण्य में प्रवेश करता है किन्तु वहां भी पूजासेवनायों में संलग्न कृपासुन्दरी को अपनी सखी सौम्यता के साथ देखता है और दोनों में परस्पर प्रेमालाप प्रारम्भ हो जाता है । राज्यश्री राजा के इस प्रणय व्यवहार को देखकर अत्यधिक क्रुद्ध हो जाती है । राजा उसे प्रसन्न करना चाहता है पर वह क्रोधावेश में चली जाती है ।

तृतीय अंक में खिन्न होकर राज्यश्री देवी के मन्दिर में कृपासुन्दरी को कुरूप कर देने की प्रार्थना करती है । मन्दिर के पीछे छिपा सेवक आदेश देता है कि तुम (राज्यश्री) कृपासुन्दरी के कुमारपाल को देने के लिए विवेक से कहो । राज्यश्री इस कथन को देवी का आदेश समझ कर शिरसा स्वीकार कर लेती है और विवेक को भी इस कार्य के लिए सहमत कर लेती है । इधर कृपासुन्दरी की प्रतिज्ञा थी कि जो कोई अपने राज्य से व्यसन चक्रवाल को निकाल देगा वह उसी से विवाह करेगी । राज्यश्री इस प्रतिज्ञा को स्वीकार कर अपनी पारिवारिका 'व्यवस्था' द्वारा राजा कुमारपाल से कृपासुन्दरी की प्रतिज्ञा को पूरी करने को कहती है ।

चतुर्थ अंक में देशश्री अपनी कनिष्ठ भगिनी नगरश्री से मिलने जाता है । वहां उसकी भेंट वनश्री की प्रियसखी वनराजि से होती है । नगरश्री से श्राविका होने के कारणों को सुनकर और उनसे प्रभावित होकर देशश्री भी श्रावक धर्म ग्रहण कर लेती है । तत्पश्चात् देशश्री और नगरश्री दोनों ही कृपासुन्दरी से मिलती है । इसी बीच पुण्यकेतु का मंत्री धर्मकुंजर नामक व्यक्ति शत्रु वर्ग के लोगों को ढूंढता हुआ वहां आता है । वनराजि नगरश्री उसे देखकर वहां से चली जाती है । इसी समय [illegible] द्वारा 'संसार' नामक एक 'पुरुष' पकड़ा जाता है । उसके पास एक पत्र निकलता है, जिसे मोह ने कलिकन्दल को लिखा था । उस पत्र से ज्ञात हुआ कि 'मिथ्यात्व राशि' नामक व्यक्ति तापस के वेष में और काम, गर्व, छल, लौल्य आदि भी उसकी मदद के लिए भेजे जा रहे हैं । राजा धर्मकुंजर को संसारक के कारागार में डाल देने का आदेश देता है तथा द्यूत, मांस, मद्य, मारि— इन चारों को नगर से निकालने का आदेश देता है । द्यूत, असत्यकन्दली, सुरा, मारि, पापंगल परस्पर वार्तालाप करते हुए धर्मकुंजर द्वारा पकड़ लिए जाते हैं और राजा के समक्ष लाए जाते हैं । ये सब भी विभिन्न [illegible] प्रभाव बतलाते हैं और राजकुल को द्रव्य से पूर्ण कर देने [illegible] एक भी नहीं सुनता और दण्डपाशिक द्वारा नगर से [illegible]

पंचम अंक में विवेक का प्रवेश होता है । वह अपनी पुत्री कृपासुन्दरी के विवाह से अत्यधिक प्रसन्न है ।

मोह के पक्ष में पाषण्डमण्डल, राग-द्वेष, अनंग, कोप, गर्व,दम्भ,कालिकन्दल, मिथ्यात्वराशि, पंचविषय (रूप,रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) प्रमाद, पापकेतु, शृंगार और शोक है । कीर्तिमंजरी और प्रताप भी बाद में मिल जाते हैं । इसी समय पुण्यकेतु कुमारपाल को श्री हेमचन्द्र द्वारा भेजे गए वज्र कवच और विंशतिवीतराग देता है । वज्र कवच से शरीर के आवृत रहने पर शस्त्र की परम्परा शरीर को नहीं भेद सकती है । 'विंशतिवीतरागस्तुति' से मुख के अलंकृत रहने पर शत्रु द्वारा पुरुष अदृश्य रह सकता है । इनको लेकर राजा ज्ञानदर्पण के साथ मोह, राग और द्वेष आदि के निवासस्थान पर जाता है । इधर कदागम नामक अमात्य द्वारा मोह को कृपासुंदरी और कुमारपाल के विवाह तथा धर्मकुंजर द्वारा किए गए कार्यों का विवरण प्राप्त होता है । मोह अपने सैनिकों को एकत्र करता है ।कुमारपाल और मोह में भयंकर युद्ध होता है । कुमारपाल मोह को जीत लेता है और मोह अपनी सेना के साथ भाग जाता है । कुमारपाल विवेक को पुन: जनमनोवृत्ति का शासक बना देता है ।

इस नाटक में ब्रह्म, माया आदि दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन न करके सामान्य ढंग से मोह को चित्त से बहिष्कृत करने का आदेश दिया है, क्योंकि समस्त कुप्रवृत्तियों का शासक वही है । राजा कुमारपाल को मोह पर विजय दिलाकर लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सर्वसाधारण मनुष्य भी मोह पर विजय प्राप्त कर सकते हैं । प्रमाद,राग,द्वेष, क्रोध आदि भी मोह के समान ही मनुष्य के शत्रु है । इनके कारण उसकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाती है । जीवन में सर्वाधिक आवश्यकता विवेक की है । मनुष्य का विवेक जब तक सुचारु रूप से नियंत्रित रहता है तब तक उसे कोई भी दुर्गुण आक्रान्त नहीं कर सकता । नाटक में मोक्ष आदि के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से कुछ न कहकर भी विवेक, ज्ञान और वैराग्य को प्रधानता दी गयी है । योग, वैराग्य आदि वज्र कवच आदि के समान है । जैसे वज्र का कवच धारण करने वाले व्यक्ति को बाह्य शस्त्र आदि कष्ट नहीं पहुंचा सकते, उसी प्रकार योग को अपने जीवन में अपना लेने वाले तथा वैराग्य आदि से युक्त पुरुष को काम,क्रोधादि प्रभावित नहीं कर सकते हैं । काम, क्रोध को मन से निष्कासित करने के लिए पर्याप्त बल दिया गया है और उनकी तुच्छता प्रतिपादित की गई है

वैराग्य संसार की नश्वरता आदि का भी इसमें कहीं पृथक् रूप से वर्णन नहीं मिलता है । परन्तु मोह, द्यूत, असत्यकन्दली आदि पात्रों के सम्भाषण से उनके चरित्र का जो ज्ञान होता है उससे उनके प्रति मन में स्वाभाविक घृणा उत्पन्न हो जाती है । स्थान स्थलों पर बड़े सरल ढंग से विरक्ति का उपदेश दिया गया है । तृतीय अंक में कुबेर के जलधि दुर्घटना में मृत्यु को प्राप्त हो जाने का हाल सुनकर राजा विषादयुक्त होकर कहता है --

अहो ! कष्टम् ईदृश एवायमसारः संसारः क्षणभंगुरमायुः अनित्यं यौवनं चपलं जीवितव्यम् ,विश्वरं शरीरं असवलितगतयो व्याधयः दुर्निवारा जरा ।
अपि च,

लंकेशः क्व स ? केशवः क्व स ? नलः क्वासौ क्व ते पाण्डवाः ।
क्वासौ दाशरथिः ? क्व तत्कुरुशतं ? ते चक्व चक्रायुधाः ?
नाभेय प्रमुखाः क्व ते जिनवृषास्तत्सर्वसाधारणं
नन्वेतन्मरणं न तत्र शरणं कश्चित्क्वचित्कस्यचित् ।।१८ पृ०५२

कुबेर की माँ के क्रन्दन को सुनकर राजा उसे इस प्रकार सान्त्वना देता है --

आकीटाद्यावदिन्द्रं मरणमनुगतं निश्चितं बान्धवानां
सम्बन्धश्चैकवृक्षाश्रित बहुविहगव्यूहसंगततुल्यः ।
प्रत्यावृत्तिर्मृतानां कदलीनिहित दुष्टबीजप्ररोह--
प्रायः प्राप्यैव शोकाः क्वचमकुशलैः क्लेशमात्मा मुधैव ।। ४५ पृ० ५६

\+ \+ \+

अविनश्वरं शरीरं येषां भुवने यशोमयं स्फुरति ।
ते जीवन्ति मृता अपि पुण्यात्मानो न शोच्या एव ।।४६।।पृ०५६

\+ \+ \+

अद्य श्वो वा ध्रुवं मृत्यौ स्वस्थैकस्य क्व्यापदि ।
रक्ष्यन्ते सुवसा प्राणाः पर्याप्तमियता न किम् ।।४८।।पृ०६५

इस नाटक में श्रृंगाररस भी अप्रधान रूप से निबद्ध है । द्वितीय अंक तो पूरा श्रृंगाररस का है पर प्रधानता वहाँ भी शान्त की ही है । कुमारपाल तथा कृपासुन्दरी के प्रणय तथा विवाह का कारण केवल रूपासक्ति नहीं है । कुमारपाल व्यसन आदि को अपने राज्य से निष्कासित करने के लिए कृपासुन्दरी से विवाह करता है ।

कीर्ति और वैराग्य आदि के रहते हुए गौण वैराग्य का चित्त में न आना भी उचित है । इसीलिए लेखक ने इन दोनों को पहले ही कुमारगाठ से विलग करवा दिया है । मोह के रहते हुए मनुष्य में ज्ञान का प्रवेश दुर्लभ है, परन्तु एक बार ज्ञानोदय होने मोह स्वत: नष्ट हो जाता है ।

इस नाटक में लेखक ने जैन धर्म को प्रधानता दी है । इसके अतिरिक्त कौल, कापालिक घटचटक, रत्नमाण आदि अन्य सिद्धान्तों का संक्षेप में विवेचन किया गया है ।

रंगमंच, नाट्यकला और मनोरंजकता की दृष्टि से यह निर्दोष है । अत: इसकी गणना शान्तरस सम्बन्धी नाटकों में नि:सन्दिग्ध रूप से की जा सकती है ।

संकल्पसूर्योदय-- श्री वेंकटनाथ --

प्रस्तुत नाटक का नायक विवेक और प्रतिनायक महामोह है । विवेक के पक्ष में निम्न पात्र हैं -- सुमति (विवेक की पत्नी) व्यवसाय(विवेक का सेनापति) तर्क (सारथी), संस्कार (शिल्पी), दृष्टप्रत्यय (दूत), संकल्प(भगवद्दास), पुरुष (नि:श्रेयसाधिकारी), बुद्धि (पुरुष पत्नी) विष्णुभक्ति (भगवद्दासी), श्रद्धा और विचारण (सुमति की दासियां) गुरु (सिद्धान्त) शिष्य (वाद) नारद, तुम्बुरु ।

प्रतिनायक के पक्ष में निम्न सहायक हैं -- दुर्मति (मोह की पत्नी), काम और क्रोध (सेनापति), रति (काम पत्नी), वसन्त (काम सखा), राग, द्वेष, लोभ(मंत्री) तृष्णा(लोभ की पत्नी), दम्भ, दर्प (मोह के परिवार), कुहना (दया की पत्नी), असूया (दर्प पत्नी), स्तम्भ (कंचुकी), संभूतिकल्प(दूत), अभिनिवेश(कोशाधिकारी), दुर्वासना (अभिनिवेश की पत्नी) । संक्षेप में इसकी कथावस्तु इस प्रकार है --

गुण भेद (विवेक के सत्त्व और मोह के तम से उत्पन्न होने) के कारण विवेक और मोह में स्वभावत: वैमनस्य था । मोह के सहायक काम क्रोध आदि निर्विकार पुरुष के साथ क्रीड़ा किया करते हैं । इसलिए विवेक अपनी पत्नी के साथ परार्थार्थ व्रत ग्रहण करता है । विवेक के सेनापति व्यवसाय का शत्रुविजय के लिए उद्योग सुनकर महामोह पुरुषोत्तम के चरणकमलों में नियंत्रित चित्त पुरुष को प्रतारित करने का आदेश देता है । राग और द्वेष परस्पर मिलकर स्वामिकार्य को सम्पन्न करने का वचन देते हैं । समस्त विघ्नों का कारण विवेक को समझकर राग द्वेष सर्वप्रथम विवेक को ही नष्ट करने का उपाय सोचते हैं । उधर विवेक दूसरों को मोहित करने के लिए

दुर्वादियों द्वारा कल्पित अनेक प्रकार के सिद्धान्तों के भेदों को देखकर शोक करता है। मोह अपने दूत संवृतिसत्य द्वारा विवेक के पास संदेश भेजता है जिसमें वह काम क्रोध आदि की प्रशंसा करता है और अपना महत्व बताता है। विवेक उसी दूत के द्वारा प्रत्युत्तर में महामोह को नष्ट करने का संदेश भिजवाता है। मोह के सहायक वसन्त शृंगार के उद्दीपन चन्द्रोदय मारुत,कोकिल आलाप आदि से और काम शृंगार के आलम्बन युवती कटाक्ष भ्रुविलास आदि से पुरुष को क्षुब्ध करने का संकल्प करते हैं। फिर काम वसन्त और क्रोध तीनों ही परस्पर मंत्रणा करके उत्क्रान्त समाधि वाले पुरुष के समीप जाते हैं। अनादि काल से चली आ रही विषयवासना को पुरुष के लिए दुर्जय समझकर वसन्त और काम सबसे पहले क्रोध को देहमन में प्रवेश करने को कहते हैं। इस प्रकार काम,क्रोध, लोभ आदि मिलकर दुर्भेद्य व्यूह बनाकर विवेक को नष्ट करने जाते हैं। काम सबसे आगे चलता है। इधर दुर्नीति दम्भ को प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म नष्ट करने के लिए तथा असूया को विद्वानों के चित्त को क्षुब्ध करने के लिए आदेश देती है। ये सब मिलकर पुरुष की समाधि भंग करने जाते हैं पर व्यूह भंग हो जाने से तथा बलविन्यास होने से लज्जित होकर प्रत्येक दिशा में प्रस्थान करके अनशन से शरीर त्याग करने का निश्चय करते हैं। इसके पश्चात् विवेक स्थान विशेष के संग्रह के लिए अनेक स्थलों का अवलोकन करता है। व्यवसाय संस्कार रूपी शिल्पी द्वारा चित्रित विश्व-चित्र को तथा भगवान के कुछ अवतारों को विवेक और उन्नति का दिखाता है। विवेक बताता है कि मुमुक्षु यदि चाहे तो वह किसी भी एक अवतार को अवलम्बन बना सकता है। क्योंकि भगवान अपने आश्रितों का सदैव ध्यान रखते हैं। मोह के सहायक अभिनिवेश से ज्ञात होता है कि काम,जुगुप्सा द्वारा, क्रोध तितिक्षा द्वारा लोभ तुष्टि द्वारा और अहंकार आत्मविद्या द्वारा जीत लिए गए हैं। विवेक अपने दृष्टि प्रत्यय नामक दूत को मोह के पास पत्र लेकर भेजता है। उसमें लिखा था कि कलियुग के अवसान पर्यन्त दक्षिण पथ की भूमि में स्थित मनुष्यों को छोड़ दो और तिर्यक तथा स्थावर को कलियुग में भी तुम ले लो। इस प्रकार मेरी बात मान लेने पर सन्धि हो जायगी अन्यथा तुम सब नष्ट हो जाओगे। मोह क्रुद्ध होकर दूत को वहाँ से निष्कासित कर देता है। विवेक और महामोह के पक्षों में एक बार स्वयं युद्धस्थल में आता है किन्तु वह विवेक द्वारा आहत होकर पराजित होता है। व्यवसाय विवेक से उसका विद्याभिषेक करने को कहता है पर विवेक अनिष्पन्न समाधिस्थ पुरुष में अपने अभिषेक को असम्भव बताता है। मोह के पक्ष के सब लोग नष्ट हो जाते हैं। पर धर्म नामक अणिमा अब भी अवशिष्ट रह जाती है। इससे पुनः कामादि के उत्पत्ति

की आशंका है । अत: व्यवसाय कहता है कि इस कर्म रूप अविद्या को नष्ट करने के लिए कल्लान्तावहिन्नरूप योग सहायक होगा तथा समाधिस्थ पुरुष में अविद्या की उत्पत्ति की शंका ही नहीं करनी चाहिए । विवेक प्रतिज्ञा करता है कि जब तक पुरुष के नि:श्रेयस् के उपाय को पूर्ण न कर तब तक निद्रा आदि समस्त क्रियाकलापों का परित्याग कर दूंगा । नारद कलियुग नामक एक अन्य शत्रु से भी बचने की सलाह देते हैं क्योंकि यह कामादिकों को पुनरुज्जीवित कर देता है । इसी समय विष्णुभक्ति और संकल्प भी आते हैं । विष्णुभक्ति बताती है कि कलियुग में समाधि में विघ्न अवश्य पड़ते हैं -- पर भगवान के एकान्त प्रभाव से सब विघ्न प्रतिहत हो जाते हैं । संकल्प ज्ञानशून्य दुरुक्त कलजीवों के बोधन में अपने को पटु बताता है और कहता है कि मैं पुरुष को दु पंजरस्थ शुक के समान मुक्त करूंगा । इसके पश्चात् अन्त में विवेक और विष्णु भक्ति दोनों ही एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं और नाटक भरतवाक्य से समाप्त होता है ।

इस दस अंक के विशद नाटक में विवेक द्वारा महामोह की पराजय वर्णित है । कथावस्तु की दृष्टि से इसमें कोई विशेष नवीनता नहीं । नाटक सैद्धान्तिक अधिक है । प्रत्येक अंक में दो या अधिक पात्रों के वार्तालाप द्वारा विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्घाटन किया गया है । अध्यात्मशास्त्र के रहस्यों का प्रतिपादन इस रूपक का प्रमुख लक्ष्य है । सुमति द्वारा किए गए समस्त प्रश्न आत्मस्वरूप के जिज्ञासु के प्रश्न हैं । यहां संक्षेप में उन तत्त्वों की चर्चा की जा रही है जो कि इस ग्रन्थ में निबद्ध हैं ।

नित्य,निर्मल आनन्दस्वरूप एवं स्वयं प्रकाश्य होकर भी पुरुष मोह द्वारा बन्धनग्रस्त होकर दु:खसागर में निक्षिप्त कर दिया जाता है । जीव बुद्धि के संसर्ग से काम मोह आदि की ओर ही अधिक उन्मुख रहता है । वास्तव में संसार में लिप्त होने का एकमात्र कारण राग ही है-- जिससे आक्रान्त होकर पुरुष शरीर से भिन्न होने पर भी देह के प्रति अपने ममत्व को नहीं छोड़ पाता । इस प्रकार की उन्मत्त दशा वाले पुरुष को बुद्धि भी प्रबुद्ध नहीं कर पाती । वैसे तो बुद्धि स्वयं प्रकाशवान है पर माया के संसर्ग से उसका आनन्दादि प्रकाश तिरोहित हो जाता है । पुरुष की विरक्ति और भक्ति को नष्ट करने वाले एकमात्र कारण राग और द्वेष है । सांख्यात्मक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों के अनुसार पुरुष विरक्त और अभिमुक्त हो ही नहीं सकता । उनके अनुसार जो पुरुष अस्थिर स्वर्गादि सुखों की इच्छा करता है, वह

निरतिशयानन्द मोक्ष काम के प्रति विरक्त कैसे रह सकता है? । वास्तव में अपवर्ग की कल्पना ही मिथ्या है । ब्रह्म की प्राप्ति आनन्दमय है -- इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता । फिर ब्रह्म को निर्विशेष भी तो नहीं कहा जा सकता -- क्योंकि समस्त विषयादिकों से शून्य वस्तु निष्प्रमाण होती है । इसी तरह चित् और अचित् जगत् का आधार प्रभु निर्दोष नहीं रह सकता । चित् और अचित् के दोष उसमें अवश्य आ जायेंगे । इस प्रकार राग द्वेषात्मक प्रवृत्ति वाले पुरुषों के अनुसार ब्रह्म न तो निर्विशेष है न निर्दोष है और न निरपेक्ष ही है, वह सर्वकामार्थी है । मोह से युक्त पुरुष के लिए शरीर का नष्ट हो जाना ही मुक्ति है और उत्तम रति ही सम्भोग है । इस प्रकार के भोग को देने वाले समाधिस्थ पुरुष की वासनारूपी भित्ति में विक्षिप्त होने के कारण समाधि को नष्ट कर देती है । ब्रह्म के स्वरूप आदि के प्रतिपादक ग्रन्थों का अध्ययन व्यर्थ है ।

इन जटिल भोगवासनाओं एवं आवागमन के बन्धन से निस्तार का उपाय इस प्रकार है -- स्वर्ग में निवास करने की पुरुष की स्वभाविक दुराकांक्षा ब्रह्म में उसकी तृष्णा को पुष्ट करती है । मोहाभिभूत बुद्धि होने के कारण पुरुष का ध्यान यद्यपि मोक्ष आदि की ओर आकृष्ट नहीं होता पर स्वर्ग से पतन की आशंका से उसमें मोक्ष के अधिकार की भावना उत्पन्न हो जाती है । ब्रह्म में आस्था होने पर पुरुष का भगवद्विषय में प्रेमातिशय और इतर विषयों में वैराग्य स्वत: हो जाता है । वह ब्रह्म प्राप्ति के उपायों में क्रमश: प्रवृत्त होता है । परब्रह्म में सतत अनुरक्त होता हुआ वह स्वर्ग को भी नरक समझता है । वैराग्य दो कारणों से होता है संसार के दोष दर्शन से और परब्रह्म की जिज्ञासा से । प्रथम की अपेक्षा दूसरा महान फल को देने वाला है । द्वितीय प्रकार का वैराग्य प्राप्त होने पर पुरुष नित्य और नैमित्तिक कर्मों का परित्याग कर भगवदाराधना में ही स्थित रहता हुआ निषिद्ध और काम्य कर्मों का पूर्णरूपेण परित्याग कर योग का अभ्यास करता है । संसार से छुटकारा पाने के लिए भाग्य का महत्त्व भी कम नहीं किया जा सकता । भाग्यवश जब पुरुष अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त कर लेता है तभी उसे मोक्ष प्राप्ति होती है ।

अत्यधिक अवहित चित्त होने पर भी योगी को बीच बीच में सिद्धि के विरोधी अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है । जैसे योग की प्रक्रिया में साधक को अणिमादि सिद्धियां सिद्ध हो जाती हैं । यदि साधक का मन उनमें ही रम जायगा तो वह उन सिद्धियों की प्राप्ति से ही अपने को कृतकृत्य मानता हुआ वह पुरुष पुनः सृष्टि के बन्धन में पड़ जायगा । अतः मनीषी व्यक्ति को दूर से ही उनका परित्याग कर देना चाहिए । इस योग की श्रेणी के आरोहण क्रम में 'स्वात्मानुभव' नामक महान गर्तमार्ग को अवरुद्ध कर लेता है । उसमें पड़ा हुआ व्यक्ति किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करता व वह उससे उत्पन्न आनन्द को ही निरतिशय लाभ मानता हुआ वहीं निरत होकर ब्रह्मानुभव रूप मोक्ष को भी भूल जाता है । अतः दृढ़ संकल्प चित्त होकर इन विघ्नों को दूर से परित्यक्त कर देना चाहिए ।

मोक्ष प्राप्ति में सबसे आवश्यक कारण भगवत्कृपा है । ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त जीव वर्ग को समस्त सृष्टि में मोक्ष प्रदान करने वाला भगवान ही है । भगवान विष्णु ही परमतत्त्व हैं अन्य सब अवरतत्त्व हैं । अतः जो साधक जिस अनन्यभाव से भगवान की कृपा का अवलम्बन लेता है उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है । पुरुषोत्तम में स्थिर भक्ति संसार से निवृत्ति उत्पन्न कर देती है, भोगविलास वासनाओं को नष्ट कर देती है तथा पुनरावृत्ति का भय दूर हो जाता है । भगवत्स्वरूप के अतिशय रसमय होने के कारण अन्यत्र भी स्वतः विरक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है । मोक्ष के लिए अन्य देवताओं की अभ्यर्थना करना व्यर्थ है, क्योंकि केवल भगवत्संकल्प रूप सूर्य ही त्रिगुणात्मक प्रकृति रूप शर्वरी को समाप्त करने में समर्थ है[2] । अतः पुरुषोत्तम में दृढ़ निष्ठा होनी चाहिए पर उसके लिए सदाचार की उपपत्ति का उत्पन्न होना लाभदायक है, क्योंकि उपपत्ति के उत्पन्न होने पर परम्परा से अपवर्ग के साधनभूत तत्त्वज्ञान, शम, दम आदि गुण स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं । इसके उपरान्त ज्ञानादि के अनुष्ठान से भक्ति प्राप्त होती है । जीव को कुमार्ग से हटाकर निःश्रेयस में लगाने का श्रेय विवेक को ही है । विवेक आत्मनिःश्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रारम्भ में बाह्य दुष्ट आदि और आन्तरिक काम क्रोधादि शत्रुओं को बहिष्कृत करके ब्रह्मप्राप्ति के लिए नष्ट हुए समस्त पापों वाले जीव के मन को समाधि में स्थापित करता है । इस प्रकार सब ओर से व्यावृत्त चित्त वाला पुरुष भगवान में सातिशय परम भक्ति को प्राप्त करता । भक्ति के होने पर प्रपत्ति भी सम्भव है । मुक्ति के

---

2 संकल्प सूर्योदय, पृ०२७५

प्राप्त होने पर पुण्य पाप आदि समस्त कार्यों के बन्धन नष्ट हो जाते हैं । मुमुक्षु पुरुष विवेक के माध्यम से भगवान के विभिन्न अवतारों में से किसी एक अवतार को आलम्बन बना लेता है और किसी एकान्त प्रदेश में स्थित होकर हृदयरूपी गुहा में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा का ध्यान करता है ।

पूर्णरूप से समाधिस्थ न हुआ पुरुष एकान्त में रागादि में पुनः प्रवृत्ति को प्राप्त करेगा । उस समय वह पुरुष अपनी समाधिनिष्ठता को प्रसिद्ध करने तथा उससे आकृष्ट जनों को प्रभावित करने के लिए दम्भ और तृष्णा का आश्रय ले लेता है । वह पुरुष अपने को आनुश्रवीय भोगसिद्धि के बल से सम्पन्न लोकातीत प्रसिद्ध करता हुआ अनर्थ मार्ग में अग्रसर होता है । उसके कथन से प्रभावित होकर लोग उसे बहुत सा धन और आदर देते हैं जिसके द्वारा वह अपने अभीष्ट भोगों का सम्पादन करता है । वह समाधि भंग को प्राप्त पुरुषों को अपने प्रति श्रद्धा को बढ़ाने के लिए अनादर का अभिनय करता हुआ द्रव्य आदि सब का निराकरण कर देता है । साधारण जन उसके शिष्य के उपदेश से और भी अधिक धन उसे किसी प्रकार अर्पित कर देते हैं । उस धन से गुरु और शिष्य दोनों ही अपने अभीष्ट भोगों का सम्पादन करते हैं ।

इसके विपरीत समाधिस्थ पुरुष समस्त सुखों का त्याग कर देता है । तदुपरान्त सत्त्वगुण से पूर्ण, अतिशय आनन्द के उत्पत्ति स्थान पद्मनाभ के ध्यान से चित्त के शुद्ध होने पर यद्यपि प्रभु चक्षु से नहीं दिखाई देता तथापि उसको विशुद्ध मन से देखा जा सकता है । कर्म रूप अविद्या भी योग द्वारा पूर्णरूप से नष्ट हो जाती है किन्तु कर्म नामक अविद्या एक बार निरस्त होने पर भी पुनः उद्बुद्ध होकर पुरुष की सत्कार आदि में अभिलाषा उत्पन्न करते हैं । उस समय योगी को प्रमादरहित होना एवं समाधि की सिद्धि के लिए वर्णाश्रम आदि धर्मों में ध्यान लगाना चाहिए । इस आराधना से प्रसन्न होकर भगवान कर्मसंचय रूप अविद्या को नष्ट कर देते हैं और पुरुष समाधि सिद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार समाधि के निष्प्रत्यूह हो जाने पर पुरुष का योग सिद्धि के प्रति कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता । शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए केवल भगवत्कृपा का ही सहारा लेकर शरीर के 'पात' (नष्ट) के समय की प्रतीक्षा करता है । इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त पुरुष को सत्कार कालकूट के समान, स्त्री को कुप्पय और गोष्ठी को सर्प के समान देखता

भगवान के एकान्त प्रभाव से कलियुग के सारे विघ्न प्रतिहत हो जाते हैं । इस विवेक द्वारा प्राप्त अभ्युदय परिष्कृत स्वभाव वाला पुरुष सर्वसम्पन्न होकर विष्णुपद में आश्रित होकर विनाशिनी स्मृति को प्राप्त करता है । ज्ञानयुक्त पुरुष सकल जीवों के जीवन में पटु संकल्प का उदय होता है । माया रूपी रात्रि की दशा नष्ट हो जाती है । विवेक अनादि काल से चली आ रही अज्ञान रूपी निद्रा को क्षणमात्र में निवारित करके निज प्रबोध का बोध को उत्पन्न करता है । माया रूपी नदी के कारण परिश्रान्त जीव के परित्राण के लिए सर्वेश्वर अपनी कृपा से तीनों तापों का शमन कर देता है । विवेक द्वारा पुरुष शीघ्र ही बन्धन मुक्त हो जाता है । पुरुष विष्णु भक्ति, अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया, क्षमा, ज्ञान, तप, ध्यान और सत्य इन आठों से युक्त हो जाता है । इस प्रकार जैसे मणि मलिन वस्तुद्वारा आच्छादित होने पर अपने वास्तविक रूप को प्रकाशित नहीं कर पाती उसकी प्रभा निरुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार पुरुष की अन्तर्ज्योति इन्द्रिय, देह एवं माया से निरुद्ध होने के कारण प्रकाशित नहीं हो पाती[1] । पुरुष अपने अनादि-कालीन कर्म रूपी संसृति की प्रवृत्ति रूपी निद्रा द्वारा अच्छी तरह प्रसुप्त है विवेक उसके प्रतिकूल मोहादि को मार कर प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) की दशा को प्राप्त करा देता है[2] । विष्णुभक्ति पुरुष की पापराशि को नष्ट कर देती है ।

मुमुक्षु के लिए देशादि का कोई बन्धन नहीं । वह भगवान के परमपद को प्राप्त होता है । इस पुरुष में कुछ अद्भुत बातें जैसे कर्मभाग देह में प्रमाद का न होना अग्नि से न जलना, उदर में शत्रुओं को ही जला देना आदि बातें दिखाई पड़ती हैं । पुरुष में विवेक के बाद विष्णुभक्ति उत्पन्न होती है । अनादि संसार सागर में निमग्न अपने कुलपति पुरुष का उद्धार करने के लिए विवेक और विष्णुभक्ति ही प्रधान सहायक है । अन्त में प्रतिपादित किया गया है कि विष्णु भक्ति रहित विज्ञान व्यर्थ है । तप, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, अध्ययन, तीर्थ, व्रताचरण आदि सभी कभी बिना विष्णु भक्ति के व्यर्थ है । तत्त्व को जानने के लिए एकान्त रूप से भक्ति ही समर्थ है ।

१- संकल्प सूर्योदय, पृ० ८६३
२- वही०, पृ० ८६५

चैतन्यचन्द्रोदय

यह दस अंक का नाटक है । इसमें कलि एवं अधर्म आकर बताते हैं कि चैतन्य के उपदेश वश उनका बल नष्ट हो रहा है । तत्पश्चात् चैतन्य अपने अनुयायियों सहित होकर उपदेश देते हैं । इसमें मानवीय चरित्रों के साथ ही कुछ प्रतीकात्मक और पौराणिक चरित्र भी अंकित है, यह नाटक कर्णपूर के पिता जो इस नाटक में चैतन्य के वृद्ध शिष्य के रूप में चित्रित किए गए हैं के द्वारा प्रदत्त परम्पराओं का अच्छा दिग्दर्शन करता है । किन्तु धार्मिक एवं शास्त्रीय उपदेशों तथा आलंकारिक विशेषताओं के कारण यह नाटक न तो चैतन्य के जीवन का आध्यात्मिक महत्त्व ही दिखा पाता है और न ही श्रेष्ठ नाटक बन पाता है ।

भर्तृहरिनिर्वेद -- श्रीहरिहरोपाध्याय --

पांच अंकों में समाप्त होने वाला यह अतिसंक्षिप्त नाटक है । नाटक का नायक राजा अपने प्रतिकूल का दमन करने के लिए भागीरथी के तीर पर जाता है । वहां पर ब्राह्मण के आदेश से उसे रुका रहना पड़ा । फलस्वरूप काफी देर से लौटता है । लौटने पर रानी भानुमती के वियोग को देखकर वह उसकी परीक्षा लेना चाहता है और मृगया के बहाने वहां से चला जाता है। रानी भानुमती दुराख्यायी नामक व्यक्ति से राजा के श्वापद द्वारा मारे जाने के वृत्तान्त को सुनकर मर गई । बाद में यद्यपि उसने कहा कि यह वृत्तान्त झूठा है पर रानी प्रबुद्ध न हो सकी । यह झूठा वृत्तान्त राजा ने स्वयं ही रानी की परीक्षा हेतु कहलवाया था । राजा मृगया से लौटने पर रानी के मरण के वृत्तान्त को सुनकर बहुत दु:खी हो जाता है । एक योगीश्वर राजा के शोक को दूर करने की प्रतिज्ञा करता है । योगीश्वर अपनी स्थाली के टूट जाने पर से अत्यधिक विलाप करता है और राजा उसे विभिन्न प्रकार से सान्त्वना देता है । योगीश्वर राजा के वचनों से ही उसके शोक को दूर करता है राजा गोरखनाथ की शरण में चला जाता है और उसके द्वारा बताए गए उपदेशों का निर्जन वन में चिन्तन करता है। गोरक्ष योगबल से भानुमती को पुनः जीवित कर देता है । मृतोज्जीवित भानुमती विभिन्न प्रकार से राजा को अपने अनुकूल करने का प्रयत्न करती है और अपने पुत्र कुमार को भी ला [illegible] जाती है परन्तु राजा की पुत्र तथा [illegible] की याचना

वैराग्य से विमुख नहीं होता । गोरक्ष राजा के वैराग्य को देखकर राजपुत्र को ही राज्य पर अभिषिक्त करने को कहता है और भानुमती को सान्त्वना देता है कि अमृतीकरण के समय पुन: तुम्हारा स्वामी से समागम हो जायगा । यहाँ नाटक समाप्त हो जाता है ।

संसार महामोह का मूल कारण है -- यही इस नाटक का प्रतिपाद्य है । विषयों की क्षणभंगुरता, स्त्री भोग की क्षणिकता आदि के प्रदर्शन पूर्वक अज्ञान को दूर करने के लिए वैराग्य का प्रमुख स्थान बताया है । आत्मा को वैराग्य की ओर उन्मुख करने के लिए सुन्दर युक्ति का आश्रय लिया गया है । तृतीय अंक में योगीश्वर राजा के वचनों से ही उसका प्रबोध करता है । योगीश्वर के कोरे उपदेश का सम्भवत: राजा पर इतना अधिक और इतनी शीघ्रता से प्रभाव नहीं पड़ता । राजा अपने ही वाक्यों को अपने ऊपर घटित होते हुए देखकर लज्जित हो जाता है । फलस्वरूप उसकी अन्तरात्मा में शीघ्र ही वास्तविक सत्य का उद्घाटन होता है ।

जीवानन्दनम्-- आनन्दराय मखिन

इस नाटक का नायक जीव है । 'बुद्धि' उसकी पत्नी 'विज्ञान शर्मा' त्रिवर्ग साधक मंत्री और 'ज्ञान शर्मा' अपवर्ग साधक मंत्री हैं । धारणा स्मृति भक्ति और श्रद्धा आदि आत्मगुण तथा विदूषक उसके परिवार हैं । जीव प्रतिपक्षी 'यक्ष्मा' प्रतिनायक है । 'विषूची' उसकी पत्नी युवराज पाण्डु प्रधानामात्य है । कास उसकी पत्नी 'छर्दि' कर्णमूल,कुष्ठ , गलगण्ड, उन्माद आदि अनेक रोग यक्ष्मा के परिवार के रूप में बताए गए हैं । काम,क्रोध आदि कुछ आत्मगुण भी यक्ष्मा के ही पक्ष में हैं और पात्ररूप में चित्रित किए गए हैं । कथावस्तु इस प्रकार है --

जीव का मंत्री विज्ञान शर्मा धारणा नामक स्त्री परिजन को प्रणिधि के रूप में शत्रु यक्ष्मा की प्रवृत्ति जानने के लिए जीवराज की आज्ञा से भेजता है । धारणा 'गार्गी' ऐसा अपना नाम रखकर तापसी के वेश में शत्रुकटक में प्रवेश करके एकान्त में शत्रु के वृत्तान्त को जानकर लौट आती है और उस ज्ञात वृत्तान्त को मंत्री से बताती है । मंत्री, प्रबल बल और यक्ष्मा के देहात्मपुर में प्रवेश रोकने के लिए स्वयं राजा के पास जाता है । रस गन्धक आदि के प्रयोग से राजा यक्ष्मा अनिवारणीय है तथा औषधियों की सिद्धि और प्राप्ति सिद्धार्थों की उपासना से सम्भव है--ऐसा

सोचकर मंत्री ने अपना निर्णय राजा को बताया । जीवराज उसी प्रकार साम्बशिव की उपासना के लिए पुण्डरीकपुर में प्रवेश करता है ।

इधर यक्ष्मा द्वारा भेजा गया वेत काल नामक दूत यह सुनकर कि जीव यक्ष्मा के अनिष्ट संपादनार्थ यत्न करता है यक्ष्मा के युवराज पाण्डु के पास जाता है । मध्य मार्ग में काल अपनी पत्नी छर्दि से मिलता है । राजा यक्ष्मा का मंत्री पाण्डु अपने शत्रु जीव द्वारा उपस्थित किए जाने वाले संकट के विषय में सुनकर उसके प्रतीकार हेतु तथा जीव को जीतने के लिए समुचित उपायों को अपनी सेना संनिपात आदि के साथ तथा सैनिक कुष्ठोन्माद आदि के साथ सोचता है । पाण्डु का दूत कर्णमूल जीव के समाधि निष्ठास्वरूप को एकान्त में पाण्डु से कहता है । पाण्डु जीवमंत्री ज्ञान और विज्ञानशर्मा के बीच वैमनस्य तथा जीवराज के प्रकृतिमण्डल में संक्षोभ उत्पन्न करके जीव के लिए संकट उपस्थित करने वाले उपायों को सोचता है । कास, गलगण्ड आदि पाण्डु का अनुसरण करते हैं । जीवराज के पुर को घेर कर उसको जीतने के लिए रोगों की सेना को पाण्डु प्रेरित करता है ।

यक्ष्मा का प्रणिधि क्षुद्रोग नामक गद जीवराजपुर में रात्रि में घूमते हुए विचारनामक नागरिक -- जो कि नगर का गुप्तचर था-- द्वारा पकड़ कर बांध दिया जाता है । पाण्डु प्रेरित विविध रोग रूपी योधा जीव के पुर को घेरने का यत्न करते हैं । इसी बीच जीवराज अभिमत फल को प्राप्त करके पुरवासियों द्वारा अलंकृत पुर में प्रवेश करता है । जीवराज परमेश्वर के प्रसाद से प्राप्त रस गन्धकादि के प्रभाव, स्वानुष्ठित शिवोपासना तथा निदिध्यासन द्वारा साक्षात्कार किए गए परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करता है और मंत्री शत्रु के नष्ट करने की क्षमता रखने वाले उन रसादिकों को औषधियों के साथ संयुक्त करता है ।

यक्ष्मा के पक्ष वालों द्वारा जीवराज के ऊपर कूटरचना से किए गए व्यतिक्रम को सुनकर मंत्री विज्ञानशर्मा उसे राजा से निवेदित करता है । पुनः शिव के ध्यान में संलग्न जीवराज का ध्यान भंग करने के लिए पाण्डु कामादिक प्रणिधियों को जीवपुर के प्रति भेजता है । उसके प्रणिधियों में अन्यतम मत्सर जीवराज के सेवकों द्वारा पकड़ कर परिभूत करके छोड़ दिया जाता है । मत्सर जीवराज के अनुचर विचार आदि द्वारा अपने पराभव को दुःखादि से कहता है । इस विषय में पर्याप्त मंत्रणा करके पाण्डु जीवराज को अपथ्य में प्रवृत्त करने के लिए अपथ्यता को नियुक्त करता है । यक्ष्मा मत्सर द्वारा बताए गए पराभव को एवं अपने को नष्ट करने के लिए विज्ञानशर्मा द्वारा विहित उपाय को सुनकर क्रोधित हो शत्रु विनाश के लिए कटिबद्ध हो जाता है ।

जीवराज यक्ष्मा के युद्ध स्वरूप का वर्णन आकाश में स्थित काल और कर्म करते हैं । इसी बीच आपवर्गिक मंत्री ज्ञानशर्मा जीवराज के पास जाकर स्वर्गिक कृत्यों से जीव को हटाकर अपवर्ग के स्व साधनोपायों के प्रति प्रेरित करता है । अत: जीव की भौतिक देह में तात्कालिकी विरति हो जाती है । विज्ञान शर्मा ज्ञान शर्मा द्वारा किए गए जीव के इस गुण विपर्यय को देखकर राजा को अपने पक्ष की अवश्यम्भावी जयश्री से बचाकर उसे अनेक उपायों से प्रकृति (पहले की अवस्था) को प्राप्त कराता है । इसी बीच पाण्डुप्रेरित भस्मक रोग द्वारा जीवराज अभिभूत हो जाता है । राजा के इस अवस्थान्तर को औदरिक विदूषक अपने उदरपोषण के लिए उपयुक्त समझता है । किन्तु विज्ञानशर्मा इस व्यतिकर को जानकर राजा को प्रमाद के ऊपर ले जाता है और राजा की मनोवृत्ति को शत्रु द्वारा किए गए संकट में लगाकर उसकी बहुभुक्ता को भुलवा देता है ।

जीव पक्ष और यक्ष्मा पक्ष का उग्र विग्रह काल और कर्म द्वारा वर्णित किया गया है । अत्यन्त प्रबल वसन्त कुसुमाकर आदि औषधात्मक सेना द्वारा व्याधिरूप योधा रणांगण में मारे जाते हैं । दु:खी हृदय राजयक्ष्मा पुन: मत्सर द्वारा उपदेशित होकर जीवपुर को घेरने और कूटयुद्ध करने का निश्चय करता है ।

अन्त में जीवराज कुछ अवशिष्ट रोगों को अन्य औषधियों से आहत करके जीवराज चन्द्रशेखर के असाधारण अनुग्रह बल से राजा यक्ष्मा को भी मार डालता है । भगवान शिव पार्वती के साथ जीवराज को योगशक्ति का उपदेश देते हैं और वह जीवनपर्यन्त धर्मों का ग्रहण करता है । इस प्रकार समस्त अनिष्टकारी रोगादि दुष्टों को मार कर जीव शाश्वत आनन्द को शिव भक्ति द्वारा प्राप्त करता है ।

नाटक की कथावस्तु से स्पष्ट है कि यह प्रबोध चन्द्रोदय और संकल्पसूर्योदय आदि की परम्परा पर ही लिखा गया है । अन्तर केवल यही है कि प्रबोधचन्द्रोदय आदि में मनुष्य के सद् और असद् प्रकार के गुणों को पात्र बनाकर मुक्ति को अग्रिम और अन्तिम फल समझा गया है किन्तु जीवानन्द में मनुष्य के मानसिक सद् असद् गुणों के साथ रोग समूह को भी एकत्र करके, दूसरी ओर भेषज वर्ग को पात्र के रूप में कल्पित करके केवल शरीर को आरोग्य प्रदान करने वाले व अंगांगिक धर्मों को ही फल कहा गया है ।

इसके अतिरिक्त प्रबोध चन्द्रोदय तथा संकल्पसूर्योदय में श्रेष्ठ विचार विमर्श में विलक्षण विवेक को नायक के रूप में रखा है तथा पुरुष की अपवर्ग सिद्धि के लिए 'विष्णुभक्ति' ही समर्थ होती है किन्तु इस नाटक में शरीरधारी साक्षात् जीव ही कथा का नायक है और निःश्रेयस् की प्राप्ति शिवभक्ति से सिद्ध होती है ।

आयुर्वेदशास्त्र को विभिन्न प्रकार से समझाने में भी इस नाटक का वैशिष्ट्य है । रोग एवं उनके उपचार का वर्णन इसमें प्राप्त होता है ।

विद्यापरिणयनम -- आनन्दरायमखि

इस नाटक में राजा जीव का विद्या से परिणय वर्णित है । मोह एवं कामादि के कारण दीन दशा को प्राप्त हुए राजा को महान संकट से विमुक्त करने एवं विद्या से संयुक्त करने के लिए प्रयत्न करती है । शिवभक्ति की आज्ञा से उसकी शिष्या निवृत्ति राजा के समीप जाकर अपने निवासस्थान वेदारण्य नामक शिवक्षेत्र के महत्त्व को बताती है । राजा अनुगृहीत होकर शिवधाम में स्वयं प्रवेश करने की इच्छा करता है । निवृत्ति से उसे मालूम होता है कि वहां शिवभक्ति के प्रसाद से ही प्रवेश सम्भव है । शिवभक्ति के प्रसन्न होने पर शम दम आदि से युक्त होकर उपनिषद् देवी के परिचय से जीव महान श्रेय को प्राप्त करेगा । इधर असूया, अविद्या, प्रवृत्ति आदि राजा और निवृत्ति की इस मंत्रणा से संशंकित हो जाते हैं और राजा को उस ओर से विमुख करने का यत्न करती हैं । निवृत्ति तथा विरक्ति शिवभक्ति द्वारा प्रेषित चित्रपट में अंकित विद्या की प्रतिकृति को लेकर शृंगारवन में चित्रकर्मा के साथ स्थित राजा के पास आती हैं । राजा चित्र को देखकर मुग्ध हो जाता है । दूसरी ओर अविद्या , विषयवासना और प्रवृत्ति छिपकर राजा के चित्रपट के प्रति प्रणय को देखती है । अविद्या के क्रोध को देखकर निवृत्ति तथा प्रवृत्ति चित्रपट के साथ अन्तर्धान हो जाती हैं । राजा शम दम आदि के वशीभूत न होने पावे इस हेतु अविद्या काम, लोभ मोह आदि को अनेक प्रकार से आदेश देती है । तदनन्तर इनके प्रभाव से आक्रान्त राजा जिधर भी दृष्टि डालता है, कभी काम से, कभी लोभ , कभी प्रमाद आदि से आक्रान्त होता [illegible] उसको किसी प्रकार उधर से विमुख करता है ।

पर पुन: वेदारण्य में प्रविष्ट होता है । योग से प्रभावित हो जाने पर विषयवासना अविद्या आदि राजा को आक्रान्त नहीं कर पाते और राजा का परिणय विद्या के साथ शिव भक्ति की कृपा से सम्पन्न होता है ।

अन्य प्रतीकात्मक नाटकों की भाँति इसमें भी भक्ति के द्वारा जीवोद्धार का वर्णन है । शिवभक्ति अथवा विष्णुभक्ति नामान्तर मात्र हैं -- किसी भी प्रकार की भक्ति द्वारा मोहबन्धन नष्ट होता है ।

जीवन्मुक्ति कल्याण -- ध्वरिविरचित

जीवन्मुक्ति कल्याण प्रबोध चन्द्रोदय की परम्परा पर लिखा गया एक प्रतीकात्मक नाटक है । इसमें जीवन्मुक्ति और राजा जीव का विवाह वर्णित है । जीव अपनी सहचरी बुद्धि के साथ विभिन्न सुखों का उपभोग करता हुआ अन्त में निराश होकर जीवन्मुक्ति की अभिलाषा करता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये छ: शत्रु उसकी इस इच्छापूर्ति में बाधा स्वरूप उपस्थित होते हैं किन्तु जीव उन्हें आठ आत्मगुण दया, शान्ति, अनसूया, शौच, मंगल, अकर्मण्य और अस्पृहा की सहायता से जीत लेता है । इसके पश्चात् वह (जीव) साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर तथा श्रवण आदि की सहायता से चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करता है । शिव के प्रसाद से वह ब्रह्म साक्षात्कार करके अन्त में ब्रह्ममय होकर जीवन्मुक्ति के आनन्द की उपलब्धि करता है । यही कथा का सार है ।

वेदान्तिक तत्वों का (जैसे कि ब्रह्मात्मा का स्वरूप आदि) सरल ढंग से एवं सुन्दर शैली में इस नाटक में प्रतिपादित किया गया है । जीवन्मुक्ति को देने वाले जो साधन श्रुति आदि में उपदिष्ट हुए हैं वे हैं श्रवणादि और उनके प्रतिरोधी कामादि को नाटक में पात्र का रूप देकर कवि इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि इन साधनों के प्रति द्रष्टाओं की स्वत: ही प्रवृत्ति हो ।

राजतरंगिणी -- कल्हण

कल्हण कृत राजतरंगिणी एक ऐतिहासिक महाकाव्य है । जिसमें उन्होंने कश्मीर के प्राचीनकाल से लेकर अपने समय तक के इतिहास का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है । इस के सम्बन्ध में कवि प्रारम्भ से ही संकेत कर देता है कि राजतरंगिणी

की कथा शान्तरसमय ही है । सभी प्राणियों के जीवन की नश्वरता को समझकर ही उसने शान्त को अन्य सब रसों में प्रथम स्थान दिया है[1] ।

कवि ने विभिन्न राजाओं का तथा उनके राज्य-काल का वर्णन करते हुए भी बराबर इसी बात पर जोर दिया है कि जीवन नश्वर है, संसार से विरक्त रहने में ही कल्याण है । प्रत्येक राजा की कथा के अनन्तर वह दैव की महानता भक्ति की श्रेष्ठता तथा अनुचित कार्य करने से होने वाली दुर्गति की ओर बराबर ध्यान आकर्षित कराता है । हर्ष की कुटिलता और दुराचारपूर्ण नीति तथा उच्चल और सुस्सल जैसे राजाओं के पारस्परिक संघर्ष को देखकर कल्हण के मन में संसार के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही था । सम्पत्तिशाली राजा हर्ष को उसके प्रतिपक्षी उच्चल ने धोखे से मरवाकर एक अनाथ की भांति उसके शव को जलवा दिया था । हर्ष की मृत्यु पर उसके रनिवास में हजारों रानियों में से किसी एक ने भी विलाप नहीं किया और न उसके सेवकों में से ही कोई शोकाकुल हुआ । सभी मनुष्य अपने सुख में ही लीन रहा करते हैं । कोई किसी का साथ नहीं देता । सम्पत्ति पाकर मोह के कारण मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । वह अपने वैभव को देखकर उन्मत्त हो जाता है । अभिमान के कारण वह नहीं समझता कि जिस सम्पत्ति पर उसे मान है, वह अस्थायी है । अत: मनुष्य को सम्पत्ति को चंचल समझकर उन सबसे विरक्त हो जाना चाहिए । कोई भी वस्तु न तो आदि में स्थायी रहती है और न अन्त में ही । केवल मध्य में वह कुछ समय के लिए सुखद या दु:खद प्रतीत होती है । मनुष्य स्वत: इस विचित्र संसार रूपी पर्दे के पीछे से कहां चला जाता है । यह रहस्य अभी तक किसी को भी समझ में नहीं आ सका[2] । इस विचित्र संसार

१- क्षणभंगिनि जन्तूनां स्फुरिते परिचिन्तिते । मूर्धाभिषेक: शान्तस्य रसस्यात्र - विचार्यताम् ।।२३।।तदमन्दरसस्यन्दसुन्दरेयं निपीयताम् ।श्रोत्रशुक्तिपुटै: स्पष्टमन्त:- राजतरंगिणी।।२४।। -- प्रथम तरंग , पृ० ३ ।

२- भाव्यान्भुक्त्वाहतक्षिमस्तरता: श्रियस्ता साव्यावसानविरसं प्रणमोन्मत्तत्वम्।

(i) तत्रापि नैव क्व मोहहताश्यानांशान्तिं प्रयाति विभवाद्भवाभिमान:।।१७२६।।
पृ०३११

(ii)नादौ किंचिद्भवति नियतं यच्च पश्चान्न किंचित् सन्ततसत्वं:।
मध्ये कस्मात्स्वपति घटयन्सौ सुखदौ दु:खादुरीयम्।
निःशीर्षाइणक्षिंटस्य मुहु: कोपि जन्तुर्निहित्या
नो जानीमो भवजवनिकान्तर्हित: क्व प्रयाति ।।१७३
--अष्टमतरंग, पृ०३१२

में पराक्रम, त्याग, यश और और प्रज्ञा आदि गुण तक कभी स्थिर नहीं रहते। स्वयं भगवान सूर्य भी प्रतिदिन उग्रता और मृदुता[1] का अनुभव किया करते हैं, फिर साधारण मनुष्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाय।

दैव को कल्हण ने बहुत ही अधिक महत्व दिया है। भाग्य की दुर्लंघनीयता पर उनका अटूट विश्वास था। विधाता की इच्छा कठपुतलियों की भाँति जब जिसको जिस रूप में चाहती है नचाया करती है। उसकी शक्ति हमारी चिन्तन शक्ति से परे है। फिर भी प्रत्येक प्राणी उसके (दैव के) विलक्षण प्रभाव को जानकर भी उसका प्रतिरोध करने का असफल प्रयास करता रहता है। पर मूर्ख व्यक्ति दैव को रोकने का जो उपाय करता है वह उपाय ही उसका घातक बन जाता है। जैसे जले हुए कोयले में चमकती हुई थोड़ी सी चिन्गारी को भी कोई दैव की इच्छा के प्रतिकूल यदि बुझाने का प्रयास करे तो उसे पिघला हुआ घी का घड़ा भी जल कलश के रूप में दृष्टिगत होगा।

मा भूवन्व्याकुलाः कुर्युरुपायं स्वगनाय यम्।

स एवापावृतं द्वारं ज्ञेयं दैवेन कल्पितम्॥१७७॥

दग्धांगार कदम्बके विलुठतः स्तोकोऽग्निकस्तेजसोऽयंधा वह्निकरणस्य शक्तिमतुलामाभातु का-भी सदात्।

तन्निर्वापणमिच्छतः प्रकुरुते पुंसः समीपस्थितो नाशायाद्भुतभूरिसर्पिषि घटे पानीयकुम्भभ्रमम्॥

-- ७८॥ द्वितीयस्तरंग, पृ०३१।

काल का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है और इस सृष्टि में कोई भी प्राणी या वस्तु उसके कारण स्थायी नहीं रह सकती। यहाँ तक कि बहता हुआ जल भी कभी कभी वज्र हो जाता है, मृदुल वस्तु पत्थर और पत्थर पानी बन जाता है।--

अम्भोऽपि प्रवहत्स्वभावमकरोत्स्थानमस्मायत्कायावाभ :प्रयाति द्रवत्वमुदितोद्रेकं च वावयंवत्॥

कालस्यास्खलितप्रभावरमसंमति प्रभुत्वे दधत कस्मात्स्त्रविधातुशक्तिघटिते मार्गे निसर्गः स्थिरः ३४०६॥

--अष्टमस्तरंग, पृ०५४७

१- जन्तूनां विक्रमत्यागयशः प्रज्ञादयो गुणाः। सर्वविचित्रस्वभावे स्मिन्न भवेयुर्भंगुराः॥८२९ भास्वानप्युग्रमृदुतां भिन्नावस्थां दिने दिने। तां तामायाति जन्तूनां कः प्रभावेषु निश्चयः॥८३०॥ -- अष्टमस्तरंगः, पृ०३७०।

जाती हैं जो शान्तरस से सम्बद्ध हैं । राजाओं की क्रूरता, अत्याचार और दुर्गति आदि को देखकर उनके कार्यों के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा सी हो जाती है । धन की क्षणिकता और शरीर की नश्वरता तथा भाग्य की प्रबलता आदि से सम्बद्ध घटनाओं पर विशेष बल दिया गया है । जो राजा ~~आदि~~ आदि से अन्त तक दुराचारी चित्रित किया गया है । ~~जो राजा आदि से अन्त तक दुराचारी~~ उसका अन्त भी दुर्गतिपूर्ण और बड़े भयानक ढंग से दिखाया गया है । अतः कल्हण कृत राजतरंगिणी में ऐतिहासिक काव्य होने पर भी शान्तरस का सुन्दर परिपाक हुआ है, उनका यह प्रयत्न श्लाघनीय भी है ।

<u>हंस संदेश-- वेदान्ताचार्य --</u>

लंका में अशोकवनिका में स्थित सीता के समीप एक राजहंस को राम दूत बनाकर भेजते हैं -- यही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है । यह ग्रन्थ दो आश्वासों में विभक्त है । प्रथम आश्वास में साठ और दूसरे में पचास पद्य हैं । स्वयं भगवान रामचन्द्र सीता के विरह का अनुभव करते हुए राजहंस को दूत बनाकर भेजते हैं । वे हंस को लंका का मार्ग, मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न तीर्थ आदि के सम्बन्ध में भी बताते हैं । मार्ग के रमणीय स्थलों को बताते हुए भी वहां अधिक देर रुकने की आज्ञा नहीं देते । श्रीराम की सीता के प्रति सन्देश भेजने की तीव्र भावना सरल भाषा में व्यक्त की गई है ।

इस ग्रन्थ का मूल सन्देश इस प्रकार है -- अनादि कर्मवासना के कारण परमात्मा से वियुक्त हुआ जीव संसार में भटकता फिरता है ।यहां उसे तरह तरह के कष्ट और दुःखों का सामना करना पड़ता है । कालान्तर में जीव को उसके सुकृतों के कारण जब मुमुक्षा होती है तभी भगवान उसी मुमुक्षा के व्याज से उसके बोधनार्थ किसी परमहंस रूपी, सात्विक आचार्य को भेजता है । उस आचार्य को अपने निकट पाकर और उससे तत्वज्ञान प्राप्त करके जीव भगवान को प्राप्त करके संसार से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार वेदान्त के रहस्यगत अर्थ को भी इस काव्य द्वारा प्रकट किया गया है ।

दूत काव्य

इन्दुदूत--विनय विजयगणि

कवि ने इन्दु को दूत बनाकर सूरत में अपने गुरु के पास भेजा है । दूत द्वारा वह सूचित कराता है कि गुरु के उपदेशों का वह कितनी तन्मयता से पालन कर रहा है । जोधपुर से सूरत के मार्ग में आने वाले जैन मन्दिरों और तीर्थ स्थानों का सुन्दर वर्णन किया है ।

भक्ति दूती कालीप्रसाद --

तेईस श्लोकों का यह एक लघु प्रतीकात्मक काव्य है जिसमें कवि अपनी प्रेयसी मुक्ति को भक्ति द्वारा सन्देश भेजता है ।

मनोदूत -- विष्णुदास

एक सौ एक बसन्ततिलका छन्दों में यह लिखा गया है । कवि मन को दूत बनाकर अपनी भक्ति भावनाओं को विष्णु के पास तक पहुंचाता है ।

मनोदूत -- तैलंग व्रजनाथ

यहां मन को दूत बनाकर, द्रौपदी द्वारा जब कि वह दुर्योधन की राजसभा में घसीटी जा रही थी , कृष्ण को सन्देश भेजने का वर्णन है ।

मनोदूत

इसकी भी कथावस्तु मनोदूत के समान ही है ।

मेघदूतसमस्यालेख-- मेघविजय

इसमें कवि ने यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार उसने बादल को दूत बना कर अपने गुरु श्रीविजयप्रभसूरी के पास भेजा । जैसा कि इसके नाम से मालूम होता

है। इसमें मेघदूत के श्लोकों की चतुर्थ पंक्ति को समस्यापूर्ति के रूप में निबद्ध किया है।

शीलदूत -- चारित्रसुन्दरगणि

इसको दूतकाव्य नहीं मानना चाहिए अन्य दूत काव्यों की भांति इसमें किसी दूत का उल्लेख नहीं है। इसके पहले एक सौ पचीस श्लोकों की अन्तिम पंक्ति मेघदूत के १२५ श्लोकों की चतुर्थ पंक्ति के समान ही है। शायद इसी प्रयोग के कारण इसे दूतकाव्य कहा गया है। इसमें एक बड़े जैन राजा स्थूलभद्र का वर्णन है जिसने अपने पिता की मृत्यु के बाद संसार त्याग दिया और जैन साधु भद्रबाहु का शिष्य हो गया। जब वह अपने गुरु की आज्ञा द्वारा शहर में आया तो वहां उसको पत्नी मिली। पत्नी ने विभिन्न तर्कों द्वारा उसे संसार एवं राज्य परित्याग न करने के लिए समझाया, किन्तु राजा ने उससे प्रभावित न होकर स्वयं अपने तर्कों द्वारा अपनी पत्नी काशा को भिक्षुणी बना दिया है और इस प्रकार समस्त भौतिक दुःखों एवं कष्टों से मुक्ति पा ली।

(घ) निष्कर्ष -- सामान्य प्रवृत्तियां और मूल्यांकन

संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त विवरण के आधार पर निष्कर्षरूप से यह कहा जा सकता है कि जिस शान्तरस की सत्ता को आचार्यगण सन्दिग्ध मानते हैं उसके तत्त्व हमारे प्राचीन साहित्य के मूल से ही विद्यमान चले आ रहे हैं। धार्मिक साहित्य के मूल से ही विद्यमान चले आ रहे हैं। धार्मिक साहित्य के सृजन काल में यह प्रवृत्ति

१- दि इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली, १९२७, जिल्द ३ में प्रकाशित लेख 'ओरीजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आफ दूतकाव्य लिटरेचर इन संस्कृत, पृ०२७४-२८८ के आधार पर उपर्युक्त काव्यों के सम्बन्ध में लिखा गया है।

विभिन्न धार्मिक तत्वों के निरूपण, दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषणों तथा नैतिक एवं सदाचार से सम्बद्ध ~~सिद्धान्तों~~ कथन के रूप में ~~दिखलाई~~ दिखलाई पड़ता है । इस काल के साहित्य में धर्म को व्यापक बनाने की तथा उसके द्वारा प्राणियों के उद्धार की भावना प्रमुख है । धर्म का प्रतिपादन प्रमुख लक्ष्य होने के कारण तत्कालीन साहित्य में धर्मरहित भावना का कहीं भी समावेश नहीं हुआ है । वैदिक युग में यह प्रवृत्ति ऋषि मुनियों द्वारा की गई स्तुतियों के रूप में देखने को मिलती है तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य में उपदेश तथा विभिन्न कथाओं द्वारा इस धार्मिकता की पुष्टि की गई है । केवल धार्मिकता को प्रश्रय देने से इन साहित्यकारों के साहित्य में काव्यगत विशेषताओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया--यद्यपि कुछ सामान्य काव्यगत विशेषताएं उनमें स्वत: आ गई है ।

केवल साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये काव्यों एवं नाटकों में क धर्मप्रियता दूसरे ही रूप में व्यक्त हुई है । इन कवियों की कृतियां अधिकतर शृंगार और वीररस प्रधान हैं किन्तु वे सब धर्म की आधारभूमि पर ही स्थित है । उनमें त्याग, तपस्या, वैराग्य, जीवन की असारता तथा नि:सार जीवन को सफल करने आदि के सम्बन्ध में अनेकों उक्तियां मिलती हैं । आश्रम,तीर्थ,व्रत,माहात्म्य आदि के विषय में भी बहुत कुछ कहा गया है । आश्रम के पवित्र वातावरण से तो संस्कृत का प्रत्येक कवि एवं नाटककार प्रभावित है । अधिकांश घटनाएं हमें आश्रम के पावन स्थल में ही घटित होती हुई मिलती है । इसप्रकार की रचनाओं में केवल शान्तरस का प्रतिपादन नहीं हुआ है तथापि व बीच बीच में श्लोकों अथवा लघु वर्णनों द्वारा शान्त का आस्वादन कराती हैं । केवल धार्मिकता के चित्रण के स्थान पर इस साहित्य क में शृंगार अथवा वीर या अन्य किसी रस द्वारा नैतिक एवं धार्मिक तत्वों का साहित्य में यत्र तत्र बिखरे हुए रूप से चित्रण मिलता है । स्तोत्र साहित्य एवं देवकाव्यों में अवश्य ही भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित होती है जिसमें विभिन्न देवों की स्तुतियों के साथ सुन्दर भावों की अभिव्यंजना की गई है ।

हमारे लेखकों की धर्मप्रियता का चरम उत्कर्ष तो तब देखने को मिलता है जब कवि तथा नाटककार केवल शान्तरस से सम्बन्धित कृतियों की ही रचना करने लगे । काव्यों में यह प्रवृत्ति अधिकतर सूक्त काव्य में मिलती है जिसमें कवि किसी पात्र

को छन्न बनाकर अपनी धार्मिक भावनाओं को प्रकट करता है । इस प्रकार के नाटकों में प्रतीकात्मक नाटक उल्लेखनीय है जिसमें लेखक विभिन्न चित्तवृत्तियों को मानवीकरण द्वारा दार्शनिकता तथा धार्मिकता का प्रतिपादन करता है । इन नाटकों के नाम से ही उनकी विषयवस्तु का ज्ञान हो जाता है । कवि की सैद्धान्तिकता तथा उपदेश - प्रियता के कारण यद्यपि कुछ नाटकों में साहित्यिक गुणों एवं नाटकीय तत्वों की अपेक्षा से प्रतीकात्मक भावनाएं ही अधिक उभर आयी हैं किन्तु प्रबोध चन्द्रोदय आदि में समस्त विशेषताओं के साथ ही शान्तरस का चित्रण मिलता है । इस नए प्रयोग द्वारा परम्परा को जन्म दिया ।

-0-

अध्याय -- ५

-0-

हिन्दी साहित्य में शान्तरस-- (सामान्य)

अध्याय --५

हिन्दी साहित्य में शान्तरस -- (सामान्य)

पिछले अध्यायों में शान्तरस का सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है । स्रोत सामग्री के रूप में प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध शान्तरस की सामग्री का सर्वेक्षण भी दे दिया गया है, ताकि एक व्यापक सन्दर्भ में प्रस्तुत अध्ययन को स्थापित किया जा सके । इसीलिए यद्यपि अध्ययन का केन्द्रीभूत विषय हिन्दी भक्ति काव्य में शान्तरस का समीक्षण है, संक्षेप में हिन्दी साहित्य की समग्रता के बीच शान्त रस का क्या स्थान है, इसका परिचय कराना भी ज़रूरी है । इसके दो उद्देश्य हैं-- एक तो शान्त रस के माध्यम से भक्ति साहित्य का अन्य युगीन साहित्यों से वैशिष्ट्य ठीक ठीक परिमापित किया जा सके, दूसरा यह कि हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा की शान्तरस के प्रति क्या दृष्टि है, इसका परिज्ञान कराया जा सके । विस्तार में उदाहरण देना यहां अपेक्षित नहीं है, केवल सामान्य विवेचन और प्रवृत्तियों का परीक्षण शान्तरस के विशेष सन्दर्भ में दिया जा रहा है

(क) शान्तरस की दृष्टि से आदिकाल का अवदान

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में तीन प्रेरणाएं काम कर रही थीं । पहली प्रेरणा धार्मिक साधक कवियों की देन है, बौद्ध सहजिया सिद्ध, नाथपन्थी, जैन, साधु और वैष्णव, शैव एवं शाक्त साधक भक्त, इन सभी ने ईश्वरीय अनुभव को सहज धरातल पर उतारने के लिए जनभाषाओं का वरण किया । कुछ ने परम्परा को दूर और से स्वीकार किया, जैसे जैन एवं वैष्णव भक्तों ने, दूसरों ने

आगम को स्वीकार किया, गुरुदीक्षा को स्वीकार किया, पर शास्त्र का खण्डन किया ,जैसे नाथपन्थियों और शैवों ने और शेष ने परम्परागत मूल्यों को पूर्णरूप से खण्डन किया । इस दृष्टि-भेद के कारण ही जीवन के प्रति इन सभी दृष्टि एक ही नहीं है,जहां जैन, वैष्णव और नाथ पन्थी ऐन्द्रिय भोगों का स्वदन तिरस्कार करते हैं और संसार की असारता पर निरन्तर बल देते हैं, वहां शाक्त, शैव और बौद्ध सहजयानी शरीर को बाधक न मान कर साधक मानते हैं और विषय-भोग को परमार्थ से पृथक करके नहीं देखते । इसीलिए विषय से विराग तो जैन, वैष्णव और नाथपन्थी साहित्य में प्रबल है और आत्म ताटस्थ्य शैव शाक्त और बौद्ध साहित्य में । वैचारिक धरातल पर इस समग्र वाङ्मय में गृहस्थ-जीवन और उसकी आकांक्षाओं के प्रति उदासीनता है, राग-रंग का तिरस्कार है और बाह्य सौन्दर्य से विकर्षण भी, परन्तु व्यावहारिक धरातल पर अभिव्यक्ति में काफ़ी अन्तर है । जैन साहित्य की अभिव्यक्ति में कैवल्यप्राप्ति के लिए इन्द्रियनिग्रह का विशेष अभिनिवेश है, यहां शान्तरस की भूमिका जीवन के उदात्ततम और वीरतम आदर्श के रूप में है । शैव साहित्य में औघड़ भाव की अभिव्यक्ति है, सब कुछ अंगीकार करते हुए सबसे खिलाव,सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा परन्तु समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान देने वाली उदारता इस साहित्य के विशिष्ट अवदान हैं । वैष्णव साहित्य (दुर्भाग्य से हिन्दी में यह उपलब्ध न होकर तमिल, अधिक उपलब्ध है) नीति की मर्यादा का निर्वाह करते हुए भी विश्वमोहन सौन्दर्य की अनुभूति में मर्यादाओं का विलयन कराने के लिए यत्नशील है । उसमें पारिवारिक एवं सांसारिक सम्बन्धों का त्याग नहीं समर्पण या रूपान्तर ध्येय आदर्श है । उसमें विराग विशिष्ट और व्यापक राग में रूपान्तरित हो जाता है । जहां शान्तरस की संस्कृत क्लासिकी मान्यता तृष्णा-क्षय पर बल देती थी, वहां अब ऐसी तृष्णा का उद्रेक महत्वपूर्ण हो जाता है, जिसके आगे समस्त वैषयिक तृष्णायें हेय हो जायं, जिसमें अपने आप वे डूब जायं । परन्तु मानव मात्र ही नहीं प्राणिमात्र के लिए सहज स्नेह भाव वैष्णव साहित्य में शान्तरस की ही भूमिका का निर्वाह कराता है, स्थायी भाव के धरातल पर प्रत्यक्षरूप में न सही, संचारीभावों के अभिव्यंजन के धरातल पर तो आरोपरूप में ही वह शान्तरस का परिपाक कराता है । नाथपन्थी साहित्य में रसोद्रेक तो नहीं परन्तु बौद्धिक जागरूकता खुलकर प्रखर रूप में है । व्यष्टि में समष्टि को समाने के लिए विवश करने का आग्रह केवल योग-साधना के ही स्तर पर नहीं,चिन्तन एवं ध्यान के स्तर पर भी है । समस्त ब्रह्माण्ड से तादात्म्य अपरोक्ष

अनुभव के रूप में करने का प्रयत्न शान्तरसानुभूति को ऊंचे धरातल पर स्थापित करने का प्रयत्न है और यही इस साहित्य का सबसे मूल्यवान अवदान है । बौद्ध और शाक्त साहित्य में एक दूसरी वैचारिक क्रान्ति दिखायी पड़ती है । वहां मर्यादित मूल्य ही हेय है, साधना का दंभ भी हेय है, सब के साथ सौजन्य भाव भी हेय है, इन्द्रियनिग्रह भी हेय है । सामाजिक दृष्टि से वह उपेक्षित जातियों को ऊंचा उठाने के लिए ऐसे नये मानवीय मूल्यों की सृष्टि करता है, जिनको पाना ऊंची जातियों के लिए चाहे कुछ कठिन हो (उनके दंभ के कारण) परन्तु कुलहीन एवं उपेक्षित जातियों के लिए बहुत ही सहज है । सबसे गहरे अनुभव के लिए जिन आवरणों और कंचुकों का निर्ममता के साथ परिहार ज़रूरी है, वे आवरण और कंचुक आदि मध्ययुगीन भारतीय समाज के लिए बन्धन बन चुके थे, भारतीय मानवीय संवेदना उनके कारण कुंठित हो रही थी, उन्हें काटे बिना सच्ची मुक्ति की बात सोची नहीं जा सकती थी । इस प्रकार इस साहित्य ने हिन्दी की साहित्यधारा को व्यापक बनाने के लिए ही नहीं, उसे पैनी बनाने के लिए, सत्य के लिए बलपूर्वक आग्रही बनाने के लिए अपना योगदान दिया है । दूसरे शब्दों में शान्तरस के आध्यात्मिक अनुभव को सामाजिक और निर्नैतिक रूप में मानवीय आयाम देने का कार्य इसी साहित्य ने किया है । कुल लेकर धार्मिक प्रेरणा से लिखे हुए साहित्य ने हिन्दी साहित्य में शान्तरस के प्रति एक अधिक उदार और गहरी दृष्टि प्रदान की है ।

आदिकाल की दूसरी प्रेरणा है वीरगाथाओं की, जिसमें शृंगार प्राय: अनिवार्यत: अन्तर्भुक्त है, क्योंकि वीरता की प्रेरणा के रूप में कहीं न कहीं कोई प्रणयिनी या उसका सम्मान ज़रूर है । इस साहित्य ने शान्तरस की मनोभावना को जाग्रत करने में निषेधात्मक रूप से कार्य किया है । दसवीं से लेकर बारहवीं और तेरहवीं सदी के राजकुली शौर्य की गाथायें विफलता की करुण कथायें हैं, अपने छोटे से संसार में घिरे आदर्शों का पराभव विराटतर मानवीय भूमिका ही नहीं, व्यर्थतर प्रभुसत्ता की खोज की भूमिका भी बनता है । यह आकस्मिक नहीं है कि वीरगाथाकाल और भक्तिकाल पौर्वापर्यक्रम में जुड़े हुए हैं । सामन्ती काव्य जिन गरिमाओं पर जान देता है, वे गरिमायें विदेशी आक्रमण से पराभूत हो जाने पर एकदम तुच्छ लगने लगती है और विदेशी प्रभुसत्ता को नकारने के लिए खण्डित सामंती प्रयत्नों की व्यर्थता का बोध ही आध्यात्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरातलों पर संघर्ष की चुनौती को जन्म देता है । छोटा ऐश्वर्य ही नहीं, बड़े से बड़ा ऐश्वर्य

भी उपेक्षा का विषय बन जाता है । ऐश्वर्य का यह तिरस्कार भक्ति साहित्य की नैतिक पीठिका है और यह तिरस्कार आया है सामन्तयुगीन प्रेरणाओं के अर्थ बलिदान से । स्वयं वीरगाथा काव्य में इसकी भी निर्वेद की अभिव्यक्ति शक्तिशाली रूप में कम नहीं हुई है । आदिकाल की तीसरी प्रेरणा के स्रोत हैं लोकप्रिय प्रेमाख्यानक, प्रेमगीत या लोकगाथा । इनकी सामग्री समुचित मात्रा में उपलब्ध नहीं है, पर इनकी छाप परवर्ती साहित्य रूपों पर बड़ी गहरी व तौर से पड़ी है । क्योंकि यह परम्परा की शास्त्रीय संस्कृत परम्परा से भिन्न है । इसमें सामान्य जीवन के सुख-दु:ख से , सामान्य प्रकृति से, तथा सामान्य मानव की कल्पना से गहरा लगाव है, देवी-देवता, पशु-पक्षी, राजा-प्रजा सभी सामान्य धरातल पर मिलते हैं और एक-दूसरे के सुख-दु:ख के साझीदार बनते हैं । इस साहित्य ने सहजता के बोध को प्रखर बनाया है और साहित्य के आस्वाद को विशिष्ट सहृदय की परिधि के बाहर प्रसार दिया है । भक्तिकाव्य में शान्तरस के अनुभव को सामान्यीकृत करने में इस साहित्यिक प्रेरणा का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

सारांश यह है कि आदिकाल की प्रेरणा के इन विविध स्रोतों से ही परवर्ती मध्ययुगीन हिन्दी भक्ति साहित्य की शान्तरसीय दृष्टि निर्मित हुई है जैसा कि आगे विस्तार में विवेचित होगा ।

भक्ति साहित्य में शान्तरस

सन्तकाव्य की भूमिका इसी सामान्य और विराट असामान्य के एकीकरण से प्रारम्भ होती है । सामान्य अनुभव विराट आध्यात्मिक अनुभव के आमने-सामने खड़ा कर दिया जाता है और शान्तरस के आस्वाद के लिए जिस ऊंचे विवेक की अपरिहार्य आवश्यकता है, वह विवेक अनायास इस सामंजस्य से उपस्थित हो जाता है ।

सामन्जस्य की प्रवृत्ति जनसाधारण को इतनी रुचिर लगी कि मध्यकालीन कवियों ने लौकिक एवं पारलौकिक भावनाओं के सामन्जस्य को अपने काव्य का विषय बनाते हुए सर्वत्र अलौकिकता को महत्त्व दिया । लौकिक एवं अलौकिक प्रसंग समानान्तर रूप से इस काल में पाए जाते हैं । एक और जहां उनका काव्य जीवन की यथार्थता से सम्बद्ध था, वहां दूसरी ओर उसमें आध्यात्मिक भावना के भी दर्शन होते हैं । यद्यपि प्राधान्य आध्यात्म चिन्तन की ही प्रवृत्ति

का रहा । लौकिक चरित्रों एवं दृश्यों का अंकन सर्वत्र आध्यात्मिकता की पुष्टि में सहायक के रूप में हुआ है । सामान्य जनता को उस दुरूह [illegible] को समझाने के लिए मानव जीवन के अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ आश्रय कवियों को न मिला । अतः तत्कालीन कवियों ने गूढ़ रहस्यों की पुष्टि के साथ ही अपने काव्य को लोक सामान्य के चित्रण से वंचित न रखा । यही इन कवियों का वैशिष्ट्य है ।

भक्तिकाल के अन्तर्गत निर्गुण एवं सगुण दो धाराएं प्रधानतः लक्षित होती हैं निर्गुण धारा के अन्तर्गत संत मत तथा सूफी मत आते हैं । संत मत सर्वत्र ईश्वरवाद की स्थापना करते हुए निर्गुण निराकार सत्ता में अपने चित्त को केन्द्रीभूत करने का आग्रह करता है । किन्तु साथ ही हिन्दू मुस्लिम एकता के चित्रण, ऊंचनीच के भेदभाव को दूर कर जीवमात्र के प्रति सहानुभूति, बाह्याडम्बर विरोध तथा कर्म की अनिवार्यता द्वारा इन कवियों का लोकपक्ष आसानी से देखा जा सकता है । संत कवियों ने संसार की असारता एवं क्षणभंगुरता का स्पष्टतः उल्लेख करके भी संसार में रहकर अपनी चित्तवृत्तियों के संयमन द्वारा ज्ञान वैराग्य पूर्ण भक्ति को सुलभ बताया । संसार के जीव के अनासक्त भाव से रहने को महत्व देते हुए समन्वयात्मक प्रवृत्ति को अपनाया । मनुष्य के दैनिक जीवन के कार्यों एवं उसकी आध्यात्मिक भावनाओं में विरोध के स्थान पर इन कवियों ने सामरस्य देखा । अतः वैराग्य भावना को प्रमुखता देते हुए निवृत्ति मार्ग के ग्रहणार्थ व्यक्ति को प्रधानता दी गई । वैराग्य साधन के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं । संसार में रह कर उचितकर्मानुष्ठान द्वारा मनुष्य अपने में ही परमात्मा के दर्शन कर सकता है । परम सत्ता की अनुभूति के लिए जीवन के कर्तव्यों का परित्याग नहीं परिग्रहण आवश्यक है ।

संत कवियों का लक्ष्य ब्रह्मवाद एवं [illegible] के आश्रय से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना-स्थापन द्वारा मनुष्यमात्र में ऐक्य स्थापित करने का था । जीवन के इन चिरन्तन सत्यों के उद्घाटनार्थ संतों ने एक अतिव्यापक दृष्टिकोण अपनाया । उनकी धार्मिक भावना के अन्तर्गत मानवता मात्र को आश्रय दिया गया, विशिष्ट जाति अथवा वर्ग को नहीं । धर्म के महनीय तत्वों एवं जटिलतम सिद्धान्तों की [illegible] के आधार पर व्याख्या करते हुए उन्हें संसार में रहते हुए भी सुगमतापूर्वक ग्रहणीय कहा । संसार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ में परमात्मा व्याप्त है तथापि

संसार की किसी भी वस्तु द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । उसके संसार में रहते हुए संसार से विरक्त रहकर अपने अन्तस् में खोजने का प्रयास करना चाहिए ।

इस प्रकार इन संतों ने एक ओर अपनी धार्मिक भावना के अन्तर्गत वैराग्य आदि का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर संसार में रहते हुए कर्तव्य करने में जीवन की सार्थकता बताई । इन्होंने अपने धर्म एवं दर्शन को जीवन से पृथक कर नहीं देखा । इसी कारण उन संतों ने विभिन्न बाह्याडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का तीव्र विरोध कर धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठानार्थ तीर्थाटन आदि की अनावश्यकता प्रतिपादित की और निःस्वार्थ प्रेम की अनिवार्यता घोषित की ।

सामान्य जनता में ब्रह्म के स्वरूप को समझाने के लिए कबीर आदि संतों ने ब्रह्म के साथ विभिन्न सम्बन्धों की कल्पना की । वे ब्रह्म को पिता, माता, मित्र, स्वामी तथा पति के रूप में देखते हैं । किन्तु इनमें से परमात्मा को पतिरूप में देखते हुए मधुर भाव की भक्ति को प्रधानता दी गई है । क्योंकि इस दाम्पत्य प्रेम की भावना द्वारा आत्मा एवं परमात्मा के ऐक्य को सुगमतापूर्वक समझा सकता है साथ ही भक्ति के लिए आवश्यक पूर्णात्म समर्पण की भावना जितनी दाम्पत्य भाव में हो सकती है, उतनी अन्य किसी भाव में नहीं । समस्त सूफी काव्य में यह भावना अपनाई गई है । कृष्ण काव्य में मधुरोपासना के साथ ही वात्सल्य भाव को भी प्रमुखता दी गई है । रामकाव्य में शुद्ध भक्ति के प्रतिपादन की प्रवृत्ति प्रधान रही । यत्र तत्र किंचितमात्र माधुर्य भाव का भी चित्रण किया गया है ।

निर्गुण काव्य में द्वितीय शाखा के अन्तर्गत सूफी प्रेमाख्यानों में भी लौकिक कथाओं के माध्यम से ब्रह्म आध्यात्मिक पक्ष स्पष्ट किया गया है । सूफियों ने लौकिकता को आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति में प्रमुख सहायक के रूप में स्वीकार किया । वे परमात्मा के आनन्दमय रूप के उपासक हैं । ईश्वर एवं उसकी सृष्टि में वे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव देखते हैं । परम सौन्दर्य निधान की कृति असुन्दर कैसे हो सकती है-- इसी भावनावश सूफी सर्वत्र लौकिक तत्वों की उपेक्षा करते हुए नहीं देखे जाते । प्रवृत्ति संतों की भांति न तो खण्डन मण्डन की थी और न ही इन्होंने वैराग्य मूलक भक्ति का प्रतिपादन किया । संतों की उपदेशात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध सूफी कवि अपनी कथा के सरस प्रवाह के अन्त में उसकी आध्यात्मिकता की ओर संकेत कर देता है । कुत्सित प्रवृत्तियों के खण्डनार्थ एवं ईश्वरप्राप्ति के लिए इन कवियों ने प्रेम तथा विरह का मार्ग प्रशस्त किया । साधक अपने वैराग्य

को प्रेम भावना के आधार पर अटल बना सकता है । इस प्रेम भावना के चित्रण के लिए इन कवियों ने साधक को नायक तथा परमात्मा को नायिका के रूप में देखा । लौकिक पात्र एवं लौकिक चित्रण के माध्यम से उन्होंने अपने काव्य में अलौकिकता का समावेश किया । उनका प्रेम एवं विरह असामान्य है । साधक के साथ ही समस्त सृष्टि भी परमसत्ता से मिलने के लिए व्यग्र दिखाई गई है । सूफी साधकों की यह भावना शुद्ध प्रेम की है जिसमें विलासिता आदि के लिए कोई स्थान नहीं है । कबीर आदि निर्गुणी सन्तों में प्रेम प्रदर्शन के अन्तर्गत रहस्य भावना का समावेश किया है किन्तु सूफियों ने सर्वत्र सामान्य प्रेम का चित्रण करते हुए भी असामान्य की ओर संकेत किया । सूफियों की प्रेम भावना का उदय चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, गुण श्रवण अथवा साक्षात् दर्शन के अनन्तर होता है । एकनिष्ठ प्रेम को अत्यधिक महत्त्व देते हुए इन कवियों ज्ञान की अनिवार्यता को उसके लिए आवश्यक नहीं बताया । वस्तुत: प्रेम का आधार रूप है । सूफियों के प्रेम का आलम्बन अप्रतिम सौन्दर्यवान सत्ता है जिसके स्वरूप पर जीवात्मा सदैव विमुग्ध रहा करती है । इस सौन्दर्यवान् प्रियतम की प्राप्ति के अतिरिक्त सूफियों का और कोई लक्ष्य नहीं रहता । वे अपने प्रेम मार्ग में पूर्ण आत्म समर्पण कर देते हैं । प्रेम की भांति विरह की भावना का भी व्यापक चित्रण सूफी काव्य में मिलता है । क्योंकि प्रेम में प्रगाढ़ता एवं उसकी परख विरह द्वारा ही होती है ।

इस प्रकार सूफी काव्य में लौकिक एवं अलौकिक पक्ष दोनों ही साथ साथ चलते हैं । परमात्मा अव्यक्त एवं असीम है तथा सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों में अपने को अभिव्यक्त करता है । जीव ससीम होते हुए भी भौतिक उपकरणों के माध्यम से उस अलौकिक सत्ता को प्राप्त करना चाहता है । जब सृष्टि के लौकिक पदार्थ इतने आकर्षक हैं तो उनका कर्ता अलौकिक ब्रह्म कितना सुन्दर होगा । इसी भावना के आधार पर सूफियों का प्रेम अग्रसर होता है । अपने अतिलौकिक प्रेम की प्रतिष्ठा के लिए सूफियों ने सर्वत्र मानवीय रूपों का आध्यात्मीकरण किया है । उन्होंने अपने आराध्य को नायक और आराधक को नायिका के रूप में चित्रित करते हुए भी उन्हें सामान्य नायक-नायिका की भूमिका से पृथक कर दिया । उनका प्रेम ऐकान्तिक आत्मसमर्पण एवं परमात्मा से मिलने के लिए अत्यधिक विह्वल है । साधक अनेक दुष्कायों एवं भयंकर कठिनाइयों का सामना करते हुए संयोग के लिए आतुर रहता है । प्रेम मार्ग की कठिनाइयां साधना मार्ग की दुरूहता है । इस कठिन तप साधना के उपरान्त ही साधक को ईश्वर का साक्षात्कार होता है ।

सूफियों ने लौकिक कथाओं को सर्वत्र अलौकिक महत्व देते हुए उनको हमारे लोक जीवन से सम्बद्ध तो किया किन्तु एक मात्र प्रेम-भाव को महत्व देकर जीवन का एकांगी पक्ष ग्रहण किया । सूफी कवि संसार के प्रत्येक पदार्थ में अपने प्रियतम की झांकी अवश्य देखते हैं किन्तु उनकी अध्यात्म भावना सम्पूर्ण काव्य पर घटित नहीं होती । सूफी कथाओं का सार साधारणतः इस प्रकार है कि--

किसी राजकुमारी के सौन्दर्य को देखकर या सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए राजकुमार द्वारा अद्भुत साहस कृत्य कराए जाते हैं । उदाहरण स्वरूप पद्मावत में रत्नसेन पद्मावती की प्राप्ति के लिए तथा चित्रावली में सुजान चित्रावली का चित्र देखकर तथा इसी प्रकार अन्य काव्यों में भी राजकुमार नायक विरह का अनुभव करते हुए दुस्ह मार्ग में अग्रसर होते हैं । कविगण कथा के बीच-बीच में उसकी आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में कहते चलते हैं किन्तु कहीं-कहीं उनका श्रृंगार वर्णन पूर्णरूप से लौकिक रूप में प्रकट हुआ है ।

सूफियों की इस एकांगी भावना एवं कबीर आदि संतों के कर्मकाण्ड एवं बाह्याडम्बरों के प्रति किए गए खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति के प्रतिकूल रामकाव्य में विमल भक्ति धर्म का सांगोपांग विवेचन मिलता है । साथ ही रामचरित के आधार पर मानव जीवन में चिरयुगीन आदर्शों की स्थापना की । राम का आदर्शवादी और लोकरक्षक चित्र हमें लोक धर्म एवं मर्यादा के प्रति सतत् संकेत करते हुए मानव जीवन तथा समाज के उत्थान के लिए एक नवीन मार्ग प्रशस्त करता है । व्यक्ति एवं समाज दोनों को महत्व देकर उनके लिए आवश्यक विविध उपदेशों की सृष्टि के साथ ही भक्ति के आलम्बन राम द्वारा पारिवारिक जीवन के आदर्श माता,पिता,भाई, पत्नी आदि के व्यावहारिक सम्बन्धों की आदर्शात्मक व्याख्याएं प्रस्तुत की गयीं । मानस के उत्तरकाण्ड में रामराज्य की स्थापना द्वारा कवि उचित कार्यों एवं कर्तव्यों के अनुष्ठान से मानव जीवन के सुखी होने का आशावादी सन्देश देता है ।

मानव जीवन के लौकिक तथा अ प्रति लौकिक दोनों ही पक्षों का यदि सांगोपांग विवेचन हमें देखना है तो रामकाव्य का अध्ययन अति लाभकर सिद्ध होगा । राम ब्रह्म हैं तथापि सामान्य पुरुष की भांति सामाजिक आचरणों का पालन करते हैं । उनका चरित्र मानवीय प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण का मार्गदर्शक है तथा कहीं भी लोकपक्ष की अवहेलना नहीं करता । केवल राम ही नहीं प्रत्येक

पात्र हमें भक्ति, संयम, सदाचार और कर्तव्यमय जीवन व्यतीत करने का संदेश देते हैं । धर्म एवं भक्ति का पालन भी सामाजिक कर्तव्यों के अनुष्ठान द्वारा सम्भव बताया गया है, उसकी उपेक्षा द्वारा नहीं । लोकपक्ष की यह प्रमुखता रामकाव्य के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों में कहीं बाधक सिद्ध नहीं हुई है । लौकिक चित्रों को उपस्थित करते हुए कवि यत्र तत्र सर्वत्र इस बात का स्मरण दिलाता रहता है कि राम ब्रह्म हैं केवल इन्हीं की निष्काम भाव से भक्ति करनी चाहिए ।

रामकाव्य के विकास में सम्भवत: उसकी श्रेष्ठ महत्ता ने मार्ग अवरुद्ध किया । तुलसी की अलौकिक प्रतिभा ने ऐसे सर्वगुण सम्पन्न काव्य का सृजन किया जिसके समक्ष अन्य कवियों की रचनाएं महत्वहीन प्रतीत होने लगीं । सौन्दर्य की ओर आकर्षण मनुष्य का सहज स्वभाव है । फलस्वरूप राम का लोकरक्षक रूप गौण हो गया तथा लोकरंजक रूप अधिक उभर आया । कृष्णकाव्य में आकर कृष्णके केवल लोकरंजक रूप को ही अत्याधिक महत्व दिया गया । सूर नन्ददास आदि सभी कृष्णकाव्य के प्रमुख कवियों ने कृष्ण के बाल्य और यौवन की लोक-रंजनकारी लीलाओं को महत्व देते हुए जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन किया । राधाकृष्ण के मधुर व्यक्तित्व के प्रति जनता स्वभावत: आकृष्ट हुई । कृष्ण काव्य की बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण इन कवियों ने मधुरोपासना को अंगीकार करते हुए अतिप्राकृत विषयों को भी इतने सामान्य रूप में हमारे समक्ष उपस्थित किया कि वे जनसाधारण के लिए भी सुन्दर हो जायं । राधाकृष्ण तथा गोपीकृष्ण की प्रणय लीलाएं अत्याधिक मानवीय एवं साधारण धरातल पर वर्णित हैं । किन्तु उन लीलाओं का अति व्यापक रूप एवं लीलाओं की अलौकिकता की ओर संकेत करता है । उदाहरणार्थ कृष्ण द्वारा चीरहरण की लीला भक्त एवं भगवान के बीच आवश्यक निरावरणता सिद्ध करती है । इसी प्रकार रास लीला के अन्तर्गत अलौकिकता की पुष्ट्यर्थ सूर गोपी कृष्ण का शारीरिक नहीं अपितु मानसिक सम्मिलन करवाते हैं । कृष्ण काव्य की सरसता इस पृथ्वी पर ही अनुपम आनन्द की सृष्टि करती है ।

कृष्ण की बाल लीलाओं में उनकी विभिन्न संस्कारों तथा क्रीड़ाओं का चित्रण सामान्य बालक की भांति करते हुए उनके मानवीय पक्ष को ही अधिक प्रकाश में लाया गया है । यद्यपि कृष्ण की बाल्य तथा किशोर सभी प्रकार की लीलाओं में कवि उनके अलौकिक रूप का उल्लेख अवश्य करता है किन्तु तत्क्षण ही उनके मानवोचित व्यवहार एवं व्यापार द्वारा काव्य के लौकिक पक्ष को

अधिक उभार देता है । मनुष्य मात्र के लिए भक्ति को सुलभ बनाने के हेतु कवि सर्वत्र ही लौकिक पक्ष की उपेक्षा करते हुए नहीं देखे जाते । वे लौकिकता की आधारभूमि द्वारा अपनी आध्यात्मिकता की पुष्टि करते हैं ।

शान्तरस की दृष्टि से मध्ययुग चरम विकास का युग है जिसमें भक्ति की व्यापक भावना को स्वीकार कर शान्तरस के चित्रण की विविध दिशाएं निर्धारित की गयीं । जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं शान्तरस से तात्पर्य निष्क्रिय समाधिस्थ पुरुष के चित्रण से नहीं है । वह मानव जीवन की गतिविधियों को नियंत्रित ढंग से संचालित कर कुप्रवृत्तियों एवं दुराचरणों के हनन द्वारा परम सत्ता के प्रति आकृष्ट करेगा । मध्य युग का प्रत्येक कवि लौकिकता एवं अलौकिकता में अनुपम सामन्जस्य स्थापित कर इसी परम लक्ष्य की प्राप्ति का आदेश देता है । आध्यात्मिकता का प्रतिपादन इन कवियों का मुख्यलक्ष्य रहा किन्तु उसके लिए लौकिक जीवन की उपेक्षा नहीं की गयी । लोक जीवन से निरपेक्ष होकर किया गया मात्र दार्शनिकता का चित्रण सामान्य प्राणियों को अध्यात्म तत्व की अनुभूति नहीं करा सकता । दूसरी और अध्यात्मरहित, भोग विलास पूर्ण लौकिक जीवन व्यक्ति को पशुवत् आचरण करने के लिए प्रेरित करेगा, समाज की एकसूत्रता नष्ट होगी और विश्रृंखल हुए समाज का पतन होगा ।

संक्षेप में हम देखेंगे कि सिद्धों और नाथपंथियों की परम्परा को ग्रहण करते हुए सन्त कवियों ने अपने काव्य में शुद्ध शान्त की अभिव्यक्ति की । सूफी काव्य में शृंगार के माध्यम से तथा कृष्ण काव्य में शृंगार एवं वात्सल्य के माध्यम से अन्ततोगत्वा शान्त की अनुभूति होती है किन्तु उसकी प्रतिपादन शैली संत परम्परा से भिन्न पद्धति पर हुई । संत काव्य की निर्गुणोपासना, खण्डनमण्डनात्मक दृष्टिकोण तथा ज्ञान-वैराग्यपूर्ण भक्ति के प्रतिकूल रामकाव्य में सगुणोपासना को अपनाते हुए ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का अनिवार्य साधन नहीं माना गया भगवान राम के प्रति श्रद्धा विश्वासपूर्वक किसी भी भाव से की गई भक्ति परम आनन्द की अनुभूति कराती है, श्रद्धारहित भक्ति विलासिता को जन्म देगी ।

लौकिक एवं अलौकिक पक्षों का अपूर्व सामंजस्य मध्ययुग के प्रत्येक कवि की विशेषता है । परमात्मा के लौकिक रूप में व्यक्त होने वाली आध्यात्मिकता विचारधाराओं के वास्तविक रूप को न समझ कर आगे चलकर रीतिकाल में उदात्त भक्ति भावना का स्थान कवियों की शृंगारिकता ने ले लिया । अलौकिक लीलाओं को स्थूल रूप दिया जाने लगा । भक्ति के आलम्बन राधाकृष्ण सामान्य नायक

नायक-नायिका मात्र रह गए । उनके माध्यम से कवि अपनी वासनामूलक शृंगारिक कविताओं की सृष्टि करने लगे । किन्तु रीतिकालीन कवियों की यह विलासिता अधिक काल तक न चल सकी । आध्यात्मिक भावना से नितान्त निरपेक्ष रहने के कारण यह काव्य अधिक काल तक जनता केलिए ग्राह्य न हुआ । अतः इस प्रवृत्ति में आगे चलकर परिवर्तन हुआ ।

(ग) रीतिकाल में शान्त रस

रीतिकाल में लौकिकता की ओर उन्मुख होना शुरू हुआ, यद्यपि उस काल में भी विषय-सुख की पारमार्थिक असारता का बोध प्राप्त नहीं था । परन्तु समग्र रूप में लौकिक प्रेमानुभूति का आकर्षण अधिक मोहक लगा, अधिक आत्मीय लगा । इसके विकास में सहायक हुआ कवि कर्म का बोध । कवि भक्ति की आड़ में अपने कर्म को अब छिपाना नहीं चाहता, नकली भक्तों की बाढ़ में अपने व्यक्तित्व को एक किनारे लगाना चाहता है । रीतिकाल व्यक्तित्व की खोज है । इसलिए यद्यपि इसमें व्यापकता और विराट मानवीयता तो उतनी नहीं है जितनी कि भक्ति साहित्य में, परन्तु कविके व्यक्तित्व का उदय अधिक प्रखर है । यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों ने जहां ईमानदारी से विषय वैराग्य की बात की है या जहां अपनी आसक्ति के प्रति ग्लानि व्यक्त की है या जहां करुणानिधि प्रभु के आगे अपने को निश्शेष भाव से अर्पित किया है वहां शान्तरस का अत्यन्त समर्थ और सहजसंवेद्य आस्वादन मिलता है और भक्तिकाव्य की उपलब्धि को वह निश्चय ही आगे ले जाने वाला है । देव, सेनापति, पद्माकर बोधा, दास, रसखान, घनानन्द बख्शी हंसराज, महाराज विश्वनाथ सिंह और महाराज जसवन्त के स्फुट काव्यों में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं । रीतियुगीन काव्य की शान्तरसात्मक अभिव्यंजना इसलिए भी उतनी प्रखर है कि वह विषय से मुक्त होने के दंभ से मुक्त है, उसमें मनोवृत्ति की ऋजु स्फुटता है, पर स्फुटता के साथ साथ उक्ति में विदग्धता भी है (क्योंकि रीतियुगीन संस्कार ही विदग्धता का है) अपार करुणा है परन्तु साथ ही करुणानिधि में अविचल विश्वास भी। बहु विगलित भाव है परन्तु अपनी अक्षमताओं पर आक्रोश भी उतना ही तीव्र है, अपनी तुच्छता का ज्ञान होने के कारण कातरता है परन्तु अदम्य साहस है

भवसिन्धु को पार करने का । ऐसा लगता है, मानो शान्तरस इस जीवन की कीच कांदो से ही ऊपर उठकर अपनी सुरभि फैला रहा है । रीतिकाल का एक दूसरा अवदान है, सन्तों का राजनैतिक प्रतिरोध में सक्रिय योगदान,समर्थ रामदास और प्राणनाथ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं ।

(घ) आधुनिक काल में शान्तरस

हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल अत्यन्त भावसंकुल है, इसमें नयी पश्चिमी विचारधारा से संघात के कारण आत्मप्रत्यभिज्ञा की नयी चेतना जगी, अपनी अक्षमताओं से जूझने के लिए नया मनोबल जगा, आध्यात्मिकता की नयी लहर आयी जनतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का भाव जगा और इन सब के ऊपर जगा विदेशी सत्ता के प्रतिरोध का भाव । इस विभिन्न प्रभावों का आपसी टकराव भी कम नहीं हुआ । जहां एक ओर राममोहनराय जैसे पश्चिमाभिमुख विचारकों के प्रभाव से उपनिषदों की ओर प्रत्यावर्तन का नारा लगा, लौकिक लीलाभावों की उपेक्षा पर बल दिया गया और समता पर आधारित नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी, वहीं दूसरी ओर मधुसूदन सरस्वती, भास्कर राय और रामदास की परम्परा में एक कड़ी जुड़ी परमहंस रामकृष्ण की , सब को ग्रहण करने वाली , सब को आत्मसात् करने वाली परन्तु सीधे सत्यों को सामने रखने वाली दृष्टि प्रेरणा का स्रोत बनी । देश एक महाशक्ति, जगदात्री के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और राष्ट्रीयता के साथ भक्ति का योग हुआ, मानवीय चेतना का योग हुआ । एक तीसरा प्रभाव था इसी दूसरी विचारधारा से सम्पृक्त परन्तु अधिक व्यावहारिक वह था, तिलक और गान्धी का । इन दोनों ने भारतीय चिन्तन की आदर्श-परायणता को, विश्वबन्धुता को तथा भगवद्भावित चेतना को आधुनिक सन्दर्भ के साथ जोड़ा । दूसरे शब्दों में इन्होंने शान्तरस को राजनैतिक आयाम दिया । स्वाधीनता के संघर्ष के लिए शान्ति का व्रत और सत्य का व्रत लेने का संकल्प एक नयी चेतना थी । परन्तु समग्र रूप में इन तीनों प्रभावों में ने लोकसेवा में भगवान के आदर्श की प्रतिष्ठा की और लोक-उद्धार को परमधर्म के रूप में जनमानस में स्वीकृत कराया ।

संकीर्ण दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि आधुनिक युग जीवन के स्वीकार का युग है, वह शान्त रस की संवेदना का युग नहीं , परन्तु गहराई

में जाने पर लगेगा कि लौकिक प्रणय से विमुख होने की प्रवृत्ति, कठिन से कठिन त्याग और अपराजेय धैर्य के लिए संकल्प, विराट मानव समुद्र की आकांक्षा में अपने को विलीन करने का भाव, आध्यात्मिक अनुभूति को सेवाभिमुख करके क्रियाशील बनाने का आग्रह, शत्रु का प्रतिरोध करते हुए भी उसके प्रति निर्वैरभाव, राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते हुए भी पीड़ित मनुष्यता मात्र के लिए गहरी समवेदना तथा ऐश्वर्य के साधनों का तिरस्कार ये सारी प्रवृत्तियां शान्तरस की भावभूमि के ही विस्तार की प्रमाणस्वरूप हैं। यह जीवन के क्षुद्र सत्य का नये जोश के साथ वरण उससे अधिक है।

शान्तरस की सामग्री सीमित अर्थ में चाहे विरल हो, भक्ति का भी नवीन रूपान्तर हो, पर यदि गहरी मानवीय संवेदना को, करुणा को और अव्यथित प्रतिरोधी आत्मबल को शान्तरस की अभिव्यक्ति का ही अंगभूत माना जाय तो निश्चय ही आधुनिक काव्य में विशेषत: छायावादी कवियों की कृतियों में बड़े ही शक्तिशाली उदाहरण मिलेंगे। जयशंकर प्रसाद की कामायनी के अंतिम खंड की योजना भी प्रज्ञा के उच्चतम धरातल की रचना के उद्देश्य से है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' संवादी और विवादी स्वरों के बीच से शान्तरस के निखरने का देदीप्यमान उदाहरण है, उनके भक्तिगीत तो गहरे आत्मनिर्वेद के सबसे उत्कृष्ट उदाहरणों में है, उदाहरण के लिए 'सीधी राह मुझे चलने दो' या उनकी अन्तिम कविता की अन्तिम पंक्तियां--

> मल्ल मल्ल की मारें मूर्छित हुई, निशाने चूक गये हैं
> झूल चुकी है खाल ढाल की तरह तनी थी
> पुन: सबेरा एक बार फेरा है जी का,
> उनकी निर्मल शान्त दृष्टि ही द्योतित करती हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त का तो स्वर्णकिरणोत्तर समस्त काव्य एक उच्चतर मानवीय चेतना की सृष्टि में लगा है, जिसमें सामन्जस्य, समन्वय और सामरस्य का अखण्ड प्रवाह हो। महादेवी वर्मा की कविता में जहां आध्यात्मिक अनुभूति की तड़पन है, उनके गद्य में सामाजिक करुणा की गहरी अभिव्यंजना है। 'नवीन' और माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में राष्ट्रीय और आध्यात्मिक चेतनाओं का अद्भुत संयोजन है, नवीन में बौद्धिक पक्ष प्रबल है, माखनलाल चतुर्वेदी में संवेगात्मक पक्ष।

छायावाद के उत्तरवर्ती काल में मुख्यत: दो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं-- एक तो जनवादी और मार्क्सवादी चिन्तनधारा, दूसरी व्यक्तिवादी और अनुभववादी चिन्तनधारा । इन दोनों में भावातिरेक का प्रत्याख्यान है, पर पहली में जहां फैलाव ही फैलाव है,दूसरी चिन्तनधारा अधिक आत्मनिष्ठ है । छायावादी काव्य में अलौकिकता की ओर जो एक अतिशयतामय आवर्जन हुआ था, वह अन्तत: दोनों धाराओं के आते ही रुक गया और पुन: नये सिरे से सामान्य में विशेष की उपलब्धि का यत्न शुरू हुआ । १९३० से लेकर १९४५ तक का संघर्षों विफलताओं और युद्धजन्य विभीषिकाओं का तो समय है ही, साहित्य के क्षेत्र में तीव्र असन्तोष, आक्रोश और आत्मालोचन का समय है । स्वाधीनता प्राप्ति के बाद यह स्वर और अधिक प्रखर होता है और ज्यों- ज्यों आदर्शों का खोखलापन सामने आता जाता है, राजनैतिक जीवन में नैतिक विघटन प्रबल दीखती जाती है, मनुष्यता दो सीमाओं में विभक्त होकर भयंकर विश्व संहारक अस्त्रों के निर्माण में आत्मघात के लिए आकुल दीखती जाती है, त्यों-त्यों एक गहरा आत्म-प्रत्याख्यान जो पकड़ रहा है । कुछ बाहरी प्रभाव से और कुछ अपने भीतर के मन्थन से साहित्य में शून्यता का, अर्थहीनता का और अवश शान्ति का भाव कई रूपों में उठ रहा है । यह सही है, शान्तरस की परिधि में इसे बांधा नहीं जा सकता, पर है यह हिन्दी साहित्य की आत्मान्वेषी चिन्तनधारा का ही सहज परिणाम ।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हिन्दी साहित्य की उन्मेषशालिनी शिवदृष्टि में शान्तरस की दृष्टि मूर्धन्य है, यह जितनी ही संहारक है, उतनी ही विधायक भी और यह दृष्टि क्रमश: विकसित हुई है । यह जरूर है कि इस दृष्टि का सम्यक् विस्तार भक्तियुगीन साहित्य में ही हुआ है, परन्तु इसकी निरन्तरता और प्रसरणशीलता समूचे हिन्दी साहित्य में एकरस रूप में वर्तमान है ।

अध्याय -- ६

-०-

निर्गुण संत काव्य में शान्त रस

अध्याय -- ६

निर्गुण संत काव्य में शान्तरस

(क) सामान्य प्रवृत्ति तथा भक्ति का स्वरूप

निर्गुण भक्ति का प्रादुर्भाव उस विषम स्थिति में हुआ जब मुसलमानों के आक्रमणों से हिन्दू जनता में नैराश्य फैला हुआ था तथा भारतीय संस्कृति भी पददलित प्राय हो रही थी । ऐसे संकट के समय में हिन्दुओं में नव जीवन संचार हेतु भक्ति का आश्रय ग्रहण करना परमावश्यक हो गया था । कुछ संतों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच ऐक्य स्थापित करने की चेष्टा की । वस्तुत: उस समय ऐसे ही भक्ति मार्ग की आवश्यकता थी जो आत्मा एवं परमात्मा के में ऐक्य स्थापन के द्वारा मनुष्यमात्र में भी ऐक्य स्थापित करे । और यही संतकाव्य का वैशिष्ट्य है कि उसने भारतीय ब्रह्मवाद और इस्लामी खुदावाद के सम्मिलित आधार पर विश्वबन्धुत्व की स्थापना की । इसी कारण सम्पूर्ण सन्तकाव्य एक ओर जहां आध्यात्मिकता से ओत प्रोत है वहीं दूसरी ओर उसमें समन्वय की भावना भी व्याप्त मिलती है । इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी बात के लिए उसमें किंचितमात्र स्थान नहीं । जो कुछ भी लिखा गया है, वह सामान्य जनता के लिए भक्ति को ग्राह्य बनाकर उसके स्वरूप को समाप्त करने के लिए ही है । यत्र तत्र बाह्याचार एवं बाह्याडम्बर की अनेकानेक जो विरोधी उक्तियां मिलती हैं उन सब का लक्ष्य यही है कि मनुष्य दुष्प्रवृत्तियों को अपने मानस से बहिष्कृत करके उनकी अनुपयोगिता को अपने ज्ञान द्वारा अपने अन्त:करण को निर्मल बनाए क्योंकि बिना शुद्ध और सात्विक अन्त:करण के अविरल भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती ।

संत कवियों की भक्ति के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि उनके आराधक तथा आराध्य के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाय। संत कवियों की ब्रह्म सम्बन्धी विचारधारा में औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अतः उनके काव्य में यत्र तत्र अद्वैतवाद की झलक देखने को मिलती है। संत कवियों का ब्रह्म निर्गुण, निरंजन, निराकार, अगम, अगोचर[1] रूप में व्यक्त किया गया है। यह परम तत्त्व घट घट में निवास करने वाला है,[2] न कभी घटता है और न कभी बढ़ता है, न पास है न दूर है,[3] वह गुणातीत है[4]। संत कवियों ने अपने ब्रह्म की अखण्डता और एकरसता[6] पर ज़ोर दिया है[5]। यह ब्रह्म पूर्ण तो है ही, साथ ही सर्वत्र परिव्याप्त[7] भी है। हम अज्ञानता के कारण उसकी अद्वैतता को नहीं समझ पाते। इस अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का निम्न रूपों में वर्णन मिलता है। शब्द रूप में, शून्य रूप में, सहज रूप में, अनिर्वचनीय तत्त्व के रूप में। नाद बिन्दु की साधना शब्द ब्रह्म से सम्बद्ध है। अनहद नाद को वर्णन द्वारा शब्द ब्रह्म का चित्रण[8] किया गया है। संत काव्य में राम नाम निरंजन शब्द रूप को माना गया है। सामान्य जन के लिए इसका स्वरूप समझना कठिन है। इसका स्वरूप अवर्णनीय है। क्योंकि वह जैसा है, वैसा ही है[9] उसके संबंध में कदाचित् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसीलिए उस गुणातीत का रूप नाम आदि देना सम्भव नहीं[10]। कदाचित् इसीलिए अपने अनिर्वचनीय ब्रह्म को सर्वसुलभ बनाने की दृष्टि से ही इन कवियों ने उसको कहीं-कहीं सगुण और साकार रूप में भी उपस्थित किया है। सगुणावस्था में यह ब्रह्म सृष्टिकर्ता के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। वह कुम्हार की भांति विभिन्न रचना करके स्वयं उसके

१- क०ग्रं० पृ०२३०,२३८, सन्तकाव्य, पृ०३७१ पद १, सन्तकाव्य,पृ०३८६ पद २,पृ० ४२४ पद ७, संतकाव्य, पृष्ठ २५० पद १६ ।

२-सन्तकाव्य, पृ०१४४ क०ग्रं०पद ५५,३३०, पृ०२६६ पद २ ।

३-क०ग्रं० पृष्ठ २४२ ।

४- वही० , पृ० १६३ पद २२० ।

५- वही०, पृ०८६ अविहड़ को अंग, ८०६ ।

६- सन्तकाव्य पृष्ठ२७१ साखी,१,पृ०२७६पद ६,पृ०२८६, २६६,पृ०४७२ पदस्मर ।

७- क०ग्रं० पृष्ठ १४४ ।

८- शब्द निरंजन राम नाम सांचा-- क०ग्रं०,पृ०१५४ ।

९- जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ ।।, क०ग्रं०पृ०२३०

१०-क०ग्रं०,पृ० २३८ सैनी ५।

भीतर से प्रतिबिम्बित होता हुआ उनका पालन करता है[1]। यही ब्रह्म इस सृष्टि का संहर्ता, उसका संरक्षक तथा सुधारक भी है[2]। सगुण रूप में चित्रण करने के कारण उसके साथ विभिन्न सम्बन्धों की स्थापना भी हुई है। इस ब्रह्म के विराट रूप की कल्पना तथा विष्णु, कृष्ण, नरसिंह आदि अवतारों के रूप में भी कहीं कहीं चित्रण मिलता है। अवतारी रूप में कहीं-कहीं चित्रण होने पर भी ब्रह्म को सूर तुलसी आदि की भांति पार्थिव जगत् की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया गया है। ब्रह्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप का वर्णन भी मिलता है। यह ब्रह्म पिण्ड और ब्रह्माण्ड से परे अजर अमर है तथा शून्य में निवास करता है। अत: हम इसके स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं अपनी मनस्तुष्टि के लिए उसका विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं। वास्तव में यह ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों से ही परे है, मनुष्य उसे अजर अमर कहते हैं, किन्तु उसके विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वह तो अलख है। रूप एवं वर्ण से रहित होकर भी सर्वत्र विद्यमान तथा आदि अंत ही न है। अत: पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के रूप में उसका वर्णन व निरपेक्ष आदि अन्तहीन, इन्द्रियातीत ब्रह्म-कर्ता- और कृति दोनों ही है। वह अपनी लीला का विस्तार और संकोच करता है। सम्पूर्ण सृष्टि में सृष्टिकर्ता तथा सृष्टिकर्ता में सृष्टि समायी हुई है। ब्रह्म के इस अलौकिक स्वरूप को केवल आत्मानुभूति के द्वारा ही समझा जा सकता है[3]।

जीव उसी परमात्मतत्त्व का अंश होने के कारण उससे अभिन्न है तथा आत्मा पर परमात्मा की समस्त विशेषताएं घटित होती हैं[4]। यह आत्मा ब्रह्म के समकक्ष अमर, ज्ञानस्वरूप, सक्रिय, घट-घट में निवास करने वाली, स्वयं प्रकाश्य तथा आनन्दरूप है[5]। कबीर ने आत्मा को निर्गुण और निराकार रूप में ही चित्रित किया है। वे आत्मस्वरूप को निरंजन की ही भांति अपरम्पार मानते हैं[6]। गीता की भांति यहां भी आत्मा को अच्छेद्य अदाह्य एवं अविनाशी माना गया है।

१- क०ग्रं० पृ०२५० अन्तिम पंक्तियां।

२- भानड़ घड़ण संवारण सोई ।। क०ग्रं० पृ० १८१, पद २७३।

३- संत काव्य, पृ०२१२ पद १।

४- निज स्वरूप निरंजना निराकार अपरंपार अपार।
—क०ग्रं०पृ० २२७।

५- क०ग्रं०पृ०२२७, पद २०५ की प्रथम दो पंक्तियां तथा पृ०१०५ साखे
निज स्वरूप निरंजना, निराकार अपरम्पार अपार।—क०ग्रं०पृ०२२७।

इसी कारण कबीर आदि ने जीव हत्या करने वाले मुसलमानों को खूब फटकार बताई है,[1] जीवात्मा ज्योतिस्वरूप है जो कि मनुष्यों के जीवन का कारण है। इस जीवात्मा का निवासस्थान प्राणियों का हृदय है। आत्म साक्षात्कार करने का एकमात्र उपाय यही है कि   में समस्त वृत्तियों को केन्द्रित कर दिया जाय। आत्मा एवं परमात्मा के एक होने पर भी शरीर बद्ध रहने के कारण आत्मा उससे सर्वथा पृथक प्रतीत होती है। इस प्रकार की प्रतीति का कारण 'माया' है। मायाग्रस्त आत्मा ही जीव है। कबीर, ने रूपक का आश्रय लेकर इस गूढ़ तथ्य को बड़े ही सुगम ढंग से समझाया है --

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।

फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ्य कथ्यो ज्ञानी ।।[2]

अत: जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर विभिन्नता मानने वालों की इन्होंने खूब निन्दा की है। इस आत्मा के दो रूप --प्राप्त आत्मा और प्राप्तव्य आत्मा माने गए हैं। डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने प्राप्ता आत्मा को सुरति और प्राप्तव्य आत्मा को शुद्ध मुक्त स्वरूप को निरति माना है।[3] जब प्राप्ता आत्मा (सुरति) का प्राप्तव्य आत्मा (निरति) से तादात्म्य स्थिर हो जाता है तब आनन्द की उपलब्धि होती है।[4] इस एक अद्वैत तत्व विभिन्न रूपों में कैसे प्रतिभासित होता है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। इसको स्पष्ट करने के लिए कबीर ने प्रतिबिम्ब-वाद की स्थापना की है। जैसे जल में बिम्ब के विभिन्न प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होते हैं, वैसे ही यह आत्म तत्व भी संसार में विविध रूपों में भासित होता है।[5] जीवतत्व और परमतत्व परमार्थत: एक ही हैं, उन दोनों के बीच दृष्टिगत होने वाली भिन्नताएं हमारे कर्मों एवं भ्रम के कारण होती हैं। इस भ्रम का मूल कारण माया है।[6] किसी वस्तु की सत्ता न होने पर भी उसका अस्तित्वमय दिखायी पड़ना भ्रम है, यही भ्रम माया है जो कि शंकराचार्य के अध्यास से समता रखता है। जो जीव को भ्रमित कर संसार चक्र

१- क०ग्रं०, पृ०७३ दोहा १७।
२- वही०, पृ० १०५
३- कबीर की विचारधारा, पृ०२२१
४- क०ग्रं०,पृ०१४, दोहा २२
५- वही०,पृ०५६ दोहा) की अंतिम तीन पंक्तियां, पृ०२६४, पद ४६।
६- वही०, पृ०२५६ रमैनी ४

में फंसाये रखता है । इसकी प्रेरणा से ही जीव विभिन्न बन्धनों में आबद्ध होता है तथा भगवत्भक्ति करने में असमर्थ रहता है । 'माया' के गुणों का संत दूलनदास ने बड़े ही सरल शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है ।

राम तोरी माया नाचु नचावै ।
निसु बासर मेरो मनुवां व्याकुल, सुमिरन सुधि नहिं आवै ॥१॥
जोरत तूरै नेह सब मेरो निरवारत अरुझावै ।
केहि विधि भजन करौं मेरे साहिब, बरबस मोहि सतावै ॥२॥
सत सनमुख थिर रहै न पावै, इत उत चितहिं उलावै ।
आरत पंवरि पुकारौं साहिब, जन फिरि यादहि पावै ॥३॥
धोखे जन्म जन्म के नाचत, अब मोहि नाच नचावै ।
दूलनदास के गुरु दयाल तुम, किरपहिं ते बनि आवै ॥४॥[1]

यह माया परम सुन्दरी तथा विश्व को मोहित करने वाली नारी के रूप में भी चित्रित की गयी है[2] । यह माया त्रिगुणात्मिका है । परमात्मा उसे उत्पन्न करके उसी में अपने को छिपा देता है । सारी सृष्टि की उत्पत्ति उसी से हुई है[3] । इस माया का बाह्य रूप बड़ा ही आकर्षक है । माया के निर्गुण एवं सगुण दो रूप हैं । यह अनिर्वचनीय स्वभाव वाली है । संत सुन्दरदास इसकी अनिर्वचनीयता को निम्न प्रकार से व्यक्त करते हैं --

---

१- संत काव्य-- संत दूलनदास, पृ० ४४४ तथा पृ०४६०, पद ४

२- संतो कठिन अपरबल नारी ।
सबही बरलहि भोग कियो है, अजहुं कन्या क्वारी ।टेक०
जननी ह्वैके सब जग पाला, बहु विधि दूध पियाई ।
सुन्दर रूप सरूप सलोना, जोय होय जग खाई ॥१॥
मोह जाल सों सबहिं बझायो, जहं तक हैं तन धारी ।
काल सरूप प्रकट है नारी, जन कोइ लखहु बिचारी ॥२॥
ज्ञान ध्यान सबहीं हरि लीन्हं , काहु न आपु संभारी ।
कहै गुलाल कोऊ कोउ उबरै, संत गुरु की बलिहारी ॥३॥
-- संत काव्य, पृ०४२४, पद -८ ।

३- सु०ग्रं०, पृ० २२६, अष्टपदी रमैणी की प्रथम दो पंक्तियां ।

ख्याली तेरे ख्याल का, कोई अंत न पावै ।
कब का खेल पसारिया, कछु कहत न आवै ।।
ज्यों का त्यों ही देखिये पूरन संसारा ।
सरिता नीर प्रवाह ज्यों नहिं खंडित धारा ।। १।।
दीप जरत त्यों देखिये, जैसे का तैसा ।
को जानै कैता गया, जग पावक ऐसा ।।२।।
जैसे चक्र कुलाल का, फिरता बहु दीसै ।
ठौर छांड़ि कतहुं न गया, यह किसवा बीसै ।।३।।
प्रगट करै गुप्ता करै, घट घूंघट ओटा ।
सुन्दर घटत न देखिये यह अचिरज मोटा ।।४।।[1]

कबीर ने भी इस माया की अनिर्वचनीयता का अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया है। उसकी समता बेल से करके उसे अद्भुत गुणों से सम्पन्न बताया है। यह मायारूपी बेल नष्ट किए जाने पर मनुष्य का को और अधिक आकृष्ट करती है तथा परमात्मा के चिन्तनरूपी जल से सिंचित किए जाने पर म्लान हो जाती है[2]। इसकी विभिन्न लीलाओं को केवल मायापति ईश्वर ही समझ सकते हैं। अन्य लोग उससे तटस्थ न रहकर उसमें आसक्त हो जाते हैं। उसकी सत्ता से प्रेरित होकर ही हम धर्म-अधर्म सम्बन्धी कर्म करते हैं और उनका फल भोगते हैं। परन्तु माया का यह संसार असत् है, वास्तविक रूप का ज्ञान होने पर माया का स्वरूप शशक के सींग, वंध्या-पुत्र की क्रीड़ा एवं बिना ब्याई गाय के दूधके समान प्रतीत होने लगता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति होने के कारण यह परिवर्तनशील है[3], फलस्वरूप उत्पत्ति और लय को प्राप्त होती है। इस माया के लिए दु:खरूपिणी, अव्यक्त, सर्वव्यापी, बन्धनस्वरूपा विश्वासघातिनी, पापिनी, डाकिनी, सांपिनी आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं[4]। इस माया का निवासस्थान मनुष्य का मन है अत: मन के समस्त विकार आशा, तृष्णा, काम, क्रोध आदि उसी के साथी हैं। 'कनक' और 'कामिनी' माया के प्रधान प्रतीक हैं। माया के दो भेद किए गए हैं, १- ईश्वरीय माया जो कि परम तत्त्व की प्राप्ति में सहायक होती है, २- मिथ्या माया जो परमात्मा और आत्मा के मिलन में बाधक होती है। इस मिथ्या माया की कबीर ने बहुत निन्दा की है।

१-संत काव्य संत सुन्दरदास, पृ० ३८७
२- क०ग्रं०, पृ०१६६ तथा पृ०८६, दोहा ३
३- वही०, पृ०२५७, दोहा १११ तथा पृ०८६,दोह
४- वही०,पृ०१६८ पद २३६ ।

इन्होंने माया के दो रूप कहीं विद्या और अविद्या तथा कहीं मोती और झीनी किए हैं । कहीं उसे ब्रह्म वृत्ति प्रपंच भी माना है । कहीं उसे ब्रह्म का 'तत्व' भी बताया है[1] । कबीर ने कहीं-कहीं निरंजन शब्द का प्रयोग भी माया जाल के अर्थ में किया है । माया की सबसे बड़ी दुष्टता यह है कि जब साधक अपनी भक्ति-साधना के मार्ग में अग्रसर होने लगता है तब वह उसे तरह-तरह के प्रलोभन देकर भक्ति से विमुख कर देती है । अत: साधक जब माया के बन्धन से अपने को मुक्त कर लेता है तब उसे शुद्ध आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है ।

ज्यौंहि कूप के नीर तै सींचत ईंख अफ़ीमहि अंब अनारा ।
होत उहै जल स्वाद अनेकनि, मिष्ट कटुक षटा अरु खारा ।।
त्यौंहि उपाधि संयोगते आतम, दीसत आहि मिल्यौ सौ विकारा ।
काढ़ि लिये सु विचार विवस्वत, सुन्दर शुद्ध स्वरूप है न्यारा[2] ।।

आत्म दर्शनार्थ संत कवि सगुण भक्तों की भांति ही भक्ति को प्रधानता देते हैं । भक्ति केवल सगुण और साकार ईश्वर के प्रति ही होती है ऐसा सोचकर निर्गुण, अद्वैत और रूपातीत ब्रह्म के उपासक संत कवियों के काव्य के भक्ति विरहित होने की कल्पना करना न्यायसंगत नहीं । भक्ति के लिए किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं कि वह निर्गुण के प्रति नहीं होसकती और सगुण के प्रति ही होगी । भक्ति अनन्य भाव से परमात्मा अनुशीलन है जो कि निरुपाधिक ब्रह्म के विषय में भी उतना ही सत्य है, जितना सगुण ब्रह्म के विषय में । अत: भक्ति और अद्वैत भावना का कोई विरोध नहीं । इस अद्वैत भावना के अनुसार जीव वस्तुत: ब्रह्म का ही प्रतिरूप है किन्तु माया के बन्धन में पड़कर भ्रमवश वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और अपने को ब्रह्म से पृथक समझने लगता है । जीव को अपने पारमार्थिक रूप को प्राप्त कराने की चेष्टा अथवा अभेद प्रतीति के लिए किए गए प्रयत्न भक्ति के अन्तर्गत आते हैं । जिस प्रकार नदी की लहर का प्रत्येक बिन्दु समुद्र की सत्ता में विलीन होना चाहता है, ठीक उसी प्रकार अभेद प्रतीति जन्य प्रेम के कारण प्रत्येक जीव अपनी पारमार्थिक सत्ता में समा जाना चाहता है[3] ।

घट घट व्यापी परम तत्व की अनुभूति में विश्वास करते हुए ये संत सदैव

१- त्रिभि नटवै नटसारी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी ।।
तथा -- ऐसी माया मोह भुलाना, सकल राम को किनहूं न जाना ।।
--क०ग्रं०, पृ०२२७, २२८ ।

२- संत काव्य, पृ०३६० पद ६ ।

३- वही०, पृ० २६६ पद ६-२ ।

हरिगुण गाने का आदेश देते हैं क्योंकि उनके अनुसार भक्तिविहीन जीवन व्यर्थ है -- भक्ति ही जीवन का सार है, मुक्ति है । राम नाम का आश्रय न लेने से ही मनुष्य माया-मोह के बन्धन में फँसता है, अन्यथा भक्ति का आश्रय लेने पर तो पतित से पतित का भी उद्धार हो जाता है । रामनाम के महत्त्व के सम्बन्ध में इन संतों ने अनेक प्रकार की उक्तियाँ की हैं । संत दूलनदास मन को केवल नाम जपने का आदेश देते हुए कहते हैं --

> मन बहि नाम की धुनि लाउ ।
> रटु निरन्तर नाम केवल अवर सब बिसराउ ।।१।।
> साधि सुरत अपनी, करि सुवा सिखर चढ़ाउ ।
> पोषि प्रेम प्रतीति ते कहि राम नाम पढ़ाउ ।।२।।
> नाम ही अनुरागु निसि दिन, नाम के गुन गाउ ।
> कहौ लौं का अबहिं आगे, और कहौ बनाउ ।।३।।
> जगजीवन सतगुरु बचन साँचे, तास मन में लाउ ।
> कहु दास दूलनदास जनमां फिरि न महि जग आउ ।।४।।[1]

भक्ति परम्परा के अनुसार भक्ति को प्राप्त करने के दो प्रमुख साधन हैं-- प्रथम प्रकार के साधक अपनी समस्त मानसिक प्रवृत्तियाँ एवं अभिलाषाओं को अपने उपास्य के चरणों में अर्पित कर देता है और पूर्णात्म समर्पण के पश्चात् ~~xxxxx~~ एक अलौकिक प्रकार की आनन्दानुभूति उनको होती है । दूसरे प्रकार की भक्ति ज्ञानप्रधान है । इसमें साधक सर्वप्रथम अपने इष्टदेव का ज्ञान प्राप्त करता है तदनन्तर उससे प्रेम करता है और अन्त में सर्वस्व उसके चरणों में अर्पित करके संसार के माया बन्धनों से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार प्रथम प्रकार के साधन को अपनाने वाले तुलसी, सूर आदि सगुणोपासकों की गणना भावुक भक्तों में है क्योंकि वे अपने इष्टदेव के सानिध्य को ही सर्वस्व मानते हुए मुक्ति की कामना नहीं करते । दूसरे प्रकार में निर्गुणोपासक संत कवि ज्ञानी भक्तों के अन्तर्गत हैं जो सर्वप्रथम अपने उपास्य को आत्मज्ञान और

१- संत काव्य, संत दूलनदास, पृ० ४४१ ।

आत्मदृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं और पुन: इष्टदेव का परिचय प्राप्त करके काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों से रहित होकर जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार के भक्त केवल शुष्क ज्ञान को ही प्रश्रय नहीं देते। ज्ञान से समस्त प्रकार के बन्धनों और विकारों के अपसारण द्वारा संसार से स्वभावत: जीव की विरक्ति हो जाती है,[1] अत: ज्ञान का महत्त्व केवल भक्ति के लिए ही पूर्णात्म समर्पण की स्थिति भी महत्त्वपूर्ण है किन्तु यह स्थिति ज्ञानोदय के पश्चात् आती है। जब साधक को परमात्म स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तभी वह कह उठता है --

अब हम चली ठाकुर पहि हारि।
जब हम सरणि प्रभु की आई। राखु प्रभु भावै मारि।।
लोकन की चतुराई उपमा ते, बैसंतरि जारि।।
कोई भला कहउ भावै बुरा कहउ, हम तनु दीओ है ढारि।।
जो आवत सरणि प्रभु तुमरी तिसु राखहु किरपा धारि।।
जन नानक सरणि तुमारी हरिजीउ राखहु लाज मुरारि।।[2]

यही नहीं, वह यहां तक कहता है कि --

तनभी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।[3]
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यहु दादू का ज्ञान।।

आत्मसमर्पण के पश्चात् सब ओर से विमुख होकर साधक अपने आराध्य की शरण में चला जाता है। निम्न पंक्तियों में परमात्मा की शरण में गए हुए ज्ञानी भक्त की आर्त वाणी द्रष्टव्य है --

---

१- कबीर ने निम्न पंक्तियों में 'कुबुद्धि का भांडा' फूटने की बात कितने सुन्दर शब्दों में आंधी के रूपक द्वारा व्यक्त की है --

संतो भाई आई ज्ञान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बांधी।।
हित चित की द्वै थूनी गिरानी, मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा।।
--क०ग्रं०, पद १६, पृ०९३।

२- संत काव्य -- गुरु रामदास, पृ०२७५।

३- वही०, पृ० २६५।

अब तेरी शरण आयी राम ।।टेक ।।

जबै सुनिया साध के मुख, पतित पावन नाम ।।१।।

यही जान पुकार कीन्हीं, अति सताओ काम ।।२।।

विषय से हौं भयो आजिज, कह मलूक गुलाम ।।३।।[1]

इन संत कवियों की दृष्टि में भक्ति के क्षेत्र में प्रपत्ति का बहुत अधिक महत्व है । वे सर्वत्र यही आदेश देते हैं कि सर्वस्व त्याग कर भगवान की शरण में जाओ । कबीर में तो इस प्रकार की उक्तियां भरी पड़ी हैं, उनकी सर्वत्र यही पुकार रहती है --

तेरी गति तू ही जानै कबीर तो तेरी सरना[2] ।

वस्तुत: इन संतों ने अपनी आराधना में नवधा भक्ति को पर्याप्त महत्व दिया है । किन्तु सगुण भक्तों ने जहां भक्ति के सम्बन्ध में वाह्याचारों को महत्व दिया है, वहां इन संतों की दृष्टि नवधा भक्ति के मानसी पक्ष पर विशेष रूप से स्थिर थी । वाह्याचारों में उनकी आस्था न थी । अत: श्रवण, कीर्तन, वन्दन आदि को महत्व देते हुए भी इन्होंने उसको दूसरे रूप में उपस्थित किया । श्रवण से तात्पर्य केवल भगवान नाम का श्रवण कर लेना नहीं है, बल्कि इस श्रवण का रूप इस प्रकार का होना चाहिए --

ऐसा कोई न मिलै राम भगत का गीत ।

तन मन सौंपै मृग ज्यूं सुनै बधिक का गीत[3] ।।

इसी प्रकार भगवन्नाम के कीर्तन एवं संस्मरण को महत्व देते हुए उनके वाह्य साधनों का सर्वथा बहिष्कार किया है । भगवान के कीर्तन अथवा नाम स्मरण के झांझ, मृदंग अथवा ज़ोर ज़ोर से चिल्ला कर नाम जपने की आवश्यकता नहीं उसके लिए मानसी साधना अथवा मन:स्मरण ही महत्वपूर्ण है[4] । पादसेवन[5] में साधक अपने समस्त दु:ख-कष्टों को भूल कर अपने आराध्य की सेवा में इतना तन्मय हो जाता है कि उसके बिना क्षण भर भी जीवित रहना दूभर दिखलाई देने लगता है । अतएव

१- संत काव्य -- संत मलूकदास, पृ०३५४ ।

२- क०ग्रं०, पृ०१६२, पद २१६, २६७-६, पृ०१६०-३०१ की अन्तिम पंक्ति ।

३- वही०, पृ० ६६ दोहा ३ ।

४- वही०, पृ०६ दोहा, १६, १४, पृ०७, -३१ दोहा

५- वही०, पृ०२१८ पद ३६, की अंतिम पंक्तियां, पद ३६२ की प्रथम पंक्ति ।

भगवदर्चना के अन्तर्गत मूर्ति पूजा आदि बाह्याचारों से साधक की भ्रान्ति दूर होने के स्थान पर उसकी तृष्णा बढ़ती है । प्रत्येक आत्मा में परमेश्वर का निवास है, साधु प्रत्यक्ष देवता स्वरूप हैं अतः मूर्तिपूजा का प्रश्न ही नहीं उठता । उन्होंने अपने आराध्य के लिए अद्भुत आरती का संयोजन किया है --

ऐसो आरती त्रिभुवनतारै ।तेजपुंज तहां प्रान उतारै ।
पाती पंच पुहुप करि पूजा । देव निरंजन और न दूजा ।।
तन मन सीस समरपन कीना । प्रगट जोति आत्मलीनता ।
दीपक ग्यान सबद धुनि घंटा। परम पुरिख तहां देव अनन्ता।
परम प्रकास सकल उजियारा। कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ।।[1]

इनका वन्दन भी अशरीरी है --

कबीर सबद सरीर में, बिन गुण बाजै तंति ।
बाहर भीतरि भरि रह्या, ताकै छूटि भरंति ।।[2]

दास्य एवं आत्मसमर्पण की भावना तो इनकी भक्ति में पर्याप्त पाई जाती है । इस नवधा भक्ति की उपयोगिता वस्तुतः चंचल मन को वश में करने में है क्योंकि समस्त कुप्रवृत्तियों तथा सद्प्रवृत्तियों के प्रति मनुष्यों को प्रेरित करने वाला मनुष्य का मन ही है । अतः मन को वश में करने एवं भगवद् सेवा में लगाने का सबसे सरल और उपयोगी साधन 'नामस्मरण' तथा 'सुमिरन' अथवा 'संस्मरण' है । सुमिरन के अन्तर्गत 'अजपाजाप' भी है । प्रत्येक श्वास के आवागमन में साध्य के साथ अद्वैत भावना करना ही 'अजापाजाप' है । अजापाजाप करते -करते साधक स्वयं साध्य-स्वरूप हो जाता है ।

तू तू करता तू भया मुझमें रही न हूं ।
वारी फेरी बलि गई जित देखूं तित तूं ।।[3]

इस नाम स्मरण के लिए मानव शरीर की सार्थकता भी स्थान-स्थान पर प्रतिपादित की गयी है । बिना शरीर के भजन नहीं हो सकता । फिर

१- क०ग्रं०, पृ० २२२ पद ४०३ तथा संतकाव्य पृ०२५० पद २० ।
२- वही०, पृ०४३ तथा पृ० १२७ - १२४ वें पद की प्रथम पंक्ति ।
३- वही०, पृ० ५ दोहा ६ ।

जीवधारियों में भी केवल मानव-शरीर ऐसा है, जिसमें भक्ति के आवश्यक तत्व ज्ञान की मात्रा पायी जाती है। मानव शरीर कठिनता से प्राप्य है। अतः इसे प्राप्त करके व्यर्थ में गंवा देने पर मनुष्य को अन्त में दुःख भोगना पड़ेगा[1]।

भक्ति प्राप्ति का एक अन्य उत्कृष्ट तथा आवश्यक साधन गुरु-सेवा है। सांसारिक बन्धनों एवं अज्ञानता से गुरु ही छुटकारा दिला सकता है। किन्तु जिस प्रकार से भक्ति की प्राप्ति बिना भगवत्कृपा सम्भव नहीं, उसी प्रकार गुरु प्राप्ति के लिए भी निष्काम अनन्य सेवा आवश्यक है। गुरु की कृपा से ही आत्मा एवं परमात्मा का मिलन सम्भव होता है। इसके साथ ही गुरु का ज्ञानी होना भी अनिवार्य है, क्योंकि उसके ज्ञान के प्रकाश से आत्मा का कालुष्य रूपी अन्धकार दूर होता है और उसे कर्तव्याकर्तव्य पाप-पुण्य आदि का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है। माया-मोह की मृग मरीचिका तथा विभिन्न लौकिक आनन्द में फंसी हुई आत्मा का गुरु ज्ञान द्वारा उद्धार करता है। ज्ञानोन्मेष होने पर शिष्य में सांसारिक माया के प्रति अनुरक्ति समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् आत्मा-परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य करने में समर्थ होती है और परम आनन्द को प्राप्त करती है। इसी कारण संतों ने कहीं-कहीं गुरु का महत्व ईश्वर से भी बढ़कर बताया है[2]। भक्ति के साधन के रूप में सत्संगति, सदाचरण और निष्कपटता आदि का भी पर्याप्त चित्रण हुआ है[3]। यह भक्ति कृपासाध्य ही है। अपनी क्रिया अथवा पुरुषार्थ का महत्व अपेक्षाकृत कम है। साधक को भक्ति प्राप्ति तभी होगी जब परमात्मा उस पर अनुग्रह करेंगे[4]।

भक्ति के सम्बन्ध में संतों की दृष्टि में निष्कामता का बहुत महत्व है। कामनाएं शुद्ध सात्विक भक्ति की ओर जीव को प्रवृत्त होने से रोकती हैं। सकाम भाव से की गई भक्ति में भगवत्-आराधना के स्थान पर अपनी अभीष्ट फल की सिद्धि की भावना ही प्रधान रूप ग्रहण कर लेती है। विभिन्न प्रकार की कामनाओं के कारण भक्ति कलुषित और निष्फल होती है। अतः निष्काम भाव से सम्पन्न

१- मनसा देही पाऊं हरि बिसरैं तौ फिर पछिताऊं।--क०ग्रं०पृ०२२१।
२- संत काव्य, पृ० १५२,२३६,२४०,२६३,२८६,३५३, ३७४,४८१, ५१७ तथा ५४८।
३- सत्संगति से सम्बद्ध उक्तियां तो कबीर में अत्यधिक मिलती हैं --क०ग्रं०,पृ०५०-- साध साषीभूत कौ अंग दोहा १, साध कौ अंग दोहा१,पृ०४६ तथा पृ०४८ अंतिम पंक्ति आदि।
४- कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोविंद कृपा कीन्ह-- क०ग्रं०पृ०२१६।

की गई भक्ति साधक को परम शान्ति और परमानन्द देती है । वह अपने जीवनकाल में ही जीवन्मुक्त हो जाता है तथा शरीर त्यागने के उपरान्त मुक्ति प्राप्त करता है[1] ।

भक्ति के क्षेत्र में बाधक तत्वों के अन्तर्गत कंचन तथा कामिनी को सर्वत्र परित्याज्य बताया गया है । वस्तुत: ज्ञानमूलक भक्ति के समर्थक होने के कारण समदर्शिता एक आवश्यक तत्व हो जाता है । ज्ञानी व्यक्ति अपने अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही प्रकार की स्थितियों में समभाव रहता हुआ भक्ति का अधिकारी होता है । कबीर की दृष्टि में तो वह भगवद्स्वरूप ही हो जाता है --

अस्तुति निन्दा दोउ विवरजित तजहु मान अभिमाना ।
लोहा कंचन सम करि जानहि तेमूरति भगवाना ।।[2]

समदर्शिता एवं अनन्य की भावना के लिए ज्ञान के साथ ही योग का समावेश भी आवश्यक है । योग से तात्पर्य है --चित्तवृत्तियों का निरोध और समभाव की स्थिति के लिए चित्तवृत्तियों के निरोध की प्राथमिक आवश्यकता है । स्वभावत: चंचल एवं विषयों में लिप्त रहने वाले मन पर यदि नियंत्रण न किया जायगा तो वह साधक की भगवद्भक्ति में बाधक होगा । भक्ति योग द्वारा साधक अपने मन को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्लीन करने में समर्थ होता है, उसकी सहायता से वह अपने आराध्य का साक्षात्कार अपने शरीर में ही करता है और उसे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है । ज्ञान द्वारा आराध्य का परिचय प्राप्त कर लेने पर भी उनका साक्षात्कार किस प्रकार हो -- इस सम्बन्ध में कबीर कहते हैं --

लागे प्यास नीर सो पीवे, बिन लागे नहिं पीवे ।
खोजे तत मिले अविनाशी, बिन खोजे नहिं जीवे ।।
कहे कबीर कठिन यह करणी जैसी खंडे धारा ।
उलटी चाल मिले पारब्रह्म को, सो सतगुरु हमारा ।।[3]

यहाँ 'उलटी चाल' का तात्पर्य योग साधना से है । इसमें बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों को अन्तर्मुखी करना पड़ता है अत: यह मार्ग कठिन है । परमात्मा के प्रति सच्ची लगन वाला साधक ही इस मार्ग पर चल सकता है । 'सुनि मण्डल वासी' पुरुष को अपना

१- संतकाव्य--पृ० ३८३ दोहा ६० कहत कबीर निरंजन ध्यायो तित घर जानु बहुरि न आयो । --- क०ग्रं०, पृ० ३०६ ।

२- क०ग्रं०, पृ० २७२ ।

३० संत काव्य पृ०३२३, पद ३,पृ०४०६, पद १ ।

अपना आराध्य मानने के कारण उनकी साधना में योग का समावेश होना अस्वाभाविक नहीं । इस योग का उपयोग मन को निर्विकार स्थिति तक पहुंचाने में ही है ।

ज्ञान एवं योगपरक भक्ति के समर्थक संतों में भक्ति के क्षेत्र में 'प्रेम' का प्रयोग एक स्तुत्य प्रयास है जिसकी अभिव्यक्ति के बिना उनका भक्ति स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट नहीं होता । भक्ति सभी जीव कर सकते हैं, किन्तु प्रेम रहित भक्ति का साधना के क्षेत्र में कोई महत्त्व नहीं । अत: भक्त के लिए यह चेतावनी है कि --

तन मन धन से भक्ति करो री ।।
कोरी भक्ति काम नहिं आवै,याते हिये में प्रेम भरोरी ।।
परम पुरुष राधास्वामी चरनन में, औ सतसंग में प्रीति धरोरी ।
दया करें गुरु भेद बतावें, तब धुन संग सुर्त अंबर चढ़ोरी ।।
दीन गरीबी धार हिये में, उमंग उमंग गुरु चरन पड़ोरी ।।
राधा स्वामी मेहर करें जब अपनी, भव सागर से सहज तरोरी ।।[1]

वस्तुत: सच्ची भक्ति वही है जो प्रेम पूर्वक सम्पन्न की जाय[2] । इस प्रेम भक्ति में अनन्यता[3] त्याग एवं तपस्या का अत्यधिक महत्त्व है । अपूर्व त्याग के सम्बन्ध में गुलाल की निम्न उक्ति त्याग की सीमा है --

जो पै कोई प्रेम गाहक होई ।
त्याग करै जो मन कि कामना, सीस दान दे सोई ।।टेक।।
और कमल की दर जो छोड़ै, आपु अपन गति खोई ।
हरदम हाजिर प्रेम पियाला, पुलकि पुलकि रसलोई ।।१।।
जीव जीव मंह पीव जीव महं बानी बोलत सोई ।
सोई सभन मंह हम सबहन मंह, बूझत बिरला कोई ।।२।।
वाकी गती कहा कोउ जानै, जो जिय सांचा होई ।
कह गुलाल वे राम समाने, मत भूले नर लोई ।।३।।[4]

१- संत काव्य, संत सालिगराम, पृ० ५६३ ।
२- वही०, संत भीखा साहब, पृ०४६३।
३- प्रीति की यह रीति बखानीं।।
 कितनौ दुःख सुख परै देह पर, चरन कमल कर ध्यानी।
 है चैतन्य बिचारि तजौ भ्रम, खांड धूरि जनि सानौं।।
 जैसे चातृक स्वाति बुंद बिनु, प्रान समर्पन ठानौं।
 भीखा जेहि तन राम भजन नहिं, काल रूप तेहि जानौ।।
 --संत काव्य, संत भीखा साहब,पृ०४६२ तथा देखिए पृ०४३६ पद १।
४- संतकाव्य- संतगुलाल साहब, पृ०४२३, पद ४ तथा संत भीखा साहब,पृ० ४६२

इसी प्रकार की प्रेमरस से सम्बद्ध और अनेक उक्तियाँ संत काव्य में सुलभ है। साधक आत्मज्ञान द्वारा अपने आराध्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है, तत्पश्चात् अपने इष्टदेव से प्रेम और पुनः योग द्वारा अपने शरीर में ही अपने इष्टदेव का साक्षात्कार कर लेता है। योग साधना एवं प्रेम भावना का मिश्रण साधना की मध्य अवस्था में दिखलाई पड़ता है। साधना की अन्तिम अवस्था में तो केवल अलौकिकानन्द की ही अनुभूति होती है। यही संत कवियों का वास्तविक भक्ति स्वरूप है जिसमें आत्मानुभूति[1] को प्रमुख स्थान देने के साथ ही निष्कामता, सत्संगति, वाह्याचार विरोध, गुरु माहात्म्य तथा मन को वशीकरण[2] आदि का प्रतिपादन करते हुए कर्म, ज्ञान, योग एवं प्रेम का अपूर्व समन्वय उपस्थित किया गया है। उनकी ब्रह्म, जीव, माया आदि से सम्बद्ध उक्तियों में सर्वत्र विशुद्ध शान्तरस का आस्वादन होता है।

(ख) मुख्य रस--शान्त आधार--वैराग्य

संत काव्य की विषयवस्तु एवं स्वरूप से उसमें आद्योपान्त केवल शान्तरस की सत्ता स्पष्टरूप से लक्षित होती है। ज्ञान-वैराग्य पूर्ण भक्ति समन्वित सन्तों की वाणी सर्वत्र हमें पारमार्थिक सत्य एवं आत्मस्वरूप को समझने के लिए प्रेरित करती है। साधक को परिष्कृत एवं पवित्र अन्तःकरण वाला बनाने के लिए ही उन्होंने अपनी समस्त उक्तियों का सृजन किया है। वाह्याडम्बर विरोधी उक्तियां आदि इसी मान्यता की पुष्टि के लिए व्यक्त की गई है। प्रत्येक संत कवि परमतत्त्व

१- आतम-अनुभव-फूल की नवली कोऊ रीत।
नाक न पकरै वासना, कान कहै परतीत।
अनुभव नाथ कुं क्यों न जगावै।
ममता संग सो पाय अजागल-थन तें दूध दुहावै।
मेरे कहेतें खीज न कीजै, तुं ऐसिही सिखावै।। आदि संतकाव्य, पृ०३२९।

२- संत काव्य, पृ०२६० दोहा, ७ पृ०३५३ पद५, पृ०४८४ पद८, पृ०४८६ पद२।
तथा-- आपा खोजैं पिय पाई।
आपा खोजे त्रिभुवन सूझै अंधकार मिटि जाई।। आदि संत काव्य, पृ०३५३
तथा-- संतकाव्य, पृ०४४८ पद ५ इत्यादि।

का वैज्ञानिक विश्लेषण, आत्मस्वरूप, संसार की असारता माया-मोह का बन्धन रूप तथा बाह्याचारों की निन्दा आदि के अतिरिक्त अन्य किसी भी सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त नहीं करता । सामान्य जनता को उक्त सिद्धान्तों के परिज्ञानार्थ इन कवियों ने योग एवं वैराग्य के साथ ही प्रेमभक्ति का भी संयोग किया ।

वस्तुत: सम्पूर्ण संत काव्य वैराग्य भावना की आधारभूमि पर ही टिका हुआ है । इस विरक्ति के लिए संसार परित्याग की आवश्यकता नहीं । संत कवियों का वैशिष्ट्य ही इसमें है कि उन्होंने दैनिक जीवन के कार्यों एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों में सामन्जस्य उपस्थित किया । निवृत्ति मार्ग को ग्रहण करने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं किन्तु अपने जीवन को एक नवीन दिशा में प्रेरित करना अनिवार्य है । संसार में रहकर ही साधक वैराग्य को इतनी तत्परता एवं तन्मयता से ग्रहण कर सकता है जितना कि बाह्याचारों द्वारा सम्भव नहीं । उनके अनुसार मनोवृत्ति की शुद्धि ही साधक की दृष्टि में अ प्रथमावश्यक है जिससे सब कुछ सुलभ हो सकता है । इस प्रकार संतों ने अपनी वैराग्य भावना के संपादनार्थ एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है और संत काव्य के प्रत्येक पद से उनकी वैराग्य भावना ही ध्वनित होती है । यहां उनकी वैराग्यप्रियता के सम्बन्ध में एकाध उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं । सांसारिक सम्बन्धों के व्यर्थत्व एवं मानव शरीर की नश्वरता के सम्बन्ध में कबीर की यह उक्ति कितनी मार्मिक है :--

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ ।
जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ।।
जौ जारै तौ होइ भसम तन, रहत क्रम है जाई ।
काचे कुंभ उदक भरि राख्यौ तिनकी कौन बड़ाई ।।
ज्यूं माखी मधु संचि करि जोरि जोरि धन कीनौ ।
मूयें पीछें लेहु लेहु करि प्रेत रहन क्यूं दीनूं ।।
ज्यूं घर नारी संग देखि करि, तन लग संग सुहेली ।
मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखिहु हंस अकेली ।।
राम न रमहु मदन कहा भूलै, परत अंधेरै कूवा ।
कहै कबीर सोई-आप बंधायौ, ज्यूं नलनी का सुवा ।।[१]

१- क०ग्रं० पद २५१ (पंचम संस्करण)

इसी से सम्बन्धित संत सुन्दरदास की वाणी देखिए --

मेरौ देह मेरौ गेह मेरौ परिवार सब ,
मेरौ धनमाल मैं तौ बहुबिधि मरौं हौं,
मेरौ सब सेवक हुकुम कोउ मेटे नाहिं
मेरी युवती कौ मैं तौ अधिक पचौरौ हौं ।।
मेरौ वंश ऊंचौ मेरे बाप दादा ऐसे भये ,
करत बड़ाई मैं तो जगत उज्यारौ हौं ।
सुन्दर कहत मेरौ मेरौ करि जानै सठ,
ऐसी नहिं जानै मैं तौ काल ही कौ चेरौ हौं [1] ।।

इस प्रकार की और अनेक उक्तियां संसार की असारता, देह की क्षणभंगुरता एवं जगत के मायिक सम्बन्ध के विषय में उद्धृत की जा सकती हैं ।

संत काव्य में शान्तरस के अतिरिक्त प्रमुखरूप से शृंगार तथा कुछ अद्भुत वीभत्स एवं वीररस से सम्बन्धित उक्तियां भी मिलती हैं किन्तु उन सब भावनाओं के मूल में संतों की वैराग्य-साधना स्पष्टरूप से लक्षित होती है । शृंगार के अन्तर्गत दाम्पत्य भावना द्वारा संतों ने आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का वर्णन किया है किन्तु इस शृंगार वर्णन में सूफी कवियों की भांति भौतिकता का किञ्चिन्मात्र भी समावेश नहीं हुआ है । यह दाम्पत्य भाव शुद्ध प्रतीक के रूप में चित्रित किए गए हैं । पति-पत्नी के० प्रेम की पराकाष्ठा द्वारा संतों ने पूर्णात्मसमर्पण के अनन्तर निरुपाधि ब्रह्म की उपलब्धि वर्णित की है । अद्भुत रस के अन्तर्गत विभिन्न अलौकिक बातों का समावेश किया गया है । इनको 'उलटबासियों की संज्ञा दी जाती है जिसमें केवल आध्यात्मिकता की ही अभिव्यंजना मिलती है । इस सम्बन्ध में आगे विवेचन किया जायगा । वीभत्स रस के चित्रण में भी नारी के प्रति वितृष्णा का भाव, शरीर के प्रति जुगुप्सा के भाव तथा उनसे सर्वथा पृथक रहने के लिए चेतावनी दी गई है उदाहरणार्थ शरीर का घृणास्पद चित्र खींचते हुए संत सुन्दरदास कहते हैं --

जा शरीर माहि तू अनेक सुख मानि रह्यौ,
ताही तूं विचारि यामैं कौन बात भली है ।
मेद मज्जा मांस रग रगनि मांहि रक्त
पेट हू पिटारी सी मैं ठौर ठौर मलीहै ।।

---

[1]- संतकाव्य, पृ० ३६२ ।

हाड़नि सौंमुख मरयो हाड़ ही के नैन नाक
हाथ पांव सोऊ सब हाड़ ही की नली है ।
सुन्दर कहत यहि देखि जिनि भूले कोई ।
भीतरि भंगार भरि ऊपर तें कढ़ कली है[1] ।। २।।

इसी प्रकार वीररस के प्रसंग में युद्ध का रूपक बांधकर इन कवियों ने इन्द्रिय एवं मन तथा आन्तरिक योग साधना के सम्बन्ध में उक्तियां लिखी हैं ।

स्पष्ट है कि इन सब रसों के मूल में प्रधान भावना वैराग्य की है । उक्ति किसी भी रस से सम्बन्धित हो किन्तु उनका प्रतिपाद्य सर्वत्र वैराग्य है, केवल शृंगार अथवा वीभत्स आदि रसों की रचना कवियों को अभिप्रेत नहीं । अत: शान्तरस की सत्ता सम्पूर्ण सन्तकाव्य में निर्विवाद रूप से व्याप्त है ।

इस शान्तरस के अभिव्यक्तिकरण की दृष्टि से इन कवियों का रहस्यवाद, रूपक तथा अन्योक्तियां, प्रतीक योजना एवं उलटवासियां ह द्रष्टव्य हैं ।

रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को काव्य में प्रकाशित करने का एक माध्यम है । ज्ञान एवं भक्ति दोनों से परे है, क्योंकि ज्ञान बुद्धि के माध्यम से आध्यात्मिक ~~शक्ति~~ सत्य का निरूपण करना मात्र है और भक्ति में भावना द्वारा ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की उपासना रहती है । रहस्यवाद भक्ति की इसी पराकाष्ठा आत्मा और परमात्मा के मिलन को व्यक्त करने का एक माध्यम है । डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में " रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता ।[2]" इस प्रकार रहस्यवाद एक ऐसी अवस्था है जिसमें पहुंचकर परमात्मा के समस्त गुणों का आरोप जीवात्मा में हो जाता है । इस अवस्था में पहुंचकर अपने पृथक अस्तित्व को भूल जाती है । आत्मा और परमात्मा का ऐसा एकाकार हो जाता है कि आत्मा में परमात्मा के गुण स्पष्ट दृष्टिगत होने लगते हैं तथा परमात्मा में आत्मा के गुणों का दर्शन होने लगता है[3] ।कबीर की उलटवासियां इसी भावना पर चलती हैं ।

१- सन्त काव्य, पृ० ३६२ ।
२-कबीर का रहस्यवाद— डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६
३- [illegible]

रहस्यवादी की स्थिति को स्पष्ट करते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि रहस्यवादी की दृष्टि में अद्वैतवाद और द्वैतवाद का प्रश्न कोई विशेष महत्व नहीं रखता । अद्वैतवादी संस्कार का कवि जहां उक्त प्रकार से (जीवात्मा और परमात्मा की तादात्म्य में) एक अद्वैतवादी के समान चेष्टा करता है, वहां द्वैतवादी भावनाओं द्वारा प्रभावित कवि भी यहां अद्वैतवादी सा बन जाता है[1]। इस प्रकार रहस्यवाद की भावना के अन्तर्गत अद्वैत और द्वैत दोनों प्रकार की भावनाओं का चित्रण हो सकता है परन्तु संतकवियों की रहस्यभावना अद्वैतवाद के ही अन्तर्गत है ।

रहस्यवादी कवियों की कुछ अपनी विशेषताएं हैं । डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक 'कबीर का रहस्यवाद' में रहस्यवादी की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है[2]। यहां हम उन्हीं विशेषताओं के आधार पर इन संतों की रहस्य-वादिता पर विचार करेंगे ।

प्रेम की धारा का अबाध रूप से प्रवाहित होना रहस्यवाद की प्रथम विशेषता है । प्रेम एक ऐसी भावना है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के हृदय से है । अत: सभी प्राणी जिनमें सच्चा प्रेम है, परमात्मा के प्रति एकाग्र ध्याननिष्ठ हो सकते हैं । प्रेम का स्थान ज्ञान से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञान द्वारा परमात्व तत्व के सम्बन्ध में जाना जा सकता है किन्तु प्रेम द्वारा उसको वश में किया जा सकता है । यह प्रेम विलासिता रहित हृदय की वह उदात्त वृत्ति है, जिसके द्वारा हम अपने सांसारिक जीवन को अलौकिकता से सम्बद्ध कर लेते हैं । संत कवियों के भक्ति के स्वरूप के संबंध में हम देख चुके हैं कि उन्होंने विशुद्ध प्रेम की भावना को अत्यधिक महत्व दिया है ।

रहस्यवादी की दूसरी विशेषता के अनुसार उसमें आध्यात्मिक तत्व का होना अनिवार्य होता है । आध्यात्मिक से तात्पर्य आत्मा और परमात्मा के चिर सम्बन्ध से है । इस प्रकार के आध्यात्मिक सम्बन्ध के निर्वाह के लिए रहस्यवादी सांसारिक प्रलोभनों से ऊंचा उठकर एक ऐसे अलौकिक वातावरण में पहुंच जाता है, जहां उसके हृदय की समस्त चंचल प्रवृत्तियां शान्त हो जाती हैं और उसे परम तत्व का

१-कबीर साहित्य की परख , पृ० ११४ ।

२- कबीर रहस्यवाद, पृ० ३०

साक्षात्कार प्राप्त होता है । उस लौकोत्तर आनन्द में मग्न होकर वह सांसारिकता को बिल्कुल ही भूल जाता है तथा परमात्मा के साथ अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । ऐसी अवस्था में ही पहुंचकर कबीर कहते हैं --

राम कबीर एक भए हैं, कोउ न सकै पहचानि ।

रहस्यवाद की तीसरी विशेषता है उसका सदैव जागृत रहना । रहस्यवाद में ऐसी शक्ति का होना अनिवार्य है जिसके द्वारा रहस्यवादी साधक सदैव अपने परम तत्व की अलौकिकता झांकी देखता रहे । यदि ऐसा न हुआ तो रहस्यवादी इधर-उधर भटकते हुए ईश्वरानुभूति को स्वप्नवत् समझने लगता है । रहस्यवाद को सशक्त बनाने के लिए आवश्यक है कि रहस्यवादी में परम तत्व के प्रति तड़पन और लगन हो । वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में सदैव उसी के ध्यान में मग्न रहता है । सूफियों की भांति हाल आने पर ही परम तत्व के वियोग की पीड़ा का अनुभव उन्हें नहीं होता । संतों में परमात्मा के प्रति यह तड़प और लगन पर्याप्त है । " तड़पै बिन बालम मोर जिया " आदि पंक्तियां इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं । अनन्त की ओर केवल भावना का ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण हृदय की आकांक्षा का उस ओर आकृष्ट हो जाना रहस्यवाद की चौथी विशेषता है । इस आकर्षण में मन की चंचलता बाधक है जिसका मुख्य कारण माया है । यह आत्मा एवं परमात्मा के पवित्र मिलन में बाधा उपस्थित करती है । कबीर आदि संतों ने सहज योग साधना द्वारा माया पर विजय प्राप्त करके अपने हृदय की समस्त भावनाओं एवं आकांक्षाओं को परमतत्व के प्रति आकृष्ट करते हुए कहा है --

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मोर ।।

स्पष्ट है कि इन संतों के रहस्यवाद में सर्वत्र प्रेम का आध्यात्मिक चित्रण मिलता है । प्रेम के कारण ही उनके काव्य में अलौकिक आनन्द की सृष्टि हुई है ।

रूपक और अन्योक्तियां

रहस्यवादी संतों ने अपनी साधना को व्यक्त करने के लिए रूपक तथा अन्योक्तियों का आश्रय लिया है । ये रूपक तथा अन्योक्तियां मनोहारी और गूढ़ हैं । इनके द्वारा इन भाव की व्यंजना सरलता एवं सरसतापूर्वक की गयी है । रूपकों के माध्यम से आध्यात्मिकता ‌के अभिव्यक्तिकरण की दृष्टि से कबीर की उक्तियां

बड़ी सरल बन पड़ी है । उनके दुरूह सिद्धान्तों को सरलता से रूपक द्वारा समझा जा सकता है । कहीं वे मानव देह तथा ऊनी चादर में साम्य देखकर उसका रूपक बांधते हैं तो कहीं माया के प्रपंच से चादर में लगे हुए धब्बे तथा उसको छुड़ाने का उपाय भी बताते हैं । मैली चादर वाली आत्मा को साहब कभी नहीं अपना सकता । अतः साहब का सामीप्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि सद्गुरुरूपी धोबी ज्ञान के साबुन से चादर पर पड़ा हुआ दाग धो डाले-- माया के प्रपंच का ज्ञान से नाश कर दे --

नैहर में दाग लगाय आई चुनरी
ऊ रंगरेज बाके मरम न जाने
नहिं मिलै धुबिया कवन करै उजरी ।
तन के कुंडी ज्ञान के सउं दिन
साबुन मंह बिकाय या नगरी ।।
पहरि ओढ़ि के चली ससुरिया
गांव के लोग कहैं फूहरी ।।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बिनु सद्गुरु कबहूं नहिं सुधरी[1] ।।

कबीर ने आत्मा को 'दुलहिन' एवं परमात्मा को उसका पति मानकर इस जगत को दुलहिन का मैका माना है । जगतरूपी मैके में साधक रूपी दुलहिन को चैन नहीं मिलता । साधक रूपी दुलहिन कोई कार्य में इतनी निपुण होती है कि अपने पति की प्रेम पात्रा बन जाती है और कोई ऐसा न होने पर पति प्रेम से वंचित रह जाती है । इसी प्रकार के अन्य अनेक रूपक बांधे गए हैं ।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए अन्योक्तियों का स्थान भी महत्वपूर्ण है । शरीर के अन्दर परमात्मा का तत्व है पर माया के आवरण वश उसका दर्शन प्रत्यक्षरूप से नहीं होता । परमात्मा के वियोग से संतप्त आत्मा को कितने सरल शब्दों में चेतावनी दी गई है --

काहे री नलिनी तू कुंम्हिलानी ।
तेरे ही नालि सरोवर पानी ।।

१- कबीर का रहस्यवाद , परिशिष्ट पृ० १५९

जल में उत्पति जल में बास जल में नलिनी तोर निवास ।
न तल तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि[१] ।।
कहै कबीर जे उदकि समान, ते नहिं मुए हमारी जान ।।

यहा कवि जीवात्मा को सम्बोधित करता है कि तू दु:खी क्यों है, तेरे पास ही ब्रह्मरूपी जल फैला हुआ है । तेरा आविर्भाव उसी जल से हुआ है, तेरा निवास भी उसी जल में है । अत: तुझे दु:ख का क्या काम । कहीं तूने माया से मित्रता तो नहीं कर ली है । हे जीवात्मा यदि तू ब्रह्मरूपी जल से प्रीति कर ले तो तुझे अमर पद मिल जावेगा ।

अन्य अन्योक्तियां भी इसके सम्बन्ध में प्रस्तुत की जा सकती हैं ।

अपनी आध्यात्मिक विचारधारा के अभिव्यक्तीकरण के लिए संतों ने प्रतीक पद्धति को भी अपनाया है । मनुष्य के भावों की पूर्णाभिव्यक्ति का यह सुन्दर साधन है । गूढ़ तथ्यों के निरूपण में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जब हमारी भाषा मूक हो जाती है, उन अनुभूतियों को व्यक्त करने में हम सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं । ऐसे स्थलों पर कवि प्रतीक पद्धति का आश्रय लेता है । आत्मा एवं परमात्मा से सम्बद्ध आध्यात्मिक चिन्तन के विषय इन्द्रियगम्य न होने से अभिधा शक्ति द्वारा उनका निरूपण दुष्कर होता है, कहीं-कहीं तो लक्षणा शक्ति भी निष्फल हो जाती है । ऐसी स्थिति में कवि लौकिक स्तर के अनुभवों द्वारा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सत्यों का प्रकाशन करता है । संतों ने प्रतीकों का चुनाव जीवन में सभी क्षेत्रों में किया है । उनकी दाम्पत्य, वात्सल्य, सख्य एवं दास्य आदि भाव से सम्बन्धित उक्तियां उदाहरण स्वरूप हैं ।

उलटवांसी

आध्यात्मिक उक्तियों के अभिव्यक्तीकरण का अन्तिम साधन संतों की उलटवासियां हैं । इस प्रकार की उक्तियां अद्भुत रस प्रधान तथा चमत्कारपूर्ण हुआ करती हैं । साधना सम्बन्धी बातों को न समझ कर साधक आश्चर्यान्वित हो जाता है, पुन: जब इन उलटवासियों में निहित रहस्य को समझ पाता है, तब अपार आनन्द

१- संत काव्य, पृ० १६२ ।

में मग्न हो जाता है । उनकी उक्तियों का अनुठापन ही पाठक को अपनी ओर आकर्षित करता है । विषयानुसार उलटवासियों का विभाजन करते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी ने उन्हें पांच प्रकार का बताया है --

१- वे जिनमें सांसारिक भ्रम,प्रपंच,व्यवहार जैसे विषय आते हैं ।

२- वे जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय प्राप्त किया जाता है ।

३- वे जिनमें ज्ञान विरह,सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन का वर्णन रहता है ।

४- वे जिनमें आत्मज्ञान, माया, काल,सृष्टि एवं मन जैसे विषयों के स्वरूप का परिचय दिया गया है ।

५- वे जिनमें कबीर सर्वसाधारण को किसी न किसी रूप में अपना उपदेश देते जान पड़ते हैं ।[१]

इन संत कवियों ने सामान्य जीवन के अनुरूप ही सरल माध्यमों द्वारा दृश्यमान बातों की चर्चा के साथ ही उन गूढ़ विषयों का भी दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जिनको केवल तत्वज्ञानी ही समझ सकते हैं । संत कबीर की निम्न उलटवांसी का साधारण अर्थ लेने पर प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल तथा सांकेतिक अर्थ लेने पर कोई तात्विक सिद्धान्त अन्तर्निहित मिलता है --

सन्तों एक अचरज भौ भारी, पुत्र धरल महतारी ।।
पिता के संगे भाई हैं बावरी कन्या रहित कुमारी ।।
खसमहिं छाड़ि ससुर संग गवनी, सासुहि सावत दीन्हा ।।
ननद भतुरिज प्रप परपंच रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा ।।
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घर बारी ।।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो,पुरुष जन्म भौ नारी ।।[२]

इस पद का अभिधार्थ प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल है किन्तु सांकेतिक अर्थ लेने पर माया की कुचाल का वर्णन मिलता है । इस अर्थ इस प्रकार है-- सन्तों एक आश्चर्यजनक बात ऐसी हुई कि माता ने जीवात्मा रूपी पुत्र के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया । वह कुंवारी कन्या माया इतनी उन्मत्त हो गई कि उसने अपने पिता अर्थात् ईश्वर से स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित कर

१- कबीर साहित्य की परख, पृ० १६२।

२- बीजक, पृ० ३४ ।

नहीं, खसम (ईश्वर) को भी छोड़कर (अज्ञान) ससुर की अनुगामिनी बन गई। तत्पश्चात् माया अपने भाई (अविवेक) के साथ ससुराल (संसार) में चली आई और यहां आकर उसने सास (वंचक लोगों की वारुणी) को अपना सौत बना लिया। यह समस्त प्रपंच ननद बहिन (कुमति) का रचा हुआ है। इस सम्बन्ध में बिचार जीव को व्यर्थ ही कलंकित किया जाता है। कबीर का कहना है कि पुरुष से (जीव से) नारी (इच्छा) का आविर्भाव हुआ --

इस प्रकार उपर्युक्त उलटवांसी में माया को दुष्ट एवं घृणित रूप का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

इसी प्रकार--

समंदर लागी आगि नदियां जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रुषां चढ़ि गई॥[1]

अर्थात् समुद्र में आग लग गई (शरीर के अन्दर ज्ञान की विरहाग्नि जल उठी), नदियां जलकर भस्म हो गईं (सांसारिक सम्बन्ध नष्ट हो गए) कबीर कहते हैं कि अब जागृत होकर देख लो, मछली वृक्ष पर चढ़ गई। (मन अब ऊंची दशा को प्राप्त कर चुका है।)

सुन्दरदास की यह उलटवांसी भी देखिए --

कमल माहि परागी भया, परागी माहि भान।
भान माहि ससि मिलि गयौ, सुन्दर उलटौ ज्ञान।[2]

अर्थात् कमल रूप हृदय में पानी रूपी प्रेम का आविर्भाव हुआ और वह ही सूर्यरूपी आत्मज्ञान का आधार बना। फिर सूर्य रूपी ज्ञान द्वारा चन्द्ररूपी ब्रह्मानन्द की भी शीतलता मिल गई, फलस्वरूप अपाय सुख मिलने लगा और यही उलटा ज्ञान कहलाया।

इस प्रकार की उलटवासियां संतों की साधना से सम्बद्ध हैं। संतों की कुछ उलटवासियों को जिनमें उनकी हठयोग की साधना आदि के वर्णन हैं, समझना एक दुरूह समस्या हो गई है। ऐसी उलटवासियों को केवल अनुमान के आधार पर ही समझा जा सकता है।

१- क०ग्रं०, पृ०१२, साखी १०।
२- संत काव्य, पृ० १०२।

(ग) आलम्बन और आश्रय, उद्दीपन, अनुभाव, स्थायीभाव, दास्य, मधुर आदि की स्थिति, संचारी भाव --

संत काव्य में शान्तरस का आलम्बन परमात्मा का स्वरूप है। यह परमात्मारूप आलम्बन निर्गुण, गुणातीत, निराकार, अगम, अगोचर आदि के रूप में सर्वत्र चित्रित किया गया है। इस अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की अखण्डता को भी इन संतों ने महत्वपूर्ण बताया है। निराकार ब्रह्म का साकार रूप में व जहां वर्णन किया गया है, वहां सृष्टिकर्ता ब्रह्म-- हमारे समक्ष आलम्बन के रूप में उपस्थित होता है।

कहीं-कहीं विष्णु कृष्ण आदि अवतारों के रूप में ब्रह्म का चित्रण मिलता है वहां वही आलम्बन हो जाते हैं। संत कवियों का लक्ष्य सर्वत्र निराकार ब्रह्म की ही उपासना रहा है और वही निराकार निर्गुण आलम्बन रूप में भी चित्रित किया गया है।

संतकाव्य का आश्रय कवि स्वयं ही है। स्फुट पदों के रूप में सर्वत्र अपनी भावाभिव्यक्ति करने के कारण कविनिबद्ध पात्रों का अभाव है।

उद्दीपन

गुणातीत ब्रह्म को आलम्बन बनाने के कारण संत काव्य में आलम्बन की गुण चेष्टा आदि रूप आलम्बनगत विभावों का सर्वथा अभाव है। आलम्बनेतर विभावों के अन्तर्गत संसार की असारता, ऋषि आदि के पवित्र आश्रम, साधु संगति उपदेश आदि बताते हैं।

अनुभाव

सांसारिक विषयों की अस्थिरता देखकर उनके प्रति अरुचि का होना शान्तरस का अनुभाव है --

का मांगू कुछ थिर न रहाई
देखत नैन चल्या जग जाई ।।
इक लष पूत सवा लष नाती ता रावन घर दिया न बाती ।
लंका सा कोट समंद सी खाई ता रावन की खबरि न पाई ।।
आवत संग न जात संगाती, कहा भयो दरि बाधे हाथी ।।[१]
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी ।।

१- क०ग्रं० पद ६८ (पंचम संस्करण)

सांसारिक सम्बन्धों के प्रति उदासीनता --

कबीर यहु जग कुछ नहीं, षिन षारा षिन मींठ ।
कालि्ह जु बैठा माड़ियां, आज मसांणां दीठ[1] ।।

यौगिक क्रियाएं--

अवधू जोगी जग थैं न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी
नाद गगन मैं दुनो न देखै , चेतनि चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसण नहिं छाड़ै, पीवै महा रस मीठा ।।
परगट कथां माहै जोगी, दिल मैं दरपन जोवै ।
सहंस इकीस षटै धागा, निहचल नाकै पोवै ।।
ब्रह्म अगनि मैं काया जारै त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर,सहज सुनि ल्यौ लागै[2] ।।

मोक्ष स्वरूप का विवेचन --

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे ।
बिछुरे पंच तत की रचना, तब हम रामहिं पावहिंगे ।।
पृथ्वी का गुण पांणी सोष्या, पानी तेज मिलावहिंगे ।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि,सहज समाधि लगावहिंगे ।
जैसे बहुकंचन को भूषन, ये कहि गालि तवावहिंगे ।
ऐसे हम लोक बेद के बिछुरे, सुनिहि माहि समावहिंगे ।
जैसे जलहि तरंग तरंगनीं, ऐसें हम दिखलावहिंगे ।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे[3] ।।

१- क०ग्रं०, काल कौ अंग १५ (पंचम संस्करण)
२- वही०, पद ६६ (वही०)
३- वही पद १५० (वही०)

तत्त्वदर्शी कथन--

हम न मरैं मरिहै संसारा, हम कूं मिल्या जियावनहारा ।।
अब न मरौं मरनै मन मानां, तेई मुए जिनि राम न जानां ।।
साकत मरै संत न जीवै, भरि भरि राम रसांइन पीवै ।।
हरि मरिहैं तौ हमहूं मरिहैं, हरि न मरैं हम काहे कूं मरिहैं।
कहै कबीर मन मनहिं मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा ।।[1]

इत्यादि

संचारीभाव--

हर्ष--

दुलहनीं गावहु मंगल चार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूं, पंच तत बराती ।
रामदेव मोरै पाहुनैं आये, मैं जोबन मैं माती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहूं, ब्रह्मा वेद उचार ।
रामदेव संग भांवरि लैहूं धनि धन भाग हमार ।।
सुर तेतीसूं कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी ।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी[2] ।।

स्मरण--

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार ।
मनसा बाचा क्रमना, कबीर सुमिरण सार[3] ।।

परमानन्द-- रसपान से उत्पन्न उन्माद--

हरि रस पीया जांणिये, जे कबहू न जाइ खुमार ।[4]
मैमंता घूंमत रहै, नाहीं तन की सार ।।

१- क० ग्रं०, पद ४३ (पंचम संस्करण)

२- वही०, पद १ (वही)

३- वही० सुमिरण कौ अंग ४ (वही)

४- वही०, रस कौ अंग ४ (वही)

चिन्ता --

वे दिन कब आवैंगे माइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ ।।
हौं जानूं जे हिल मिलि खेलूं तन मन प्रान समाइ ।
या कामना करौ परिपूरन, समरथ तौ राम राइ [1] ।।

निर्वेद-- ....

जीवन थैं मरिबौ भलौ, जौ मरि जानैं कोइ ।
मरनैं पहली जे मरैं, तौ कलि अजरावर होई [2] ।।

इत्यादि ।

स्थायीभाव

संतकाव्य का स्थायीभाव तत्व ज्ञान जन्य निर्वेद है जो कि लगभग उनके प्रत्येक पद में व्याप्त होकर शान्तरस का आस्वादन कराता है । निर्वेद के अतिरिक्त किसी भाव का प्राबल्य संत काव्य में मिलना असम्भव है । कवियों की प्रत्येक उक्ति ज्ञान योग एवं भक्ति समन्वित तथा वैराग्य भावना के फलस्वरूप समुद्भूत हुई है । मधुर भाव एवं दास्य भाव से सम्बद्ध उनकी उक्तियों में भी माधुर्य भाव को महत्व न देकर वैराग्य का ही प्रतिपादन किया गया है ।

निम्नांकित पंक्तियों में निर्वेद स्थायी की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है --

रे यामें क्या मेरा तेरा ।
लाजन मरहि कहत घर मेरा ।। टेक।।
चारि पहर निसि भोरा, जैसे तरवर पंषि बसेरा ।
जैसे बनिये हाट पसारा, सब जग का सो सिरजन हारा ।।
ये ले जारे वे ले गाड़े, इनि दुखइनि दोऊ घर छाड़े ।।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह विनसि रहैगा सोई [3] ।।

१- क०ग्रं० पद ३०६(वही)

२- वही, जीवनमृतक कौ अंग ८ (वही)

३- वही, पृ० १२१ पद १०२ ।

जीवों की नश्वरता के सम्बन्ध में मलूकदास की निर्वेद भरी यह उक्ति दर्शनीय है --

अजब तमाशा देखा तेरा । ताते उदास भया मन मेरा ।।१।।
उतपति परलय नित उठि होई । जग में अमर न देखा कोई ।।२।।
माटी के पुतरे माया लाई । कोई कहै बहन कोई कहै भाई ।।३।।
झूठा नाता लोग लगावै । मन मेरे परतीति न आवै ।।४।।
जबहीं भेजे तबहिं बुलावै । हुकुम भया कोइ रहन न पावै ।।५।।
उलटत पलटत जग की अंचली । जैसे फेरे पान तमोली ।।६।।
कहत मलूक रह्यो मोहि घेरे । अब माया के जाउं न नेरे ।।७।।[१]

मधुरभाव

संत कवि अपनी साधना पद्धति के निरूपण में भारतीय विचारधारा से ही प्रभावित दीख पड़ते हैं । अत: अपने आध्यात्मिक तत्त्व की पुष्टि के लिए भारतीय विचारकों के अनुकूल मधुर भाव की उपासना को ही इन संतों ने अपनाया है तथा आत्मा से परमात्मा के मिलन का मूल कारण 'प्रेम' माना है । बिना प्रेम के आत्मा परमात्मा से मिलने की इच्छा ही नहीं करेगी । प्रेम के दोनों पक्ष संयोग तथा वियोग का कक समावेश इन कवियों ने अपनी आध्यात्मिक साधना में किया । यद्यपि संयोग तथा विप्रलम्भ-- इन दोनों ही प्रकार की प्रेमभावना सूफियों की साधना पद्धति में भी मिलती है किन्तु उसमें इन निर्गुणी संतों जैसी दाम्पत्य भावना की पवित्रता के दर्शन नहीं होते । यूं तो प्रेमभाव पिता पुत्र माता-पुत्र, मित्र-मित्र आदि अन्य सम्बन्धों द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु प्रेम की जो उत्कृष्टता दाम्पत्यभाव के अन्तर्गत वर्णित की जा सकती है वह वात्सल्य एवं सख्य के माध्यम से नहीं हो सकती । इसी से इन संतों ने सख्य और वात्सल्य की अपेक्षा माधुर्य भाव का ही अधिक वर्णन किया है । मधुर भावना के अन्तर्गत आत्मा अपने को स्त्री मान कर पुरुष रूप परमात्मा से प्रेम करती है । जब तक आत्मा को परमात्मा का संयोग नहीं प्राप्त होता वह विरहिणी के रूप में व्याकुल रहा करती है

१- संतकाव्य, पृ० ६८ ।

इस आध्यात्मिक विरह के अन्तर्गत आत्मा अपने प्रिय से मिलने के लिए विनम्र निवेदन करती है । प्रिय का निवास ऊंचे स्थान पर है जहां लज्जावश पैर ही नहीं रक्खा जा सकता । कम्प और रोमांच से अंग शिथिल हो जाते हैं । संकरा मार्ग,अटपटी चाल ये सब मिलकर मधुर-मिलन में बाधक हो रहे हैं । इस विपत्तिकाल से छुटकारा केवल सद्गुरु ही दिला सकता है । अपने प्रियतम को निर्गुण और निर्मोही जानते हुए भी आत्मा अपनी अनन्यनिष्ठावश उस 'शून्य सनेही' राम को ही अपना एकमात्र आराध्य समझती है । अतः अपने प्रिय के वियोग में व्याकुल हो जाती है और परमात्मा से वियुक्त होकर क्षण भर भी जीवित रहना दुष्कर हो जाता है --

माई मेरो प्रीतम राम बतावहु री माई ।।
हउ हरि बिनु खिनु पलु रहि न सकउ जैसे करहलु बेलि रिझाई ।।
हमरा मन बैराग बिरकतु भइउ, हरि दरसन मीत कै ताई ।।
जैसे अलि कमल बिनु रहि न सकै, तैसे मोहि हरि बिनु रहन न जाई ।। १।।
राखु सरणि जगदीसुर पिआरे, मोहि सरधा पूरि हरि गुसाई ।।
जन नानक के मनु अनंदु होत है , हरि दरसन निमिख दिखाई ।।२।।[1]

विरहिणी आत्मा अनेक प्रकार से अपने प्रियतम की याद में है, उसकी दशा विचित्र सी हो जाती है --

भइ कंत दरस बिनु बावरी ।
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की मूरख जानै आवरी ।।१।।
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि, बिसरि गयो चित चावरी ।
भोजन भवन सिंगार न भावै कुल करतुति अभाव री ।।२।।
खिन खिन उठि उठि पंथ निहारौ बार बार पछिताव री ।
नैनन अंजन नींद न लागै, लागै दिवस बिभावरी ।।३।।
देह दसा कछु कहत न आवै, जस जल ओछे नावरी ।
धरनी धनी कबहुं पिय पावौ तो सखैं अनंद बधावरी ।।४।।[2]

वह अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए अपने प्रियतम से विनम्र याचना करती है --

----

१- संत काव्य -- गुरु रामदास, पृ० २७४ ।

२- वही० -- बाबा धरनीदास, पृ०४०१ तथा पृ० ४०० ।

नैना नीभर लाया, रहट बहै तिस जाम ।

पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं कबहु मिलहुगे राम ।।[1]

कहीं वह अनन्य निष्ठा द्वारा अपने स्वामी के दर्शन की इच्छा व्यक्त करती है --

साईं तेरे कारन नैना भये बैरागी ।

तेरा सत परसन चहौं, कछु और न मांगी ।।१।।

निशु बासर तेरे नाम की, अंतर धुनि जागी ।

फेरत ही माला मनौं, अंसुवनि भरि लागी ।।२।।

पलक तजी इत उकिते, मन माया त्यागी ।

दृष्टि सदा सत सनमुखी, दरसन अनुरागी ।। ३।।

मतमाते राते मनौं   बिरहागी ।

मिलु प्रभु दलनदास के करु परम सुभागी ।।४।।[2]

यही नहीं, आत्मा की विरह की उत्कटता निम्न पद में भी दर्शनीय है --

बालहा आव हमारे गेह रे

तुम बिन दु:खिया देह रे ।

सबको कहैं तुम्हारी नारी मोको यहै अंदेह रे ।

एकमेक ह्वै सेज न सोवे, तब लग कैसा नेह रे ।

अंत न भावै नींद न आवै, ग्रिह बिन धरै न धीर रे

ज्यूं कामी को काम पियारा, ज्यूं प्यासे को नीर रे ।

है कोई ऐसा पर उपकारी, हरि से कहै सुनाइ रे[3]

ऐसे हाल कबीर भए है बिन देखे जिव जाइ रे ।

इस प्रकार की विरहाग्नि में तपकर आत्मा के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं । संत कवियों की इस प्रेम भावना में सांसारिका का समावेश नहीं हो पाया है । उनके आध्यात्मिक विरह वर्णन में परिष्कृत हृदय के पवित्र उद्गार हैं - विलासिता किंचित मात्र भी देखने को नहीं मिलती । जहां कहीं सांसारिका का

१- क०ग्रं०, पृ० ६, साखी--२४ (पंचम संस्करण)
२- संतकाव्य, संत दलनदास, पृ० ४४२ ।
३- क० ग्रं०, पृ० १६२ पद ३०७ ।
तथा देखिए-- संतकाव्य-- संतशिवनारायण, पृ० ४८३
संत सालिगराम, पृ० ५५८

वर्णन मिलता भी है वह आध्यात्मिक भावना को और निखार देता है। साधक को साध्य से मिलाने का यह प्रमुख साधन विरह ही है[1] । परमात्मा के विरह में उन्मत्त हुए साधक की दशा कुछ इस प्रकार की हो जाती है --

हँसै न बोलै उन्मनी चंचल मेल्ह्या मारि ।
कहै कबीर भीतर भिद्या सद्गुरु का हथियार ।।[2]

दाम्पत्यभाव की वियोगावस्था को स्पष्ट करने के लिए इन संतों ने प्रतीकों का आश्रय लिया है । निम्नपद में उलटवांसी द्वारा विवाह विधि के सम्पन्न होने के समय से ही वैधव्य के अनुभव का दु:ख बताया गया है । वैसे तो जीवात्मा जन्म के साथ ही परमात्मा से सम्बद्ध रहती है किन्तु उसके शरीर के त्रिगुणों से सम्बद्ध होने के कारण उसका सम्बन्ध प्रपंचों से स्थापित हो जाता है और माया-मोह के बन्धन में पड़कर जीव सुख-दु:ख का अनुभव करने लगता है । अपने वास्तविक पति परमात्मा से वियुक्त होकर प्रपंचों में ही कृत्रिम सुख का अनुभव करते हुए अपने जीवन को नष्ट कर देती है --

मैं सासने पीव गौंहनि आई । साईं संगि साध नहिं पूगी,
गयौ जोबन सुपिना की नाईं । पंच जना मिलि मंडप छायौ,
तीनि जनां मिलि लगन लिखाई । सखी-सहेली मंगल गावैं,
सुख दु:ख माथै हलद चढ़ाई । नानां रंगै भांवरि फेरी ,
गांठि जोरि बावै पतिताई । पूरि सुहाग भयौ बिन दुलह,
चौकि कै रंगि धरयौ सगौ भाई । अपने पुरिष मुख कबहूं न देख्यौ
सती होत समझी-समझाई । कहै कबीर हूं सर रचि मरिहौं,[3]
तिरौं कंत लै तूर बजाई ।।

जीवात्मा के विरह की चरमाभिव्यक्ति उस समय देखने को मिलती है, जब वह अत्यन्त प्रबल शब्दों में निरीह भाव से कह उठती है --

यहु तन जारौं मसि करौं ज्यूं धुवां जाइ सरग्गि ।[4]
मति वै राम दया करैं बरसि बुझावैं अग्गि ।।

१- कबीर हसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित ।
बिन रोया क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित ।।२७।।--क०ग्रं०पृ०६

२- क०ग्रं०, पृ० २ ।

३- वही०, पृ० १६४ पद २२६ ।

४- वही०, पृ० ६ ।

क्योंकि बिना प्रियतम के जीवात्मा तड़प रही है , उसे दिन-रात चैन नहीं मिलता अन्त में कुछ अवलम्ब न देखकर वह अपने को ही धिक्कारने लगती है कि अपने प्रिय को तो पहचान लो , संसार में भ्रमण करने से केवल मायावी प्रपंच जाल में फंसना पड़ेगा ।

संयोग पक्ष के अन्तर्गत इन संतों का अपने प्रियतम से इस बात का आग्रह रहता है कि वह उससे कभी वियुक्त होने की चेष्टा न करे क्योंकि एक बार तो संयोगवश जीवात्मा ने उसे पा लिया है अब वह प्रेमबन्धन द्वारा उनको अपने मन मन्दिर में उलझाए रखेगी । परमात्मा से मिलने के लिए उसने अनेक कठिनाइयों का सामना किया । अन्त में सद्गुरु रूपी दूतों द्वारा प्रिय के आलिंगन का सुख उसे प्राप्त हुआ । कबीर जी ने विभिन्न स्थलों पर सुन्दर रूपकों द्वारा आत्मा और परमात्मा के इस मिलन का वर्णन किया है । संत पलटू साहब ने भी इस प्रिय मिलन को बड़ी मधुरता से व्यक्त किया है --

मेरे तन मन लग गई पिय की मीठी बोल ।।
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी ।
भंवर गुफा के बीच उठत हैं सोहं बानी ।
देखा पिय का रूप रूप में जाय समानी ।
जब से भया मिलाप मिले पर ना अलगानी ।।
प्रीत पुरान रही लिया हमसे पहिचानी ।
मिली जोत में जोत सुहागिन सुरत समानी ।।
पलटू सबद के सुनत ही घूंघट डारा खोल ।
मेरे तन मन लग गई पिय की मीठी बोल ।।[1]

इस मिलन के पश्चात् लोक निन्दा आदि की परवाह नहीं रहती है[2] ।

१- संत काव्य, पृ० ५२६ ।
२- मैं बउरी मेरा राम भतारु । रचि रचि ताकउ करउ सिंगार ।।
भले निंदउ, भले निंदउ, भले निंदउ लोग ।
तनु मनु राम पिआरे जोगु ।। रहाउ ।।
बाद बिबाद काहू सिउ न कीजै । रसना राम रसाइन पीजै ।।
अब जीअ जानि ऐसी बनिआई । मिलउ गुपाल निसान बजाई ।।
उसतति निंदा करै नरु कोई । नामे स्रीरंगु भेटल सोई ।।
-- संतकाव्य, पृ० १४८
तथा देखिए, पृ०५३० पद २१ ।

निर्गुण कवियों का दाम्पत्य प्रेम सूफियों के प्रेम से भिन्न है । वह वासना रहित शुद्ध और सात्विक प्रेम है । सूफियों की प्रेम भावना में प्रेमी प्रेमिका का भाव अधिक उभर आया है - जब कि संतों के प्रेम में पति-पत्नी की सी पवित्रता है तथा इस प्रेम का उदय आध्यात्मिक विवाह के उपरान्त होता है । आध्यात्मिक विवाह के उपरान्त प्रेमिका मधुर मिलन के आनन्द का अनुभव करती है । यह मिलन प्रभु की कृपा का परिणाम है । परन्तु परमात्मा के प्रति आत्मा के प्रेम में किंचित् मात्र भी विकार यदि अवशिष्ट रह जाता है तो फिर दोनों का मिलन नहीं हो पाता । आत्मा रूपी वधू ऐसी स्थिति में उद्विग्न और विह्वल हो उठती है --

किया सिंगार मिलन के ताईं, हरि न मिले जग जीवन गुसाईं ।
हरि मेरो पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।
धनि पिय एकै संग बसेरा ,सेज एक पै मिलन दुहेरा ।
धन्न सुहागिन जो प्रिय भावै कहि कबीर फिर जनमि न आवै[1] ।

जब भक्तरूपी अभिसारिका को अपने प्रियतम की नगरी ही अच्छी लगती है , उसे "नैहर" भी अच्छा नहीं लगता । उसके प्रियतम की नगरी भी तो अद्भुत है । चांद सूर्य तो दूर रहे वहां पवन और पानी तक भी जाने को असमर्थ हैं । फिर प्रिया का संदेश वहां तक कौन पहुंचा सकता है । उससे मिलन का केवल सद्गुरु की शरण ही एकमात्र उपाय है ।

विरह द्वारा संतप्त होने पर आत्मा को उस परम ज्योति का साक्षात्कार हो जाता है । उसका प्रियतम उसे मिल जाता है और वह आनन्दविभोर हो उसी के ध्यान में मग्न हो जाती है । साधक इस मार्ग का अवलम्बन ग्रहण कर परिपूर्ण आनन्द प्राप्त करता है । संत दादू का कहना है --

दादू सुमिरण सहज का दीन्हा आप अनन्त ।
अरस परस उस एक सौं खेलै सदा बसंत[2] ।।

१- क०ग्रं०, पृ० २७७, पद ४५ ।
२- रामभक्ति में मधुर उपासना, पृ० ६६ ।

इस प्रकार मधुर भाव की साधना द्वारा अखण्डानन्द प्रिय सहज ही प्राप्त हो जाता है । संत दादू ने इस तत्व को सुन्दरता से समझाया है[१]। आनन्द की इस अवस्था में पहुंच कर आत्मा एवं परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जाता है । आत्मा परम तत्व के स्वरूप में अपने को विलीन कर देता है ।

संत काव्य में परमात्मा को एकमात्र पुरुष के रूप में तथा अन्य सभी जीवों को उसकी पत्नियों के रूप में चित्रित किया गया है[२]। परमात्म तत्व तक पहुंचने के लिए समस्त प्रयास आत्मा की ही तरफ से होते हैं । कबीर इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि --

ए अंखियां अलसानी पिया हो सेज चलो ।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै बोलै मधुरी बानी ।
फूलन सेज बिछाय जो राख्यो, पिया बिना कुम्हलानी ।
धीरे पांव धरो पलंगा पर,जागत ननद जिठानी ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो लोक लाज बिछलानी[३] ।।

इस प्रकार स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य प्रेम को लेकर इन संत कवियों ने ब्रह्म का रहस्यवादी चित्रण तथा आत्मा परमात्मा के प्रेम एवं मिलन आदि गहनतम विचारों को सरल शब्दावली में रख दिया है ।

१- पीव की प्रीति तो पाइये जो सिर होवे भाग ।
  यों तो अनत न बाउली रहसी चरननि लागि ।
   अनते मन निकरिया रे मोहि स्कै से ही काज,
   अनत गए दु:ख उपजै मोहि स्कैहि से ही राज रे ।।
   साईं सो सब्बी रमा रे और नहिं आन देव ।
   तहां मन विलम्बिया जहां अलख रे ।।
   चरन कंवल चित लाइयो रे भौंरे ही ले भाव ।
   बाच बन अंतत हैं सदवें हरि तुं आव रे ।
                -- राममक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० ६९ ।

२- पुरिष हमारा एक है हम नारी बहु अंग ।
  जे जे जैसी ताहि सौ , खेलै तिसही रंग ।।५७।। दादू
                -- संतकाव्य, पृ० ६८
३- कबीर का रहस्यवाद--परिशिष्ट,पृ०१५७ ।

सखा एवं वात्सल्य भाव

दोनों ही भावों के प्रति संत कवियों की आस्था नहीं दीख पड़ती । वात्सल्य भाव के अन्तर्गत एकाध पद देखने को मिलते हैं , जहां कवि परमात्मा को `जननी` एवं जीवात्मा को `बालक` के रूप में चित्रित करता है --

हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न अवगुण बकसहु मोरा ।
सुत अपराध करै दिन केते,
जननी के चित रहै न तेते ।।
कर गहि केस करै जो घाता,
तऊ न हेत उतारै माता ।।
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी ,
बालक दुःखी दुःखी महतारी ।।[१]

यहां बालक जीवात्मा एवं मां परमात्मा के प्रतीक हैं । मां अपनी ममता एवं वात्सल्य के कारण बालक के समस्त अपराध क्षमा कर , स्वयं कष्ट सहकर, भी पुत्र को दुःखी नहीं होने देती । इसी प्रकार परमात्मा का भी व्यवहार है । यहां पर कवि ने बालक एवं जननी के बीच द्वैत भावना दूर करके अपने अद्वैतवादी दृष्टिकोण की स्थापना की है जिन संस्कारों के कारण हम आवागमन के बन्धन में फंसते हैं, बालक के अपराध उन्हीं के प्रतीक हैं । इस प्रकार कवि की वात्सल्य भावना अन्ततोगत्वा हमें आध्यात्मिकता की ओर ले जाती है ।

दास्य भाव

माधुर्य भावना के अतिरिक्त इन कवियों में दास्य भाव की भक्ति का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है केवल दास्य भावना का चित्रण ही इन कवियों ने नहीं किया, उसके साथ ही सेवक सेव्य के बीच द्वैतता की भावना का अपने अद्वैत भाव अथवा अभेद भक्ति के साथ सामन्जस्य भी किया । इस दृष्टि से इनका महत्व बहुत अधिक है ।

१- क०ग्रं०, पृ० १२३ पद १११ ।

कबीर ने एक पद में इस स्थिति को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है । उनके अनुसार अपने मन को सेवक पूर्णरूपेण परमात्मा में लगाकर इस भेद-भाव को दूर कर सकता है सेवक और सेव्य का भेद मिटा सकता है --

> मैं गुलाम मोहिं बेंचि गुसाईं
>
> तन मन धन मेरा राम जी कैताईं ।।टेक।।
>
> आनि कबीरा हाटि उतारा
>
> सोईं ग्राहक सोईं बेचन हारा ।।
>
> बेंचै राम तौ राखै कौन
>
> राखै राम तौं बेंचै कौन ।।
>
> कहै कबीर मैं तन मन वार्या ।
>
> साहिब अपना छिन न बिसार्या [१] ।।

इस दास्य भाव में अनन्यता के साथ ही आत्मनिवेदन अथवा दैन्य भाव का भी होना आवश्यक है । संतों ने इस दैन्य भावना के आविर्भाव के लिए अहं भाव का नाश आवश्यक बतलाया है । अहं और दैन्य का पारस्परिक विरोध है । दैन्य भाव के अन्तर्गत भक्त अपने को दीन हीन तथा परमेश्वर को विराट रूप में देखता है । संत रैदास अपने दैन्य भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं--

> तुम चन्दन हम इरंड बापुरे, संगि तुमारे बासा ।
>
> नीच रूख ते ऊंच भये हैं, गंध सुगंध निवासा ।।१।।
>
> माधउ सतसंगति सरनि तुम्हारी ।
>
> हम अवगुन तुम उपकारी ।।रहाउ।।
>
> तुम मखतूल सुपेद सपीअल, हम बपुरे जस कीरा ।
>
> सत संगति मिलि रही भो माधउ जैसे मधुप मखीरा ।।२।।
>
> जाती ओछा पाती ओछा ओछा जनमु हमारा ।
>
> राजाराम की सेव न कीन्हीं, कहि रविदास चमारा [२] ।।३।।

१- क०ग्रं०, पृ०१२४ पद ११३

२- संत काव्य, पृ० २२१ ।

नाथ कछु न जानउ मन मारउ जा के हाथ बिकानउ ।।
तुम कहियत है जगतगुर सुआमी । हम कहीअत कलिजुग के कामी ।।
इन पंचन मेरो मनु जु बिगारिउ । पलु पलु हरिजी ते अंतरु पारिउ ।
जत देखउ तत दुख की रासी । अजौं न पत्याइ निगम भए साखी ।।
गौतम नारि उमापति स्वामी । सीसु धरनि सहस भगगामी ।।
इन दूतन खलु बधु करि मारिउ । बड़ो निलाजु अजहूं नहिं हारिउ ।।
कहि रविदास कहा कैसे कीजै । बिनु रघुनाथ सरनि काकी लीजै ।।[1]

इसी प्रकार अन्य अनेक उक्तियों द्वारा साधक अपनी असमर्थता तथा तुच्छता का प्रतिपादन करता हुआ अपने स्वामी से कभी माया के बन्धन नष्ट करने के लिए, कभी कभी अविरल भक्ति प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता है । वह कभी भक्ति मार्ग में बाधक चंचल मन को वश में करने के सम्बन्ध में कहता है । अपने परमेश्वर के समक्ष भक्त स्वयं के नीच से नीच कोटि का बताने में भी नहीं सकुचाता--

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउं ।
तौ तौ करै तो बाहुडौं दुरि दुरि करै तो जाउं ।।१४।।
ज्यूं हरि राखै त्यूं रहौं, जो देवै सो ष खाउं ।।१५।।[2]

\+ \+ \+

कबीर चेरा संत का दासनि का परदास ।
कबीर ऐसे ह्वै रहत, ज्यूं पाऊं तलिघास ।।
रोड़ा ह्वै रहो बाट का तजि पाखण्ड अभिमान ।[3]
ऐसा जे जन ह्वै रहे, ताहि मिलै भगवान ।।

१- संत काव्य, पृ०२२४ तथा पृ०४६७ कुंडलिया १ अंतिम दो पंक्तियां ।
२- क०ग्रं०, पृ० २० तथा दोहा १७, दोहा ८०६ पृ० ८६
३- वही०, पृ० ६५ दोहा १३,१४ तथा दोहा ४० पृ० ७१ ।

इस दास्य भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता 'भगवत्कैंकर्य' है । इसी कारण इस भक्ति के अन्तर्गत आत्मनिवेदन[1], दैन्य आदि भावों की अभिव्यक्ति को महत्त्व दिया गया है । संत कवि बाह्याडम्बर के विरोधी होने के कारण दास्य भक्ति के लिए उपयोगी बाह्य पूजा तथा अर्चना आदि को अधिक महत्त्व नहीं देते । इसी कारण कीर्तन, वन्दन आदि को सगुण भक्तों की भाँति भक्ति के लिए आवश्यक नहीं माना है । कीर्तन आदि का वे निराकरण नहीं करते केवल उनके मनःस्मरण को ही प्रधानता देते हैं, बाह्य रूप को नहीं । इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा के दर्शन करने के कारण मूर्ति पूजा का भी उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है उनके अनुसार तो बाह्याचारों से साधक के मन की भ्रान्ति और अधिक बढ़ती है ।

इस दास्य भक्ति के लिए आवश्यक तत्त्व हैं अहं भाव का नाश[2], अपने को केवल राम का सेवक समझना तथा तन मन धन से उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना स्तुति, निन्दा, मानापमान, लोहा कंचन आदि सभी में समान भाव रखना, तथा काम, क्रोध, लोभ आदि का परित्याग कर देना तथा त्रिगुणात्मिका प्रकृति से पृथक रहता हुआ तृष्णा, मोह आदि के परित्याग पूर्वक मन को केवल परमात्मा के चरणों में ही लगाए । यही साधक की सच्ची दास्य भक्ति है ।

इस भक्ति की अंतिम बड़ी विशेषता आत्मदोषानुसंधान है । पूजा आदि के प्रति आस्था न रखता हुआ भी दास्य भक्त आत्मगत दोषों से पूर्णरूपेण अभिज्ञ रहता है --

---

१- नरहरि चंचल है मति मोरी । कैसे भगति करूं मैं तोरी ।।टेक।।
तू मोहि देखै हौं तोहि देखूं प्रीति परस्पर होई ।
तू मोहि देखै तोहि न देखूं, यह मति सब बुधि खोई ।।१।।
सब घट अंतरमसि निरन्तर मैं देखन नहिं जाना ।
गुन सब तोर मोर सब औगुन कृत उपकार न माना ।।२।।
मैं तैं तोरि मोरि असमुझि सों, कैसे करि निस्तारा ।
कह रैदास कृष्ण करुनामय, जै जै जगत अधारा ।।३।।
--संत काव्य, पृ०२१६ तथा पृ०२१७ पद१२, पृ०२२० पद ५ ।

२- जब हम होते तब तू नाहीं अब तू ही मैं नाहीं ।
अनल अगम जैसे लहरि मइओदधि, जल केवल जल मांही ।।
संतकाव्य, पृ०२१८ ।

गोविन्द हम ऐसे अपराधी ।
बिनु प्रभु जीव पिण्ड का दीया तिनकी भाव भगति नहिं साधी ।।
+ + + +
पर धन पर तन पर तिय निन्दा पर अपवाद न छूटै ।
आवागमन होत हैं पुनि पुनि वहु पर संग न छूटै ।।
जिहि घर कथा होत हरि संतन इक निमिष न कीनों फेरा ।
लम्पट चोर धुत मतवारे तिन संगि सदा बसेरा ।।
काम क्रोध माया मद मत्सर ए सैन्या मो माहीं ।
दया, धर्म औ गुरु की सेवा ये सुपने हरि नाही ।।[1]
दीन दयालु कृपालु दमोदर भगति बछल भौ हारी ।
कहत कबीर भीर जनि राखहुं हरि सेवा करौं तुम्हारी ।।

कहीं साधक अपनी चंचल बुद्धि को भक्ति में बाधक बताकर अपने निस्तार का उपाय पूछता है --

नरहरि चंचल है मति मेरी । कैसे भगति करुं मैं तेरी ।।
तू मोहिं देखै हौं तोहि देखूं, प्रीति परस्पर होई ।
तू मोहिं देखै तोहिं न देखूं यहि मति सब बुधि खोई ।।१।।
सब घट अन्तरयामि निरन्तर मैं देखन नहिं जाना ।
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना ।।२।।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सो कैसे करि निस्तारा ।
कह रैदास कृस्न करुनामय, जै जै जगत अधारा ।।३।।[2]

शान्तरस की दृष्टि से संत काव्य में दास्य एवं मधुर दोनों ही भावों का महत्वपूर्ण स्थान है । दास्य भक्ति द्वारा साधक चित्त शुद्धि को प्राप्त करता है तथा मधुर भक्ति के माध्यम से वह निर्गुण एवं निराकार सत्ता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होता है ।

१- क०ग्रं० , पृ०२७६ पद ५० ।
२- संत काव्य, पृ० २१६ ।

(घ) निष्कर्ष -- मूल्यांकन

शुद्ध शान्तरस की अभिव्यक्ति की दृष्टि से मध्य युगीन काव्यधारा में संत साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है । शान्तरस के विशद एवं व्यापक चित्रण इस काव्य में देखने को मिलते हैं । विभिन्न कुरीतियों, बाह्याडम्बरों एवं कुसंस्कारों से कलुषित मानव चित्तवृत्तियों के शोधनार्थ इन कवियों ने विभिन्न प्रयत्न किए। कभी साधारण उपदेश के रूप में तथा कभी कटु आलोचना द्वारा । प्रेम, ज्ञान, ध्यान एवं भक्ति साधना के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किए । अपनी साधनापद्धति में योग चर्चा को स्थान देते हुए कहीं भी इन संतों ने केवल अद्भुत यौगिक क्रियाओं को महत्व नहीं दिया, उनका योग 'सहजयोग' है । व्यक्ति संसार में रहकर अपने कर्तव्यों को करता हुआ भी उनसे विरक्त रह सकता है तथा आत्म तत्व का दर्शन कर सकता है -- यही संतकाव्य का प्रतिपाद्य है । अतः सम्पूर्ण संत काव्य में शान्तरस विरहित चित्रणों की कल्पना ही नहीं की जा सकती, उसका प्रत्येक पद शान्तरस का आस्वादन कराता है ।

अध्याय --७

-०-

सूफी काव्य में शान्तरस

अध्याय --७

सूफी काव्य में शान्तरस

(क) सामान्य प्रकृति, भक्ति का स्वरूप--इहलौकिक और धार्मिक का मिश्रण

भक्ति आन्दोलन के क्षेत्र में निर्गुणी संतों के पश्चात् सूफी संतों का परिचय हमें प्राप्त होता है, जिनकी धर्मप्रक्रिया की पृष्ठभूमि स्वरूप हमें एक ओर नाथपंथियों तथा दूसरी ओर संतों की धार्मिक विचारधारा मिलती है। नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ ने अपनी साधना में अद्वैतवाद और योग साधना का समन्वय किया। इनकी साधना प्रधानरूप से धर्मप्रधान साधना थी जिसमें गुरु की कृपा से सहज समाधि की स्थिति को प्राप्त करना साधक का चरम लक्ष्य निर्धारित किया गया। इनके अनुसार निराकार ब्रह्म की प्राप्ति ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान केन्द्रित करने तथा सच्चे मन से परमात्मा का स्मरण करने से सम्भव है। इसी ब्रह्म की प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। निर्गुणी संतों ने धार्मिक एवं सामाजिक कुप्रवृत्तियों के प्रति तीव्र विरोधभाव रखने के कारण बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए हठ योग तथा भक्ति के माध्यम से निर्गुण निराकारोपासना को महत्व दिया।

अपने पूर्ववर्ती कवियों की आध्यात्मिक एवं धार्मिक समस्याओं के प्रति सूफियों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। अतः तत्कालीन धार्मिक विकृतियों की प्रतिक्रिया के रूप में इन कवियों के काव्य का प्रणयन हुआ। किन्तु ये अपनी साधना में न तो संतों की भांति केवल बाह्याचार के खण्डन में लगे रहे और न इन्होंने नाथपंथियों की भांति केवल योगमूलक साधना को महत्व दिया।

उन्होंने अपनी धर्मप्रियता को एक नवीन रूप में उपस्थित किया । प्रेम और ज्ञान की साधना द्वारा अपनी धार्मिकता को सामान्य जनता के लिए ग्राह्य बनाने की उन्होंने श्लाघनीय चेष्टा की । जीव के परमात्मा तक पहुंचने में बाधा स्वरूप मानव कुप्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त्यर्थ इन कवियों ने प्रेम और विरह का मार्ग निर्दिष्ट किया । इस साधना में वैराग्य भावना तथा योग साधना का भी प्रभाव लक्षित होता है किन्तु उनके प्रति सूफियों का अधिक झुकाव नहीं है । उन्होंने अपनी साधना में केवल प्रेम को महत्त्व दिया --वैराग्य आदि में दृढ़त्व केवल प्रेम के कारण ही सम्भव है । सूफियों की स्थापना के अनुसार प्रेमस्वरूप परमात्मा केवल प्रेम द्वारा ही प्राप्य है ।

यह प्रेम स्वरूप ब्रह्म निर्गुणी संतों की भांति सूफियों की दृष्टि में भी एक है । यह परम सत्ता समस्त जगत में व्याप्त होकर भी विभिन्न सांसारिक संबंधों से परे, अलख,अरूप एवं वर्णनातीत है । दृश्यमान जगत उसी की कृति है । कवि जायसी निम्न पंक्तियों में परमात्म स्वरूप का चित्रण करते हुए कहते हैं कि --

अलख अरूप अबरन सो करता । वह सब सों सब ओहिसों बरता ।
परगट गुपुत सो सरब बियापी । धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी ।
ना ओहि पूत न पिता न माता । ना ओहि कुटुम्ब न कोई संग नाता ।
जना न काहु न कोई ओहं जना । जंह लगि सब ताकर सिरजना ।
ओई सब कीन्ह जहां लगि कोई । वह न कीन्ह काहु कर होई ।
हुत पहिलेहुं और अब है सोई । पुनि सो रहइ रहइ नहिं कोई ।
बउर जो होइ सो बाउर अंधा । दिन दुइ चारि मरइ करि धंधा ।
जो ओइं चहा सा कीन्हेसि करइ जो चाहइ कीन्ह ।
बरजन हार न कोई सबइ चहइ जिउ दीन्ह ।।[1]

यही ब्रह्म सृष्टिकर्ता, पालक एवं संहर्ता भी है[2] । परम सत्ता के कर्ता स्वरूप का उल्लेख तथा उसकी अद्भुत शक्ति का वर्णन लगभग सभी कवियों ने किया है । जायसी ने इस ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की चर्चा करते हुए परमात्मा को विरोधी

१- जायसी ग्रन्थावली, पृ० १२४ ।

२- वही० अखरावट, पृ० ६५५ ।

तुम्ह करता बड़ सिरजन हारा । हरता धरता सब संसारा ।

तत्वों का समाहार कहा है[1]। निर्गुण और निराकार होते हुए भी उनका ब्रह्म शक्ति शील और सौन्दर्य से समन्वित है। यह ब्रह्म एक होकर भी अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है। तीनों लोकों में कहीं गुप्त तथा कहीं प्रकट रूप से वही व्याप्त है। अन्य कोई इस संसार में न उत्पन्न हुआ है और न होगा। समस्त सृष्टि उसी का प्रतिबिम्ब है। इस ब्रह्म के केवलत्व की चर्चा लगभग सभी सूफियों ने की है। वह केवल एक अकेला है, अन्य किसी वस्तु की स्थिति नहीं[2]। उसका स्वरूप गुप्त से भी गुप्त और शून्य से भी शून्य है। इस सारे सृष्टि रूपी पाखण्ड के मूल में वही है[3]। इस नाम रूपात्मक जगत में उसी का प्रसार है रंक एवं नरेश उसी के रूप हैं। आत्मा में ही परमात्मा का निवास है अत: उसके स्वरूप को समझकर ही उसको प्राप्त किया जा सकता है। कवि मंझन के शब्दों में --

जब लहि बिछु जिय जीवन सारा । आजु देखि तोहि जीउ संभारा ।
देखत खिन पहिचाना तोही । उहै रूप जेइ छंदरा मोही ।
उहै रूप तब अहेउ छिपाना । उहै रूप जब सिस्टि समाना ।
उहै रूप सकती औ सीऊ । उहै रूप त्रिभुवन कर जीऊ ।
उहै रूप परगट बहु भेसा । उहै रूप जग रंक नरेसा ।
उहै रूप त्रिभुवन जग घेर से महिमयाल आगाम ।
सोइ रूप परगट मैं देखा तुम्ह मां के पास ।।
उहै रूप परगट बहुरूपा । उहै रूप बहु भानु अनूपा ।
उहै रूप सब नैनन्ह जोती । उहै रूप सब सायर मोती ।
उहै रूप सब फुलन्ह बासा । उहै रूप रस भंवर बेरासा ।
उहै रूप ससिहर औ सूरा । उहै रूप जग पुरि अपूरा ।
उहै रूप अंत आदि निदाना । उहै रूप धरिवर सो धियाना ।
उहै रूप जलधर औ महियर भानु अनेग देखाउ ।
आप गंवाई जो रे कोई देखै सो किछु देखै पाउ ।।[4]

१- जायसी ग्रन्थावली, पृ० १२५-८
२- एक अकेल न दूसर जाती । उपजै सहस अठारह भांती ।
— अखरावट- जायसी ग्रं०, पृ०६५३ ।
३- अखरावट जा०ग्रं०, पृ० ६५३-८ ।
४- मधु मालती, पृ० ९९-१००

इस परमात्मा को ज्योति स्वरूप मानकर सर्वत्र उसी ज्योति का प्रकाश दिखाया गया है[1]।

जायसी के अनुसार भी परमसत्ता सब के अन्तर्गत है किन्तु सरोवर में पड़ी परछाई की भांति उसको प्राप्त करना कठिन है। परम सत्ता और सृष्टि में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव सूफियों को मान्य है। परमसत्ता एक है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब सर्वत्र पड़ता है। सूफियों के अनुसार स्वलीला विस्तारहेतु तथा स्वयं को देखने की इच्छा से माया द्वारा ब्रह्म ने अपने को व्यक्त कर दिया। यह जगत दर्पण की भांति है। परमात्मा दृष्टि और द्रष्टा दोनों ही है। सारा जड़ चेतन जगत उसका स्वरूप होने पर भी माया वश पृथक ज्ञात होता है जैसे बालक हाथ में दर्पण लेकर अपनी ही परछाई को देखकर अज्ञानवश उसे दूसरा समझता है। अतः यह सर्वव्यापी परमात्मा हमारी आत्मा में भी निवास करता है, अपने स्वरूप को समझ कर उसको प्राप्त किया जा सकता है --

आपुहि आप जो देखै चहा । आपुनि प्रभुता आपु सौं कहा ।
सबै जगत दरपन कै लेखा । आपुहि दरपन आपुहि देखा ।।
दरपन बालक हाथ मुख देखै दूसर गने ।
तस भा दुइ एक साथ मुहमद एकै जानिये ।।
गगरी सहस पचास जौ कोउ पानी भरि धरै ।
सुरुज दिपै आकास मुहमद सब मंह देखिए[2] ।।

सूफी सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा एवं जीव में कोई अन्तर नहीं[3]। जीव ईश्वर का अंश है। प्रारम्भ में वे दोनों एक ही थे किन्तु माया के कारण उनका बिछोह हो गया और वह शरीर रूपी पिंजर में बंद हो गया। यह शरीर पिंजर भी परमात्मा निर्मित है। जीव उसको ईश्वरार्पित कर पुनः परमात्मा में मिल जाता है।

१- वही० ज्योति प्रगट सब ठांव । दीपक सृष्टि मुहम्मद नांव ।।
-- मधु मालती, पृ० ५ ।
१० तथा जायसी ग्रं०, पृ० १६१-१०७ की अंतिम ६ पंक्तियां ।
२- अखरावट-- जा०ग्रं०पृ० ६६०,६७२,६७१
तथा मधुमालती, पृ० ६८ ।
३- ~~एक-बहै-दूसर-कोउ-नाहीं~~ । जेहि मोहि न उपज्यो दुःख तोरा,
तोर दुःख बति संतापी मोरा ।
-- मधुमालती, पृ० ३६ ।

अद्वैतवाद के समर्थक सूफियों ने आत्मा एवं परमात्मा की एकता के साथ ही परमात्मा तथा जगत की एकता का भी प्रतिपादन किया है[१]।

आत्मा, परमात्मा, पृथ्वी, गगन पहले एक थे, किन्तु बाद में उस परम सत्ता से पृथक होकर संसार का प्रत्येक कण उससे मिलने के व्याकुल हो रहा है-- सारा संसार उसी के विरह से पीड़ित है।

सूरज चन्द्र तराइन, बासुक चन्द्र कुबेर।
प्रेम दुक्ख सम रोई, धरती गगन सुमेर।
कमल गुलाल भये रतनारे, फूल सबहि तन काप फारे।
देख अनार हिया भरि आना, नीबू तरु निज डार पियराना
तेलु आगि लाहि सिर रहा। केलैं बदन दु:ख सम्पत कहा।
जामुन मई डार दु:ख कारी। कटहर, पीहर कांट के सारी।
एक रोम बन घुंघुची, रही जो राती होय।[२]
मुंह काला कै बन गई। जग जाने सब कोय।

सूफी साधक सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही परम तत्व को प्रतिबिम्बित देखते हैं। सूफी साधना का परम लक्ष्य परमात्म स्वरूप में विलीन होने में है। इस साधना मार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक की चार अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है --

(१) शरीअत -- अर्थात् धर्मग्रन्थों का तथाकथित ढंग से पालन।

(२) तरीकत -- बाह्य क्रियाओं से विमुख होकर शुद्ध हृदय से परमात्मा का ध्यान।

(३) हकीकत -- उपासना द्वारा साधक को परमात्मा का ज्ञान और उसके फलस्वरूप साधक का तत्व दृष्टि सम्पन्न होना।

(४) मारफत -- यह सिद्धावस्था का द्योतक है जिसमें साधक की आत्मा कठिन उपवास आदि के द्वारा परमात्मा में लीन होने की क्षमता प्राप्त कर लेती है।[३]

१- एक अहै दूसर कोइ नाहीं। तेहि सब सृष्टि कन मूल बाही।।
तेसों समुद लहर में तोरी। तें रवि में जग किरन अंजोरी।।
--मधुमालती, पृ०९८

२- मधु मालती, पृ०१८५-१८६।

३- कही सरीयत चिस्ती पीरु। उधरित असरफ औ जहंगीरु।
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई।
पाहि के खेवक नेक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला।
राह हकीकत पेर न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़की।

सूफी कवि हृदय की पवित्रता पर अधिक ध्यान देते थे अत: इन्होंने संतों की भांति कर्मकाण्डों का कहीं भी विरोध नहीं किया है । शरीयत के प्रथम अंग नमाज़ का उल्लेख जायसी ने किया है[1] । साधना की प्रथमावस्था शरीयत पर पैर रक्खे बिना कोई साधक आगे अग्रसर नहीं हो सकता । विभिन्न विधि-विधानों का सम्यक् पालनपूर्वक साधक गुरु द्वारा ज्ञान ग्रहण करने योग्य हो जाता है । गुरु ही उसे परमात्मा के प्रेम के प्रति सजग करता है और वह पुन: उसी परम सत्ता के प्रेम के लिए व्याकुल हो उठता है । इसके उपरान्त तरीकत की अवस्था में प्रविष्ट होता हुआ साधक अहंभावना के परित्यागपूर्वक इन्द्रियों द्वारा परमात्मा तक पहुंचने का प्रयास करता है । इस अवस्था में आत्म संयम और आत्मशुद्धि की अत्यधिक आवश्यकता है । प्राय: सभी प्रेम काव्यों का नायक रूपी साधक नायिका रूपी परमात्मा की प्राप्ति के लिए उपवास आदि के द्वारा शारीरिक कष्टों पर विजय प्राप्त करता हुआ समस्त ऐश्वर्य सुखों की ओर से विरक्त हो जाता है । आत्मसंयम द्वारा सांसारिकता से विमुख हुआ साधक ईश्वर के प्रेम में निमग्न हो जाता है -- निरन्तर उसी का चिन्तन करता है । इन दोनों अवस्थाओं के पश्चात् साधक हकीकत की अवस्था में पहुंचता है जहां परमात्म तत्त्व की अनुभूति उसको होती है । यही मारिफ़त की अवस्था है । इस मारिफ़त की अवस्था प्राप्ति के लिए कहीं-कहीं सूफियों ने ईश्वरीय कृपा को ही केवल प्रधानता दी है । केवल भगवत्कृपा का अवलम्बन लेने वाला साधक 'हाल' कहलाता है । 'हाल' में साधक की अवस्था कुछ इस प्रकार की हो जाती है --

कथा जो परम तत्त्व मन लावा, घूम माति सुनि और न भावा ।
जस मद पिए घूम कोइ, नाद सुने पै घूम ।
तेहिते बरजे नीक हैं, चढ़े रहसि कै दूम ।।[2]

सूफियों ने नासूत (नरलोक) मलूक्त (देवलोक), जबरूत (ऐश्वर्य लोक) एवं लाहूत (माधुर्य लोक) इन चारों को स्वीकार करते हुए साधक को इन्हीं लोकों में विराम

१- न नमाज़ है दीन कथूनी । पढ़ै नमाज़ सोइ बड़ गुनी ।। वही०
२- जा० ग्रं०, पृ०५७८ । परिशिष्ट ।

करता हुआ परम सत्ता में लीन होता दिखाया गया है । शरीअत का पालन करके साधक का हृदय तरीकत का पालन करके मलकूत, मारिफ़त द्वारा जबरूत और हकीकत द्वारा लाहूत में लीन हो जाता है । सूफ़ी साधना की यही पराकाष्ठा है ।

सूफ़ी कवियों ने संतों की भांति अपनी साधना-पद्धति में मानसी साधना को विशेष महत्त्व दिया है । साधक को समस्त लोक व्यवहार सम्पादित करते हुए केवल हृदय में ही उस परम सत्ता का ध्यान करना चाहिए । गुप्त साधना का आश्रय लेकर साधक अपना लक्ष्य प्राप्ति कर सकता है अन्यथा बाह्याडम्बर को महत्त्व देने पर उसकी साधना अधूरी रह जायगी -- वह पथभ्रष्ट हो जायगा । आराध्य के नाम का स्मरण भी सूफ़ी साधना का एक आवश्यक अंग है[1] । प्रत्येक सूफ़ी आख्यानों में नायक नायिका रूपी परमात्मा के सौन्दर्य गुणों से प्रभावित होकर सदैव उनका ही ध्यान एवं स्मरण करता हुआ दिखलाई देता है । साधक की इसी साधना के फलस्वरूप परमात्मा में भी उसके प्रति प्रेम जाग्रत होता है । पद्मावत में पद्मावती रूपी परमात्मा साधक रत्नसेन के वियोग में व्याकुल दिखलाई गई है --

पद्मावती तेरि जोग संयोग । परी प्रेम बस गहे वियोग[2] ।।

इस साधना के अन्तर्गत नाम स्मरण के साथ ही गुरु की महिमा[3] भी विशेष रूप से सम्पादित की गई है । इसकी सिद्धि में सफलता प्राप्ति के निमित्त गुरु की आवश्यकता पड़ती है । गुरु[4] अथवा पीर के आश्रय एवं उनकी कृपा से ही साधक प्रेम मार्ग में अग्रसर होता है ।

दान महिमा आदि एवं अन्य सांसारिक प्रलोभनों के परित्याग को भी सूफ़ियों ने साधना में आवश्यक बताया है । योग की भावना को भी इन साधकों ने पर्याप्त महत्त्व दिया है । लगभग प्रत्येक सूफ़ी काव्य का नायक अपनी लक्ष्य प्राप्ति के लिए योगी का वेश धारण करता है । मधु मालती में नायक मनोहर मधुमालती के वियोग से व्याकुल होकर खप्पर, दण्ड, मेखला, मृगछाला, पांवरी, कंथा आदि धारण करता है । शरीर में भस्म लगाकर जटाएं बढ़ाता है । इसी प्रकार की

१- सूफ़ी काव्य संग्रह, पृ० २५७-२५८ ।
२- जा०ग्रं०, पृ०२३३, १६८ की प्रथम पंक्ति ।
३- पंथ नाहिं पुनि पंथ सों, ताहि देस निज पंथ ।
बिनु गुरु कोउ न जानई, जौ पुनि पढ़ै गरंथ ।।२।।
चित्रावली ६६८ सूफ़ी काव्य संग्रह, पृ०१४८
४- गुरु बिरह चिनगी मैं मेला । जो सुलगाइ लेइ सो चेला ।
-- जा० ग्रं०, पृ०२०५ ।

वेशभूषा पद्मावत में राजा रत्नसेन तथा चित्रावली में नायक कुंवर सुजान धारण करता है ।

मंझन ने इस योग साधना के अन्तर्गत 'अनहद नाद' का भी उल्लेख किया है । कुंवर मनोहर मधुमालती के दर्शन के लिए गोरखनाथ के उपदिष्ट मार्ग को ग्रहण करता है । मधुमालती के दर्शन की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण सहज ही अनहद नाद ध्वनित होने लगता है --

दरसन त्याग मेल सम कीन्हेसि मधु गोरखन जा जागि ।
कर दरसन त्यों ले उपराजी, सहज अनाहद कंकरी बाजी ।।[1]

इन प्रेमाख्यानों में नायिका रूपी परमात्मा का निवास स्थान 'कैलास' या 'कबिलास' बताया गया है । नायिका की प्राप्ति ही साधक का एकमात्र लक्ष्य है । अतः साधक सदैव कैलास या कबिलास में पहुंचने के लिए प्रयत्नशील बना रहता है । यह भावना हठयोग के अनुकूल है । हठयोग साधना में साधक का उद्देश्य उद्बुद्ध कुण्डलिनी को सहस्रार तक पहुंचाना रहता है । सहसार ही इस पिण्ड का 'कैलास' है तथा शिव का निवास स्थल है । अतः हठयोग का कैलास एवं सूफी नायिका का निवास स्थल कैलास दोनों एक ही है --

बाजन बाजे कोटि पचासा, भा आनंद सगरौं कैलासा ।
सात खण्ड ऊपर कबिलासू, तहवां नारि सेज सुख बासू ।।[2]

हठयोग के अतिरिक्त अष्टांग योग साधना को भी इन्होंने महत्व दिया है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारण तथा समाधि का अंग-प्रत्यंग पूर्वक विवेचना इनके काव्य में मिलता है ।

हठयोग की साधना का वर्णन करने पर भी इन कवियों की अधिक आस्था उनमें न थी । उनके अनुसार केवल हठयौगिक क्रियाओं द्वारा परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता है । उसकी प्राप्ति के लिए आत्म साक्षात्कार आवश्यक है । इस दुरूह योग साधना के में प्रेम का समावेश इन कवियों की सबसे बड़ी विशेषता है । ब्रह्म की प्राप्ति में प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान है । परमात्मा

१- मधु मालती, पृ०१४५ ।

२- जा० ग्रं०, पृ० ३०७ तथा पृ० ३१८ ।

हृदय में ही निवास करता है किन्तु फिर भी साधक वहां तक न पहुंचकर उसके विरह में व्याकुल रहता है । एक बार उस दैवी प्रेम से अनुप्राणित हो जाने पर साधक को उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं रुचता[१]। वह अपनी सुध बुध खो बैठता है[२]। मधुर होने पर भी इस प्रेम की प्राप्ति बड़ी कठिन है । इसके लिए पूर्णात्मसमर्पण आत्मानुभूति, त्याग एवं एकनिष्ठा तथा वासनाहीनता अत्यावश्यक है । इस प्रकार की प्रेम साधना में संलग्न हुआ साधक सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अन्त में अपने आराध्य में ही लीन हो जाता है । अद्वैतता की इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह भौतिक बन्धनों एवं मरों से विमुक्त हो जाता है --

न जनहु करा भृंग के होई । न जनहु अवदि जिऊं मरि सोई ।।[३]

साधना की इस चरम अवस्था में साधक साध्य और साध्य साधक हो जाता है --

भोग तुम्हार मिला ओहि जाई । जो ओहि विकासो तुम्हं कंह आई ।।
तुम ओहि के घटवह तुम्ह माहा । काल कहां पावै वह छाहां ।।[४]

यही नहीं, साध्य साधक होने के लिए तड़पती है --

काढ़ी प्रान बैठी लेइ हाथा । मरै तौ मरौं जिऔं एक साथा ।।[५]

और साधक के भी रोम रोम से आराध्य की ही ध्वनि निकलती है --

औ संवरौं पदमावती रामा । यह जिउ नेवछावरि जेहि नामा ।।
रकत क बुंद कया जस अहहीं । पदमावति पदमावति कहहीं ।।
रहै तो बुंद बुंद मंह ठाऊं । परैतो सोई लेइ लेइ नाऊं ।।
रोंव रोंव तन तासौं ओधा । सूतहि सूत बेधि जिउ सोधा ।।
हाड़हि हाड़ सबद सो होई । नस नस मांह उठै धुनि सोई ।।[६]

१- तीनि लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहि सूझि ।
 पेम छांड़ि नहिं लोग किछु जो देखा मन बूझि ।।जा०ग्रं०,पृ०१८४

२- प्रेम छुरा जेहि केहिय माहीं । किति बैठे महुवा के छांहा ।। जा० ग्रं०,पृ०२२४

३- जा० ग्रं०, पृ०२७५ ।

४- वही०, पृ० २६३ ।

५- वही० ११३(रामचन्द्र शुक्ल)

६- वही०, पृ० २६६

साधना के इस मार्ग में अग्रसर होने में काम, क्रोध, तिष्णा, मद, माया--ये अन्तराय बाधक होते हैं पर साधक इनसे चलायमान नहीं होता, वह अपने जीवन का मोह तक त्याग देता है ।

सूफ़ियों ने अपनी प्रेम व्यंजना का माध्यम साधारण नामक नायिका को बनाया है तथा उनके द्वारा लौकिक एवं अलौकिक प्रेम का चित्रण साथ ही साथ किया है । उनका साधारण प्रेम परम प्रेम की ओर संकेत करता है । सारी सृष्टि ही उस अलौकिक सत्ता से मिलने के लिए व्यग्र दिखलाई पड़ती है । अत: लौकिक पात्रों द्वारा लौकिक चित्रण करते हुए भी इन कवियों ने अपने काव्य में अलौकिकता का समावेश किया-- यही इनका वैशिष्ट्य है ।

उसमान कृत चित्रावली में सुल्तान आबिद चन्द्रकला के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है, उसके मन में यह आशंका उठती है कि जब मनुष्य जो कि परमात्मा का प्रतिबिम्ब है--- इतना अधिक सुन्दर है तो मनुष्य का सृजन करने वाले उस परमसत्ता का रूप कितना सुन्दर होगा -- यही विचार उसे व्याकुल कर देता है और सब कुछ छोड़कर वह परम वियोगी बन जाता है । लौकिक प्रेम द्वारा साधक में अलौकिक प्रेम का उन्मेष होता है । कवि उसमान रूप, प्रेम और विरह इन्हीं तीन तत्वों को सृष्टि का मूल माना है ।

सूफियों के इस प्रेम का उदय अधिकतर चित्रदर्शन, गुणश्रवण, स्वप्नदर्शन अथवा साक्षात् दर्शन के अनन्तर होता है तत्पश्चात् प्रेमी और प्रेमिका मिलने का प्रयास करते हैं । सभी नायक रूप गुण आदि के प्रत्यक्षदर्शन अथवा श्रवण द्वारा परमात्मारूपी नायिका की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठते हैं और अन्त में योगी बन जाते हैं । इस प्रकार की कथाओं में पद्मावत , अनुराग बांसुरी, हंस जवाहर आदि आते हैं । चित्रदर्शन के अनन्तर उत्पन्न होने वाली कथाओं में `चित्रावली` तथा स्वप्नदर्शन के अनन्तर होने वाली प्रेम कथाओं में इन्द्रावती, प्रेम दर्पण, कनकावती आदि उल्लेखनीय हैं । इन्हीं उपायों में से किसी एक का अवलम्बन लेकर एकनिष्ठ हुआ साधक अपनी साधना के मार्ग में अग्रसर होता है । इस एकनिष्ठ साधक को केवल प्रिय प्राप्ति की ही अभिलाषा रहती है --उसके लिए वह समस्त विघ्न-बाधाओं को सहन करता हुआ, उनके द्वारा किंचित भी विचलित नहीं होता । इन्द्रावती में राजकुंवर, पद्मावत में रत्नसेन इसी प्रकार के एकनिष्ठ साधक किए गए

चित्रित किए गए हैं । पद्मावत में रत्नसेन कहता है --

नाहीं सरग क चाहौं राजू, ना मोहि नरक सेवति किछु काजू ।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा, जेइ मोहि आनि प्रेम पथ लावा ।।[1]

एक बार हृदय में प्रेमानुभूति हो जाने पर वह निरन्तर ही बढ़ती रहती है । यह प्रेम मार्ग प्रारम्भ में सुखद किन्तु विरह भावना से उद्दीप्त होने पर उतना ही कष्टसाध्य हो जाता है । किन्तु प्रेमाभिवृद्धि के साथ ही साथ विभिन्न प्रकार के अन्तरायों का सामना साधक के लिए सहज हो जाता है ।

किन्तु इस प्रेम-भावना का आविर्भाव किसी भाग्यवान् के हृदय में होता है । जिस प्रकार से प्रत्येक मेघ की बूंद मोती नहीं बन पाती, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम और विरह की ज्योति नहीं प्रकट होती । वास्तव में जो व्यक्ति अपना शीष उतार कर हाथ में लेने में समर्थ होता है, वही इस प्रेम मार्ग का साधक बन सकता है ।

प्रथमहि सीस हाथ केलिये, पाछे यह मारग पग दिये ।।[2]

कवि उसमान भी इस सम्बन्ध में कहते हैं --

रूप नगर अति आह सोहावा । जेहि फिरि भाग सो देखै पावा ।
अतिहि डेरावन अतिहि सो ऊंचा । कोटि मांह कोउ एक पहुंचा ।
बहुतन कीन जोगि कर भेसा । चले छांड़ि घर-मन ओहि देसा ।[3]

और आगे भी इस प्रकार कहते हैं --

आगे पंथ चले पै सोई । जाके संग कछु और न होई ।
डारै कथा चक्र बंधारी । करै मया जिय काया सारी ।
ऐसन जिय जेहि लोभ न होई । रूप नगर मगु देखै सोई ।
हेरत तहां पंथ नहिं पावा । हेरत चहै जो आपु हेरावा ।
पथिक तहां जो आइ भुलाना । बिमल पथ तेही पहिचाना ।आदि[4] ।

१- जा० ग्रं०, पृ०

२- मधु मालती, पृ० ७८

३- चित्रावली-- सूफी काव्य, पृ०१४८

४- वही०

सूफियों ने लौक-प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यंजना करते हुए स्वतंत्र प्रेम की सांसारिकता को परित्याज्य बताया है किन्तु प्रेम स्वत: उपेक्षणीय नहीं । सृष्टि के समस्त पदार्थ उस अलौकिक सत्ता से मिलने के लिए रूप रस गन्ध का विस्तार करते हैं । --

फुला ताओं मालति फूला, मधुकर आइ बास रस भूला ।
निर्मल दरपन होइ रहा, वह प्रगट संसार ।
तामें मुख करतार को, देखत निरखन हार ।

इसी परमात्मा के सौन्दर्य को सूफी कवि सम्पूर्ण जगत में अभिव्यक्त देखते हैं । सूर्य,चन्द्र आदि सभी उस परमात्म ज्योति से ज्योतित हैं --

एही रूप प्रगट बहु भेसा , एही रूप जग रंक नरेसा ।
एही रूप त्रिभुवन पर, अली महि पाताल प्रकास ।
सोई रूप प्रगट तंह, मानहीं देख्यौ कहां हवास ।
एही रूप प्रगट बहुरूपा, एही रूप जेहि भाव अनूपा ।
एही रूप सब नैनन जोती, एही रूप सब सागर मोती।
एही रूप सब फुलन्ह बासा, एही रूप रस भवर बरासा । [1]

\+ \+ \+

जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति जोति ओहि भई ।
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती ।
जहं जहं विहंसि सुभावहि हंसी , तंह तंह छिटकि जोति परगसी [2] ।

सूफियों ने अपनी प्रेमोपासना के लिए मानवीय प्रेम का आध्यात्मीकरण उपस्थित किया है । जीव स्वभावत: अनेक उपाधियों से युक्त है । वह जगत में नि:सीम परम सत्ता को व्याप्त देखकर मानव सौन्दर्य के आधार पर उस अलौकिक सौन्दर्य का अनुमान करता हुआ, उसकी प्राप्ति के लिए व्यग्र हो उठता है । इन कवियों ने सौन्दर्य को अपने आध्यात्मिक तत्त्व के प्राप्त्यर्थ साधन रूप में चित्रित किया है ।

१- मधु मालती, पृ० ९९-१००

२- जा०ग्रं०, पृ० १९१

इसी कारण उन्होंने नायिका को परमात्मा को सर्वत्र सौन्दर्य युक्त दिखाया है। परमात्मा के प्रति मनुष्य की भावनाओं के उन्मुख हो जाने से उनका कालुष्य दूर हो जाता है। सूफियों की प्रेममूलक उपासना पद्धति में साधक परमात्मा को रमणी रूप में देखते हुए सदैव उसके सौन्दर्य पर आसक्त रहता हुआ उसका साहचर्य पाने के लिए प्रयास करता है। उसका प्रेम स्थूल से सूक्ष्म और वासनामय से शुद्ध सात्विक मनोवृत्ति की ओर अग्रसरित होता है। इसी कारण सूफियों में इश्क मज़ाजी (लौकिक प्रेम) को इश्क हकीकी (ईश्वरीय प्रेम) की पहली सीढ़ी माना गया है। सूफियों का ईश्वर कल्पना का विषय न होकर साक्षात् माना गया है। उसको मनुष्य अपने धर्म चक्षुओं से देख सकता है। सूफी कवि `सच्चिदानन्द` के सत् चित् की अपेक्षा `सुन्दर` अथवा `आनन्दमय` पक्ष की ही आराधना करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म के सौन्दर्य का प्रतिरूप है। प्रतिरूप के इतना सुन्दर होने से उसके मूल का सुन्दरतम होना स्वत: सिद्ध ही है। अत: उस अलौकिक सौन्दर्य की आराधना के लिए लौकिक प्रेम की अनिवार्यता है। सूफियों ने सम्भोग विलास को अपनी साधना का लक्ष्य न मान कर केवल साधन रूप में स्वीकार किया है। इन कवियों ने भौतिकता का चित्रण करते हुए अपनी धार्मिक भावनाओं को उनमें सन्निहित कर दिया है।

इस प्रकार अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अभिव्यक्तीकरण के लिए सूफियों ने प्रचलित लोक कथाओं का आधार ग्रहण किया। आचार्य शुक्ल के अनुसार हिन्दी में इसी अरबी-फारसी के प्रेमाख्यान काव्य की परम्परा को ग्रहण किया गया है। किन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ये लौकिक कथाओं के माध्यम से धर्मोपदेश देने वाले बौद्ध, ब्राह्मण और जैन ग्रन्थों के परवर्ती हैं। प्रेमाख्यानक काव्य वस्तुत: इसी परम्परा पर आंशिक रूप से लिखे गए प्रतीत होते हैं। प्राकृत एवं अपभ्रंश के अनेक ऐसे संग्रह हैं जिनमें कथा के माध्यम से धार्मिक उपदेश दिए गए हैं। पुष्पदन्त, पद्मकीर्ति, धनपाल आदि अनेक कवियों ने ऐसे चरित काव्यों की रचना की है जिनका प्रधान लक्ष्य अपने धर्मों का प्रचार था। इन सूफियों का वैशिष्ट्य इसमें है कि इन्होंने अपनी कथा में दोहरे अर्थों का समावेश किया जिसका प्राकृत और अपभ्रंश में अभाव है। उन्होंने जगत के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति का चित्रण किया। सूफी कवि समस्त प्रकृति में अपने प्रियतम की अलौकिक छाया देखते हैं अत: अलौकिकता के प्रतिपादनार्थ जगत के रूप एवं उसके क्रिया-कलापों का

चित्रण उनके लिए आवश्यक हो गया । प्रत्येक सूफी आख्यान में राजकुमार तथा राजकुमारी के प्रणय का चित्रण है । संक्षेप में नायक नायिका के माता-पिता का सन्तानाभाव, विभिन्न उपचारों द्वारा सन्तान प्राप्ति, प्रेम काप्रादुर्भाव, नायक के प्रेम मार्ग में सहायक गुरु अथवा तोता आदि का वर्णन, नायिका का नख-शिख वर्णन, नायक-नायिका के प्रेम की तीव्रता, नायिका की प्राप्ति में नायक के मार्ग में पड़ने वाले विघ्न तथा अन्त में नायक की विजय एवं पाणिग्रहण का वर्णन मिलता है । सम्पूर्ण मानव जीवन के चित्र को ये प्रेमाख्यान हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं । ईश्वर इस सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है अत: पार्थिव सौन्दर्य के माध्यम से हम परमात्मा के स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं । इसके लिए हृदय की कोमल भावना प्रेम का आश्रय इन कवियों ने लिया और प्रेममय जीवन को ही आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति का साधन बनाया ।

प्रत्येक कथा के नायक में सामान्य प्रेम कथाओं की भांति ही चित्र दर्शन गुण श्रवण अथवा साक्षात् दर्शन आदि के अनन्तर नायिका के प्रति प्रेम भावना जाग्रत होती है । इस प्रेम मार्ग में अग्रसर होने पर नायक को विभिन्न अन्तरायों का सामना करना पड़ता है । युद्धों में नायक की सफलता दुर्गों आदि पर विजय दिखाकर कवि साधक की समस्त शारीरिक और मानसिक वृत्तियों पर विजय दिखाना चाहता है । भयंकर तूफानी समुद्र , निर्जन वन, पर्वत आदि की चर्चा इस प्रसंग में मिलती है । ये प्रेम मार्ग की बाधाएं ही साधक के आध्यात्मिक मार्ग के अन्तराय हैं । चित्रावली में विषयात्मक अन्तरायों को `पुरों` की संज्ञा दी गई है । साधक का कर्तव्य है कि वह इन `पुरों` को सावधानी से उनके प्रति आकृष्ट न होता हुआ पार करे तभी अपनी साधना में वह सफल होगा । इस सम्बन्ध में प्रथम नगर `भोगपुर` का वर्णन है जो समस्त विषयगत सामग्रियों से सुसज्जित है । शरीयत के नियमों का पालन करने वाला ही इसके आकर्षण से बच सकता है । दूसरा नगर `गोरखपुर` बाह्याडम्बर का प्रतीक है । बाह्य वेश भूषा आदि के परित्यागपूर्वक विशुद्ध हृदय साधक इसको पार कर सकता है । इन दोनों के प्रति अनाकृष्ट होता हुआ साधक `नगर` को त्याग कर `नेहनगर` में और उसके उपरान्त `रूपनगर` में प्रविष्ट होता है । `रूपनगर` परम सौन्दर्यशाली परमात्मा का प्रतीक है, जहां पहुंचकर साधक अपनी पृथक सत्ता को भूल जाता है --

एहि मग केरि करै जो गाधा । चलत निचिंत न होइ पल आधा ।
चाहै चरन चुभै जो कांटा । चलै जाइ मारग नहिं छांटा ।

... ...

जो कोउ जान न चार बिचारा । बीचहिं मारि लेहिं बटमारा ।

चारि देस बिच पंथ सौं, अब सुनु राजकुमार ।
बेगर बेगर बरन गुन,अस कछु तंह बेवहार ।।[1]

प्रथम भोगपुर मग्र सोहावा । भोग बिलास पाउ जहं काया ।
आगे गोरखपुर भल देसू । निबहै सोइ जो गोरख बेसू ।
एही भेष सिद्ध बहु अहहीं । एही भेष कै बहुत ठग रहहीं ।
एही भेष सो बहुत ठग आए। एही भेष सो बहुत ठगाए ।

जो भुले एहि भेष जग, भुले न तेहि हिय आछ ।
आगे चलै न तहं रहै, वह फिर आवै पाछ ।।

जो कोउ आगे चाहै चला । परगट देह भेष सो रला ।
मैं अंतर सब जानै पंथा ।भेष पल्याइ सोइ जग अंथा ।
आगे नेह नगर भल देसू । रांक होइ जंह जानु नरेसू ।।[2]
आगे पैंथ चलै पै सोई । जाके संग कछु और न होई ।
डारै कंथा चक्र पंथारी । करै मया जिय काया सारी ।
ऐसन जिय जेहि लोग न होई। रूप नगर मगु देखै सोई ।
हेरत तहां पंथ नहिं पावा । हेरत बहै जो आपु हेरावा ।[3]
पथिक तहां जो जाइ भुलाना।बिमल पथ तेही पछिताना ।

इसी प्रकार 'इन्द्रावती' में भी साधक के मार्ग के अन्तराल रूप में मायस्वरूप वनों का वर्णन मिलता है । सामान्य जीवन में जैसे गुरु के आदेश से प्रेमी नायक अपने मार्ग में सफल होता है वैसे ही ज्ञानी गुरु की आज्ञा पालन से साधक अपनी साधना मार्ग में सफल है ।

१- चित्रावली -- सूफी काव्य संग्रह, पृ० १४५

२- वही०, पृ० १४६-१४७ ।

३- वही०, पृ० १४८ ।

सूफियों का ध्येय केवल लौकिक ही नहीं था, यह इस बात से अभिव्यक्त है कि काव्य का नायक परमात्मारूपी नायिका को प्राप्त करके केवल सामान्य पुरुषों की भांति भोगविलास में ही संलग्न नहीं रहता, वह पुन: अपने कर्तव्य में संलग्न हो जाता है ।

सूफी प्रेमाख्यानों के नायक तथा नायिका दोनों ही राज परिवार से सम्बद्ध होकर भी जन-साधारण की ही भांति व्यवहार करते हैं । उनका विरह-वर्णन तथा प्रेम-क्रीड़ा का दिव्य रूप कवियों ने उपस्थित किया है । नायक अपनी विरह-व्यथा के उपशमनार्थ न तो राजसी वातावरण का आश्रय लेता है और न नायिका को ही अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए राजसी भोग विलासों का प्रदर्शन करता है । वह अपना सर्वस्व परित्याग करके नायिका की प्राप्ति करता है । केवल लौकिकता को प्रश्रय देने पर उसमें राजसी वातावरण का आ जाना स्वाभाविक होता है । प्रेम कथाओं का नायक अपने सांसारिक सम्बन्धों के प्रति तटस्थ रहता है । प्रत्येक कथा की नायक-नायिका अपने माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों के प्रति कोई सन्देह नहीं रखते, कभी-कभी उनकी बात भी नहीं मानते । पारिवारिक बन्धनों के प्रति कवियों की यह विरक्ति तथा नायिका के प्रति अनुरक्ति नि:संदिग्ध रूप से सामान्य प्रेम से ऊपर की अवस्था है ।

इस विवाह की चरम परिणति कबीर आदि की भांति सूफियों में भी आध्यात्मिक विवाह के रूप में दृष्टिगत होती है । यद्यपि इसमें भौतिकता का समावेश पर्याप्त किया गया है । पद्मावत में वर्णित रत्नसेन तथा पद्मावती का विवाह सामान्य स्त्री-पुरुषों के विवाह सदृश है किन्तु जब कवि इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि इस विवाह को प्रेरणा गन्धर्वसेन को शिवलोक से मिली तो शिव की प्रेरणा होने से यह विवाह धर्म सम्मत ही कहा जायगा । इसी प्रकार विवाह-वर्णन के अवसर पर विभिन्न साज-सज्जा का उल्लेख है किन्तु पति-पत्नी के गांठ जोड़ने के समय कवि कहता है कि वह गांठ इतनी दृढ़ है कि दोनों जगत में भी नहीं खुल सकती तथा अन्त में कवि कहता है कि -- पद्मावती और रत्नसेन का मिलन चांद और सूर्य का मिलना है, दोनों निर्मल हैं, दोनों का संयोग अनुपम है ।

चांद सुरुज दुहौ निरमल, दुहौ संजोग अनूप ।
सुरुज चांद सौं भूला, चांद सुरुज के रूप[1] ।।

१- जा० ग्रं०, पृ० ३१४

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है-- सूफियों में सौन्दर्यप्रियता की मात्रा बहुत अधिक है। कहीं-कहीं उस पर अतिशयोक्ति का भी आरोप किया जा सकता है किन्तु जब कवि नायिका के सौन्दर्य -प्रतिपादन में --

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर शरीर।
हंसत जो देखा हंस या, दसन जोति मग हीर ।।[१]

आदि य उक्ति कहता है तो उसका सम्बन्ध अलौकिकता से हो जाता है। इस सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर ही साधक के हृदय में प्रेम का अंकुर फूटता है और वह अपने आराध्य पर मुग्ध हो जाता है। किन्तु यह प्रेम मर्यादित है, इसमें वासनात्मकता का अभाव है। लोक व्यवहार को महत्व देते हुए इन कवियों ने नायक का एक ही नायिका के प्रति प्रेम चित्रित किया है, अन्यों के प्रति नायक पराङ्मुख ही रहता है। मंझन कृत मधु मालती में-- मधुकर प्रेमा को 'बहन' कहकर ही सम्बोधित करता है। नायक-नायिका का सम्बन्ध भी परिष्कृत रूप से पाणिग्रहण के पश्चात् सम्पन्न होता है। पति-पत्नी के प्रति निःस्वार्थ एवं सात्विक प्रणय की भावना रखते हुए अपने अस्तित्व को उसी में मिला देता है[२]।

इस प्रकार सूफी काव्य में साध्य एवं साधक दोनों ही सामान्य मानव के रूप में चित्रित किए गए हैं। आराध्य एवं आराधक के दाम्पत्य रूप चित्रण द्वारा कवियों ने अपनी साधना को आकर्षक रूप प्रदान किया है। इस मानवीय सौन्दर्य के आधार पर चित्रित किए गए अलौकिक प्रेम का जब एक बार उदय हो जाता है तो फिर मनुष्य की संसार के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है और वह सदैव के लिए अपने को परमात्मस्वरूप में विलीन कर देता है।

(ख) मुख्य रस शान्त, अन्य रस अंग रूप -- आधार -- वैराग्य

लौकिक एवं अलौकिक दोनों पक्षों का समन्वय करके इन कवियों ने शान्तरस का प्रयोग एक नवीन दिशा में किया। सामान्यतः इन प्रेमाख्यानों में राजकुमार

१- जा०ग्रं०, पृ० १६३।
२- यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहं पांव ।।
-- जा०ग्रं०, पृ० ३६०।

एवं राजकुमारी का प्रणय-वर्णन चित्रित किया गया है । इसी दृष्टि से प्रायः सभी सूफी प्रेमाख्यान शृंगार रस प्रधान हैं । साथ ही वीर एवं करुण रस का भी समावेश किया गया है । नायिका की प्राप्ति के लिए लगभग सभी कथाओं में नायक द्वारा किए गए युद्ध-वर्णनों में वीर रस तथा विरह आदि के वर्णन करुण रस के अन्तर्गत आते हैं । किन्तु इन सब के मूल में कवि की वैराग्य प्रवृत्ति ही प्रधान है । कवि युद्ध का वर्णन केवल इसलिए नहीं करता कि वह अपने नायक का वीरत्व प्रतिपादित करना चाहता है । युद्ध आदि के विवरण द्वारा और संकेत करते हैं कि साधक को अपनी साधना मार्ग में चलने के लिए कितने कष्टों का सामना करना पड़ता है । उसके मार्ग में आने वाली बाधाएं साधक के मार्ग में आने वाले विभिन्न ~~अन्तरायों~~ अन्तरायों के सूचक हैं ।

शृंगार रस का तो सूफी काव्यों में व्यापक रूप से प्रयोग मिलता है । उसके संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का कवियों ने चित्रण किया है । कहीं-कहीं इस चित्रण में स्थूलता भी आ गई है किन्तु कवियों का यह शृंगार सर्वत्र अध्यात्म भावना पर ही आधारित है । शृंगार के संयोग-वर्णन के अन्तर्गत कवि का लक्ष्य सामान्य नायक-नायिका का मिलन न होकर आत्मा एवं परमात्मा का मिलन अंकित करना रहता है । निम्न पंक्तियों को देखने से कवि का संयोग वर्णन लांछना की वस्तु नहीं रह जाता --

करि सिंगार तापंह का जाऊं । ओही देखहुं ठांवहि ठाऊं ।
जौं जिउ मैं तौ उहै पियारा । तन मन सौं नहिं होइ निवारा ।।
नैन मांह है उठै समाना । देखौं तऊं नाहिं कोउ आना ।।[१]

इस मिलन से आत्मा और परमात्मा के मिलने की रहस्यात्मकता का बोध होता है --

उठि दोउ गहि अंकन लागे, ओटे जिमि दोउ सोन सुहागे ।
प्रेम बिछोह जाहि दिन, दुहुं मिल दूजी आस ।
तीन्ह लोक बयावरा, महि पाताल अकास ।।[२]

१- जा०ग्रं० , पृ० १४३ (रामचन्द्र शुक्ल)

२- मधु मालती, पृ० २८६

कबीर धुसरी ने इस प्रकार की रहस्यात्मकता का बहुत अधिक चित्रण किया है --

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन, चल तेरे पी ने बुलाई ।
बहुत खेल खेली सखियन सों, अंत करी लरकाई ।
न्हाय धोय के बस्तर पहिरे, सब ही सिंगार बनाई ।
बिदा करन को कुटुम्ब सब आये, सिगरे लोग लगाई ।
चार कहारन डोली उठाई, संग पुरोहित नाई ।।
चले ही बनेगी होत कहाँ है, नैनन नीर बहाई ।।

... ...

'धुसरी' चलो ससुरारी सजनी, संग नहीं कोई जाई ।।

तथा -- सुरत रैन सोहाग की, जागी पी के संग ।
तन मारे मन पिउ को, दोउ भये एक रंग ।।[1]

'अनुराग बांसुरी' में अन्तःकरण और सर्वमंगला का मिलन इसी आध्यात्मिकता की ओर लक्ष्य करता है --

कहाँ जाउ मैं लगी झरोखे । दरसन भएउ परसपर चोखे ।
दिस्टि परेउ बैरागी सूरति। चित हरेउ अनुरागी सूरति ।
पुछा कहा यह कुंवर सनेही । है बैराग भेस माँ एही ।
सुन्दर दरसन चित समाना । भएउ सुखी सुम रंग पहिचाना ।
आपुहिं हेरत हौं घट माहीं। तेहि पावत हौं आपुहि नाहीं ।
आपु हेराइ गई मैं कैसे । जल के बीच बताशा जैसे ।[2]

संयोग शृंगार के अन्तर्गत कवि समस्त उपकरणों का चित्रण करता है । यद्यपि इन समस्त स्थलों का अर्थ अध्यात्मपरक नहीं किया जा सकता किन्तु कवि का लक्ष्य सदैव वही रहता है ।

शृंगार रस के दूसरे पक्ष वियोग का वर्णन सूफी प्रेमाख्यानों में अतिविस्तार पूर्वक किया गया है। क्योंकि आध्यात्मिक प्रेम में विरह का प्रधान स्थान है । विरह

१- कबीर धुसरी -- सूफी काव्य संग्रह, पृ० २२४-२२५ ।

२- अनुराग बांसुरी -- सूफी काव्य संग्रह, पृ० १९६ ।

द्वारा ही साधक के प्रेम की परीक्षा होती है । साथ ही विरह के कारण प्रेम में विचित्र प्रकार की मधुरिमा का बोध होता है । प्रत्यक्ष रूप में किया गया नायक नायिका का वर्णन आध्यात्मिकता की व्यंजना करता है । यह विरह प्रेम का सार है । प्रेम का अस्तित्व ही विरह के कारण है । विरह की अलौकिकता को महत्व देते हुए कवियों ने उसमें आत्मानुभूति आवश्यक बतलाया है ।

प्रेम घाव दुःख जान न कोई । जेहि लागै जानै पै सोई[1] ।।

आध्यात्मिक विरह से तड़पते जीवन की दशा इस प्रकार की होती है --

निहचै प्रेम-पीर यह जागा । कसे कसौटी कंचन लागा ।।
बदन पियर जल उमकहिं नैना। परगट दुवौ प्रेम के बैना ।।[2]

विरह की तीव्रता का वर्णन करते हुए बुल्लेशाह कहते हैं --

कद मिलसी मैं बिरह सताई नूं ।
आप न आवे न लिख भैजे, भट्ठि अजेही लाई नूं ।
तैं जेहा कोई होर न जाया, मैं तनि सूल सवाई नूं ।।१।।
रात दिनें आराम न मैनूं , खावे बिरह कसाई नूं ।
बुल्लेशाह ध्रुग जीवन मेरा, जौंलग दरस दिखाई नूं ।।२।।[3]

इस प्रकार शृंगार आदि रसों के चित्रण में कवि का लक्ष्य आध्यात्मिकता की ओर ही रहता है । सूफी साधकों की सांसारिकता के प्रति आसक्ति में सर्वत्र उनकी वैराग्य भावना विद्यमान है ।

(ग) आलम्बन और आश्रय,उद्दीपन,अनुभाव, स्थायी भाव,दास्य, मधुर आदि की स्थिति, संचारी भाव

आलम्बन

सूफी काव्य में शान्त रस का आलम्बन नायिका रूपी परमात्मा है । सभी सूफी कवियों ने अपने आराधक के रूप में परमात्मा का नायिका रूपमें चित्रण किया है

१- जा०ग्रं०,पृ० ४६
२- वही०, पृ० २६२
३- सूफी काव्य संग्रह, पृ० २४२ ।

ये नायिकाएं विराट ब्रह्म के प्रतीक हैं । कविगण समस्त विश्व में उनके सौन्दर्य की प्रतिच्छाया देखते हैं । सूफी काव्य में यह नायिका प्रत्यक्ष रूप से श्रृंगार की आलम्बन दीख पड़ती है किन्तु अप्रत्यक्ष और सांकेतिक रूप में यह सर्वत्र ब्रह्म का प्रतीक होने से शान्तरस के आलम्बन विभाव का काम करती है । इस आलम्बन रूप नायिका में परमात्मा की समस्त विशेषताएं सन्निविष्ट हैं जिनकी चर्चा ब्रह्म निरूपण प्रसंगमें हुई है । इस प्रकार पद्मावत में 'पद्मावती' तथा 'मधुमालती' ,'चित्रावली', इन्द्रावती आदि नायिकाएं आलम्बन विभाव के अन्तर्गत हैं । इन कवियों ने अपने आलम्बन विभाव के चित्रण में परमात्मा के प्रेम पक्ष को ही अत्यधिक महत्त्व दिया है ।

कुछ फुटकल सूफी काव्य में जहां केवल सर्वव्यापी परमात्मा की ही स्तुति मिलती है, वहां शुद्ध, अजर-अमर ब्रह्म ही आलम्बन विभाव का काम करता है । उदाहरणार्थ यारी साहब के निम्न भजन में परमात्मा का विभावत्व है --

हमारे एक अलह पिय प्यारा है ।।१।।
घट घट नूर मुहम्मद साहब, जाका सकल पसारा है ।।२।।
चौदह तबक जाकी रुसनाई,झिलमिल जोति सितारा है।।३।।
बे नमून बेचून अकेला, हिन्दू तुरुक से न्यारा है ।।४।।
सोइ दरवेस दरस जिन पायो, सोई मुसलम सारा है ।।५।।
आवै न जाइ मरै नहिं जीवै , यारी यार हमारा है ।।६।।[१]

आश्रय

सूफी काव्य का आश्रय परमात्मा से वियुक्त हुआ एवं उसके विरह में व्याकुल जीव है । सूफी काव्य का श्रृंगार रस का आलम्बन नायक शान्तरस की दृष्टि से आश्रय हो जाता है । रत्नसेन, मनोहर, सुजान आदि प्रेमाख्यानों में आश्रय रूप से निबद्ध है ।

जहां केवल विशुद्ध रूप से परमात्म चिन्तन की प्रवृत्ति है वहां स्वयं कवि ही आश्रय है ।

१- सूफी काव्य संग्रह, पृ० २३७ ।

उद्दीपन विभाव

आलम्बनगत उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आलम्बन का सौन्दर्य एवं प्रसाधन आते हैं । सूफी कवि परमात्मा के सौन्दर्यमय रूप के उपासक थे, अतः उसके सौन्दर्य-वर्णन में इन कवियों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है -- सौन्दर्य के लिए आवश्यक प्रसाधन-- साज सज्जा, केश-विन्यास आदि का चित्रण इन कवियों ने किया है । यह सौन्दर्य एवं प्रसाधन नायिका रूपी परमात्मा की अलौकिकता को व्यंजित करता है । उदाहरणस्वरूप जायसी का निम्न दोहा है --

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर शरीर ।
हसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नग हीर[१] ।।

नायिका के नख-शिख का वर्णन भी आलम्बनगत उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है । आलम्बनेतर उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत निम्न चित्रण मिलते हैं --

संसार की असारता

संसार की सारी वस्तुएं मिथ्या एवं अस्तित्वहीन हैं , केवल एक परमात्मा ही सत्य है । संसार का सौन्दर्य बाह्य एवं नश्वर है-- दुनिया धोखे की टट्टी है --

यह पैठ अजब है दुनिया की, औ क्या क्या जिन्स इकट्ठी है ।
याँ माल किसी का मीठा है, औ चीज़ किसी की खट्टी है ।।
कुछ पकता है कुछ भुनता है, पकवान मिठाई पट्टी है ।
जब देखा खूब तो आखिर को, नै चूल्हा भाड़ न भट्टी है ।।
गुल शोर बबूला आग हवा, औ कीचड़ पानी मिट्टी है ।
हम देख चुके इस दुनिया को, यह धोखे की सी टट्टी है ।।१[२]।।

जीवन की नश्वरता

जीवन की नश्वरता का सभी सूफी कवियों ने चित्रण किया है । जीवन-स्वप्न सदृश आधे पल का है अतः इसकी क्या आशा की जाय --

---

१- जा० ग्रं०, पृ०१६३

२- नज़ीर -- सूफी काव्य संग्रह, पृ० २४७

क्या जीपर बोझ उठाता है, इन गोनों भारी भारी के ।
जब मौत का डेरा आन पड़ा, फिर दोनों हैं ब्योपारी के ।
क्या साज जड़ाऊं पुर ज़ेवर, क्या गोटे थान किनारी के ।
क्या घोड़े ज़ीन सुनहरी के, क्या हाथी लाल हमारी के ।।[1]
सब ठाट पड़ा रह जायगा, जब लाद चलेगा बंजारा ।।

प्रकृति वर्णन

परमात्मा के विराट स्वरूप को जब कवि प्रकृति में व्याप्त देखता है तो उस समय प्रकृति भी उद्दीपन का कार्य करती है । पद्मावती वेणी खोलकर बालों को भाड़ती है तो स्वर्ग और पाताल तक में अंधेरा हो जाता है --

केसी छोरि झारु जौं बारा । सरग पतार होइ अंधियारा ।।[2]

इसी प्रकार -- बिरह के आगि सूर जरि कांपा । रातिहिं दिवस जरै ओहि तापा ।।
खिनहि सरग खिन जाइ पतारा । थिर न रहै एहि आगि अपारा ।।[3]

इनके अतिरिक्त जहां प्रकृति के माध्यम से गूढ़ आध्यात्मिक सिद्धान्तों की व्यंजना हुई है वे प्रकृति वर्णन भी उद्दीपन के अन्तर्गत हैं --

देखि एक कौतुक हौं रहा । रहा अंतर पट, पैनहिं अहा ।।
सरवर देख एक मैं सोई । रहा पानि पै पान न होई ।।
सरग आइ धरती मंह छावा । रहा धरति पै धरत न आवा ।।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि अपनी विचित्र रहस्यानुभूति का वर्णन करता है । कवि की प्रकृति-वर्णन से सम्बद्ध पंक्तियां यह सूचित करती हैं कि साधक तथा साध्य में परमार्थत: कोई भेद नहीं है, भेद का कारण भ्रान्ति है । कवि ऐसे सरोवर को देखता है जिसमें पानी होने पर भी उसका पान सम्भव नहीं अर्थात् हृदय में परमात्मा रूपी जल के रहने पर भी भ्रान्तिवश साधक उसका साक्षात्कार नहीं कर पाता ।

१- नज़ीर -- सूफी काव्य संग्रह, पृ०२४६
२- जा०ग्रं०, पृ०१८५
३- जा०ग्रं०, पृ० २४२
४- जा०ग्रं०, पृ० ५०२

स्वर्गरूप परमात्मा जीवात्मा की पृथ्वी के पास ही रहता है, भ्रम के निराकरण के साथ ही साध्य और साधक का भेद मिट जाता है।

चेतावनी

सूफी कवियों की कुछ उक्तियां जो मानव जीवन के लिए चेतावनी स्वरूप हैं, उद्दीपन का कार्य करती हैं --

बिन बंदगी इस आलम में खाना तुम्हें हराम है रे।
बंदा करै सोइ बंदगी, खिदमत में आठो जाम है रे।।
यारी मौला बिसारि के, तू का लागा बे बे काम है रे।
कुछ जीतेगी बंदगी कर ले, आखिर को गोर मुकाम रे।।[1]

अनुभाव

प्रेम वश अश्रु व्याप्त दृष्टि--

जबहि दिस्टि परी महिदानी। दुवौ नैन भरि आयो पानी।
~~जबहि--दिस्टि~~
चाहसि बहुते जतन छिपावै। बरबस च जन भरि भरि आवै।
छिपद प्रेम रहै नहिं गोवा। उजह सुनासु कहह सुमिरि बिछोवा।[2]
राखे पेम न रहै छपाना। उमड़ै नैन जगत सब जाना।

उन्माद

जब भा चेत उठा बैरागा। बाउर जनौ सोइ उठि जागा।[3]
आवत जग बालक जस रोआ। उठा रोइ का ज्ञान सो खोआ।

स्थायी भाव

सूफी कवियों ने आध्यात्मिक पक्ष की अभिव्यक्ति के लिए लौकिकता का आश्रय लिया। परमात्मा के प्रेम स्वरूप को महत्व देने के कारण इन कवियों के लिए

१-यारी साहब-- सूफी काव्य संग्रह, पृ०२३७

२-सूफी काव्य संग्रह, पृ० १२४

३-वही०, पृ० ११०

आने काव्य में शृंगार भावना का समावेश आवश्यक हो गया । अस्तु सूफी काव्य शृंगार रस प्रधान है । किन्तु यह शृंगार-भावना कोरी लौकिकता अथवा कवि की विलासप्रियता का परिचायक कदापि नहीं है । उनका शृंगार-वर्णन भक्त कवियों के मधुर भाव के अन्तर्गत है । साधक के हृदय में प्रेम भावना के उदय होने पर समस्त सांसारिक वस्तुएं तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं । अतः सूफी काव्य में निर्वेद समन्वित मधुरभाव स्थायी के रूप में निबद्ध किया गया है । इस मधुर भाव में लौकिकता एवं अलौकिकता दोनों का ही समन्वय उपस्थित किया गया है । पर कवि का लक्ष्य सदैव अलौकिक सत्ता में ही केन्द्रित रहता है, सामान्य सांसारिकता की ओर उसकी दृष्टि नहीं । फलस्वरूप सम्पूर्ण सूफी काव्य में इसी दिव्य रति के सर्वत्र दर्शन होते हैं । इसी दिव्य रति को श्रीरूप गोस्वामी ने 'मधुरा रति' नाम दिया है, ~~क्योंकि~~ जो कि भक्ति का स्थायी है ।

परमात्मा की लीला को ही उसकी प्राप्ति का माध्यम बनाकर इन कवियों ने निर्वेद भावना के अभिव्यक्तिकरण की नई दिशा नियुक्त की । जहां कहीं इन कवियों की उपदेश की प्रवृत्ति लक्षित होती है, वहां केवल निर्वेद की व्यंजना मिलती है --

> जलते ओकुन बुलबुल, जलही माहि बिलाइ ।
> तैसा यह संसार सब, मुलह जाय समाइ ।।१।।[१]

सूफी काव्य में मधुर भाव को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि अन्य भावों के विकास की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया । वात्सल्य एवं सख्य भाव के वर्णन तो एकदम नहीं हैं । वैसे पद्मावत आदि में एकाध प्रसंग वात्सल्य रस के मिलते हैं जैसे गोरा बादल के युद्ध तथा रत्नसेन के जोगी बनकर चित्तौड़ प्रस्थान के समय मिलते हैं किन्तु उनका शान्तरस की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है । क्योंकि शान्त की दृष्टि से वात्सल्य आदि भाव तभी सफल माने जायेंगे जब उनका चित्रण आराध्य से किसी रूप में सम्बद्ध हो ।

दास्य भाव समन्वित एकाध स्थल अवश्य ही सूफी काव्य में देखने को मिलेंगे । पद्मावत में एक स्थल पर पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम की बात के स्थान पर

१- परशुराम चतुर्वेदी--सूफी काव्य संग्रह, पृ० २२६ ।

सेव्य सेवक भाव को ही महत्व दिया गया है --

> एक बार जिहि पिय मन बूझा । सोइ सौं काहेक जूझा ।।
> एस ग्यान मन जान न कोई । कबहूं राति कबहुं दिन होई ।।
> धूप छांह दोनों एक रंगा । दोनों मिले रहहिं एक संगा ।।
> बूझन्ह छांड्हु बूझहु दोऊ । सेव करहु सेवा फल होऊ ।।[1]

तथा दास्य भावना के लिए अनन्यता आवश्यक है --

> आठ पहर निरखत रही, सन्मुख सदा हजूर ।
> कह यारी घर ही मिलै, काहे जाते दूर ।।[2]

परमात्मा के समक्ष साधक अपने को सर्वथा दीन समझता है उसकी दृष्टि सदैव ईश्वर की महानता तथा अपने अवगुणों एवं पापों की ओर रहती है --

> हौं अजान मूरख दुष व्यापी । अधम अधीन हिय बड़ पापी ।।
> अविधि करउं विधि पर नहिं जाऊं । पातप प्रीति सो रीति नसाऊं।
> तिस्ना लोभ क्रोध जिम कीन्हें । मोर-मोर लार लोठीन्हें ।
> कामकेलि करुणा चित बाढ़ी । बात बिपाल बिषै बिष केतु ।।
> मैन सैन मानिनि मन लाए । मुरे न मन अभिमान उठाए ।।
>
> सब दैगुन हैं मोहि महं एकै गुन गंभीर ।
> लै लै नाम रहारी, पोषहु अधम शरीर ।।[3]

सूफी काव्य आद्योपान्त मधुर भावना से ओत-प्रोत है । सूफियों की इस प्रवृत्ति के कारण उनपर शृंगारिकता का आरोप किया जाता है । किन्तु उनका लक्ष्य अपने आराध्य की मधुर उपासना था । वे समस्त सृष्टि को ब्रह्म की कृति के रूप में देखते थे तथा उनका विश्वास था कि मनुष्य संसार को प्रभु की लीला के रूप में देखते हुए उसके सौन्दर्य के माध्यम से अलौकिक सत्ता के परम सौन्दर्य को देख सकता है । सूफियों का ध्यान परमात्मा के प्रेम एवं सौन्दर्यमय रूप पर ही अधिक था । अत: उसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने सामान्य प्रेम एवं सांसारिक सौन्दर्य का आश्रय लिया । अत: शान्तरस के अभिव्यक्तीकरण की दृष्टि से इस मधुर भावना का

१- जा० ग्रं०

२- सूफी काव्य संग्रह, पृ० २३८

३- शेख नबी-- सूफी काव्य संग्रह, पृ० १७०

महत्त्व बहुत अधिक है । जिसका आश्रय लेकर साधक अपने चारों ओर सृष्टि में व्याप्त सौन्दर्य एवं प्रेम में अलौकिक सत्ता के दर्शन कर लेता है ।

(घ) निष्कर्ष -- मूल्यांकन

परम सौन्दर्य के उपासक सूफी कवि सदैव अपने आराध्य की अलौकिक सुषमा का वर्णन करने में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं । ब्रह्म की प्रतिकृति होने से वे जगत में भी सर्वत्र उसी सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब देखते हैं । इस जागतिक सौन्दर्य के आधार पर ही वे परमसत्ता के रूप को व्यक्त,व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं । सौन्दर्योपासक होने के कारण इन कवियों ने प्रेमोपासना को महत्त्व दिया । किन्तु अत्यधिक सौन्दर्य प्रियता के कारण इनके वर्णनों में कहीं-कहीं अधिक स्थूलता आ गई है जिससे कि इन कवियों की आध्यात्मिकता की अपेक्षा शृंगारप्रियता का परिचय अधिक मिलने लगता है । सूफी आख्यानों में केवल यही दोषारोपण किया जा सकता है । इस दोष के परिमार्जनार्थ केवल यही कहा जा सकता है कि सूफियों के प्रेम के आलम्बन तथा आश्रय सामान्य नायक नायिका न होकर परमसत्ता तथा जीव है । तथा उनके सौन्दर्य वर्णन अतिशयोक्ति न होकर परमसत्ता के अलौकिकत्व के परिचायक है । विभिन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त कर विरहाग्नि द्वारा शुद्ध चित्त हुआ । साधक परमात्मा के ि प्रेम मार्ग का अवलम्बन लेते हुए अपने पृथक अस्तित्व को खो देता है । प्रेम मार्ग द्वारा साधक अपने इष्टदेव के अधिक से अधिक निकट पहुंचने की उसके साथ एकाकार हो जाने की अभिलाषा करता है । इसी व्यापक प्रेम का चित्रण सर्वत्र सूफियों का लक्ष्य रहा है, केवल वासनाजन्य प्रेम से उसका सम्बन्ध स्थापित करना अनुचित है ।

अध्याय -- ८

राम-भक्ति काव्य में शान्तरस

अध्याय -- ८

राम-भक्ति काव्य में शान्तरस

(क) सामान्य प्रवृत्ति तथा भक्ति के दो रूप -- माधुर्य भाव, दास्य भाव --

भारतीय जीवन दर्शन को चित्रित करना मध्य युगीन कवियों का प्रमुख ध्येय रहा है । केवल काव्य सृजन द्वारा अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन तथा लोकप्रसिद्धि प्राप्त करना उन्हें अभीष्ट न था । मानव जीवन का यथार्थ स्वरूप क्या है, कैसे मनुष्य अपने जीवन की विभिन्न विषमताओं के बीच भटका करता है तथा इन विषमताओं से मुक्त होने का सुगम साधन क्या है-- आदि प्रश्नों के समाधान के लिए इस काल के काव्य में पर्याप्त सामग्री है । तत्कालीन कवियों ने काव्य के माध्यम से चित्त के उदात्तीकरण की सरल विधियां प्रस्तुत कीं । मानव चित्तवृत्तियों की परिशुद्धि के लिए जो कार्य धर्म ने उपदेश के रूप में किया वही काम इस काल के काव्य ने सरस ढंग से कर दिखाया । सरस चित्रण के काव्य में निबद्ध उपदेश अनायास ही ग्राह्य हो जाते हैं । भक्ति की चारों धाराओं में राम काव्य का महत्व इस दृष्टि से अत्यधिक है, जिसमें वर्णित दुरूह दार्शनिक सिद्धान्तों एवं धार्मिक भावनाओं की बोधगम्यता दर्शनीय है । राम का पावन चरित्र पग-पग पर हमारा मार्ग दर्शन करते हुए हमें भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित करता है ।

राम काव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय श्रीराम की भक्ति है । राम के प्रति प्रेम और भक्ति का चित्रण करने वाले प्रत्येक पहलू को कवियों ने ग्रहण किया है । भरत का राम के प्रति भ्रातृ-प्रेम, दशरथ का वात्सल्य, सीता का पति-प्रेम, हनुमान आदि का स्वामि-प्रेम तथा अन्य रूपों का भी प्रसंग मिलता है । वैसे तो दास्य

रूप में यह समस्त प्रेम व्यापार लौकिक ही प्रतीत होता है, परन्तु जब हम देखते हैं कि इन सब पात्रों का प्रेम 'राम' अर्थात् 'परमब्रह्म राम' के प्रति है तो यह प्रेम 'अध्यात्म' अथवा 'आत्मविलय' में पर्यवसित हो जाता है । रामकाव्य का प्रत्येक पात्र 'राम' में ही आत्मलय चाहता है, अपने अस्तित्व को राम से पृथक् रखना उन्हें मान्य नहीं । इसी कारण प्रत्येक पात्र राम के चरणों में सतत् अविरल भक्ति की याचना करते हुए दीख पड़ता है ।

राम के प्रति यही भक्ति-भावना सम्पूर्ण काव्य में सुव्यवस्थित ढंग से व्याप्त है । भक्ति की इस व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए कुछ आचार्यों ने राम काव्य में पृथक रूप से भक्ति-रस की स्थापना स्वीकार कर ली है, जब कि संस्कृत के आचार्य देवता विषयक रति को रस न मानकर भावमात्र मानते हैं । थोड़ा सा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति को अलग से रस मानने का आग्रह उचित नहीं । ईश्वर तक पहुंचने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस माध्यम की आवश्यकता होती है, वह 'भक्ति' है । भक्ति का माहात्म्य इस कारण अधिक है कि वह योगादि अन्य साधनों की अपेक्षा ब्रह्म प्राप्ति का सुगम उपाय है । इसके साथ ही दूसरी ओर मानस जैसे महाकाव्य को भावप्रधान मानने का साहस भी नहीं किया जा सकता है । अत: भक्ति रस के अभाव में मानस में शान्तरस की स्थापना नि:संकोच रूप से स्वीकार की जा सकती है । राम का जो रूप तुलसी हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं, उसके अनुसार राम केवल सामान्य देवता ही नहीं है । वे ब्रह्मस्वरूप हैं जिनके स्वरूप ज्ञान से जीव मोक्ष प्राप्त कर लौकिक जगत से छुटकारा प्राप्त कर लेता है । राम परम ब्रह्म है । यह ब्रह्म सच्चिदानन्द अनीह, अनाम, अजन्मा, व्यापक, विश्वरूप आदि संज्ञाओं से विभूषित है[1] । संसार के जड़ अथवा चेतन सभी पदार्थों में यह ब्रह्म व्याप्त है । समस्त सांसारिक पदार्थ 'राममय' ही है[2] । यह ब्रह्म ही विश्व की समस्त चेतना का मूल स्रोत है । राम जीव और जगत के परम प्रकाशक हैं[3] । वे ही सृष्टि के पालक, पोषक एवं संहर्ता भी हैं[4] । राम जगत्कर्ता होकर भी स्रष्टा और सृष्टि दोनों ही हैं -- यही

१- वि० ५६।५
२- रा० १।७, १।७।२ ।
३- बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ।।
सबकर प्रकाश्य प्रकाशक रामू । मायाधीश ग्यान गुन धामू ।। रा०१।११७।५-७
४- जो करता, भरता हरता सुर साहिब, साहिब दीन दुनी को ।।
-- कवि० ७।१४६
तथा -- रा० ६।७।२ ।

उनका वैशिष्ट्य है[1]। सृष्टि के आदि मध्य एवं अवसान में केवल राम की ही सत्ता है[2]
राम की समस्त स्तुतियों में उनकी इन्हीं विशेषताओं की ओर कवि का ध्यान केन्द्रीभूत रहता है। तुलसी जगह-जगह पर राम के उपरोक्त गुणों की ओर पाठक का ध्यान इसीलिए आकर्षित करते हैं कि वे उन्हें मनुष्यमात्र ही न समझ बैठें। यह ब्रह्म विभिन्न अंगों से रहित होकर भी तत्सम्बन्ध क्रियाकलापों का सम्पादन करता है[3]। परमार्थतः यह ब्रह्म है तो निर्गुण किन्तु मायाधिपति होने के कारण इसे निर्गुण और सगुण दोनों ही कहा जाता है[4]। परमार्थतः ब्रह्म के सगुण और निर्गुण इन दोनों रूपों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों में से किसी की प्राप्ति पर साधक ब्रह्ममय हो सकता है। यह निर्गुण ब्रह्म भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर, सज्जनों के रक्षार्थ तथा धर्म के उत्थान के लिए ही सगुण रूप धारण करता है[5]। जो भेद दारुगत अव्यक्त दहन में तथा दृश्यमान अग्नि में रहता है, जो भेद जल और हिम-उपल में तथा अर्क और अक्षर में है, वही भेद निराकार और साकार में है[6]। इसी प्रकार निर्गुण अवस्था और सगुण अवस्था के भेद को तुलसी ने निम्न दृष्टान्त के सादृश्य द्वारा व्यक्त किया है।

फूले कमल सोह सर कैसा । निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा ।।[7]

भगवान राम सगुण रूप धारण करके नट की भांति लीलाएं करते हैं। नट विभिन्न वेशभूषा के प्रयोग द्वारा मंच पर अभिनय किया करता है, पर उसका

१- वि० ५३।७

२- आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी । -- वि० ७८।३

३- बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।।
-- रा० १।११८।५-६

४- रा० ४।२६ । १२-१३

५- सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ।।
अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।
रा० १।११६ ।१- ८ तथा रा० २।२१९।६ ।

६- एक दारुगत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू
-- रा० १।२३।५
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।।
-- रा० १।११६।३

७- रा० ४।१७।२

वास्तविक स्वरूप उसके अभिनय कर्ता रूप से भिन्न रहता है, ठीक उसी प्रकार राम सगुण रूप धारण करके लीलाएं तो करते हैं परन्तु उनका पारमार्थिक रूप उससे भिन्न रहता है।[1] अज्ञानी व्यक्ति भगवान की इस लीला को देखकर मोह में पड़ जाते हैं, परन्तु मायाधिपति एवं ज्ञानस्वरूप होने के कारण राम इस माया द्वारा भ्रमित नहीं होते हैं।[2] राम के निर्गुण रूप की भांति उनका सगुण रूप भी है। वे सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एवं लय के कारण हैं। सगुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए तुलसी राम को विष्णु का अवतार बताते हुए भी उनसे श्रेष्ठ बताते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश-- तीनों ही राम की सेवा और वन्दना किया करते हैं। राम की लीला का रहस्य वे नहीं समझ पाते। राम के ही बल से विष्णु संसार का पालन, ब्रह्मा सृजन और शिव संहार करते हैं।[3] राम किस हेतु पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं-- इस सम्बन्ध में कोई निश्चित तर्क नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि राम हमारी मन, वाणी और बुद्धि तीनों से ही परे हैं। ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियों की भांति तुलसी भी राम के स्वरूप निरूपण के समय 'नेति नेति' शब्द का बारम्बार प्रयोग करते हैं।[4] बाल्मीकि द्वारा उन्होंने राम की स्तुति कराकर उनके स्वरूप को स्पष्ट कर दिया है --

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे । बिधि हरि संभु नचावनिहारे ॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहिं को जाननिहारा ॥
सोइ जानइ जेहि देउ जनाई । जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपां तुम्हरि रघुनन्दन । जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥
चिदानन्दमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥
नर तनु धरेहु संत सुर काजा । कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥
तुम्ह जो कहहु करहु सब सांचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ॥

पूंछेहु मोहि कि रहौं कहं मैं पूंछत सकुचाउं ।
जहं न होहु तहं देहु कहि तुम्हहिं देखावौं ठांउ ॥[5]

१- रा० ७।७२
२- वही० १।११६।१-४
३- वही० ५।२१।५
४- वही० १।५१ छन्द, १।१४४।
५- वही० २।१२६-१२७।

तुलसी ब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण से श्रेष्ठ मानते हुए भी निर्गुण का विरोध नहीं करते । निर्गुण ब्रह्म निराकार मात्र नहीं है । वह भी भक्तवत्सलता, तथा करुणा आदि गुणों से समन्वित है । तुलसी के राम निराकार एवं साकार दोनों ही है । भक्त के प्रेमवश में निराकार से साकार रूप ग्रहण करते हैं । `सगुन अगुन उर अंतरजामी` कह कर तुलसी राम के इसी सगुण निराकार रूप का समर्थन करते हैं ।

परमतत्त्व राम के चित्रण के साथ ही उनके अंश से प्रादुर्भूत जीव और जगत् का स्वरूप विशेषण भी तुलसी ने किया है । जीव सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का अंश है अत: वह नित्य और सर्वकालवर्ती है[1] । जीव अनश्वर है । जैसे मनुष्य जीर्ण परिधान का परित्याग कर अन्य नवीन वस्त्र धारण करता है वैसे ही जीवात्मा भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे में संक्रमण करती है[2] । यह जीव निर्मल निरंजन और सहज अनुभव रूप है[3] । वह ईश्वर का सहज संघाती है[4] ।

परमात्मा से पृथक होकर यह जीव अज्ञानवश अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है । इस अज्ञान का मूल कारण माया है[5] । अपने पारमार्थिक रूप को भूलकर तथा पार्थिव देह को ही अपना वास्तविक रूप समझकर जीव अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए विषयवासनाओं की पूर्ति में संलग्न हो जाता है । विषयों से भली प्रकार आबद्ध हो जाने पर उसे कष्ट भोगना पड़ता है, उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती । तुलसी ने जीव के दु:ख का प्रमुख कारण `मानस रोग` बताया है । ये मानस रोग इस प्रकार हैं --

> सुनहु तात अब मानस रोगा । जिन्हते दु:ख पावहिं सब लोगा ।।
> मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ।।
> काम बात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ।।

१- प्रगट सो तनु तव आगे सोवा । जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ।।
--रा० ४।११।५

२- जीव तनु धरी तजी पुनि अनायास हरिजान ।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान ।। --रा० ७।१०६

३- निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि अब आयो तहां ।
निरमल निरंजन निरबिकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो ।
नि:काज राज बिहाय नृप इव सपन कारागृह पर्‌यो ।।--वि०१३६।२

४- रा० १।२१७।४ तथा वि० ८६।३।६

५- नाथ जीव तव माया मोहा । -- रा० ४।३।२

प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई । उपजइ सन्यपात दुःखदाई ।।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना । ते सब सूल नाम को जाना ।।
ममता दादु कंडु इरषाई । हरष विषाद गरह बहुताई ।।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई । कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई ।।
अहंकार अति दुःखद डमरुआ । दंभ कपट मद मान नहरुआ ।।
तृष्णा उदर वृद्धि अति भारी । त्रिविध ईषना तरुन तिजारी ।।
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका । कहं लगि कहौं कुरोग अनेका ।।
एक व्याधि बस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुं सो किमि लहइ समाधि ।[1]

इन विकारों में भी तीन -- काम, क्रोध और लोभ प्रबल हैं । ये मुनियों को भी क्षुब्ध कर देने वाले हैं । काम को नारी, क्रोध को कठोर वचन तथा लोभ को इच्छा दम्भ अत्यन्त बलवान बना देते हैं ।[2] इन तीनों में भी जीव की प्रबलतम प्रवृत्ति काम है[3] । मोह का भी मानस रोगों में प्रमुख स्थान है । यह मोह समस्त मानस रोगों का मूल कारण है , इसी से सारे विकार उत्पन्न होते हैं और जीव संसार-दुःखों के चक्कर में पड़ता है ।

जीव पंचभौतिक शरीर से भिन्न है, वह जन्म मरण के बन्धन में नहीं पड़ता । पृथ्वी, अग्नि, जल,आकाश और वायु -- इन पांच तत्वों से प्रत्यक्ष स्थित अधम शरीर की रचना होती है[4] । जीव नित्य है । इस निर्विकार विशुद्ध जीव को माया मलिन कर देती है जैसे वर्षा का शुद्ध जल पृथ्वी पर पड़ते ही गन्दा हो जाता है[5] ।

१- रा० ७।१२१

२- तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि विज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुं छोभ ।। दो०२६४
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि ।
क्रोध के परुष वचन बल मुनिबर कहहिं विचारि ।। दो० २६५

३- रा० ३।४३, दो० २६६

४- रा० ४।११।४ ।

५- भूमि परत भा ढाबर पानी । जनु जीवहिं माया लपटानी ।।
-- रा० ४।१४।६

माया के कारण सांसारिक बन्धनों में पड़कर अपने कर्मानुसार मिलने वाले सुख अथवा दुःख को उसे भोगना पड़ता है[१]। तथा माया की प्रेरणा से ही काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के वशीभूत होकर यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमता है[२]। तुलसी ने जीवों को विषयी, साधक और सिद्ध -- इन तीन भागों में विभक्त किया है[३]। विषयी जीव के सम्बन्ध में उन्होंने काफी कहा है। विषय-वासना को सर्वथा त्याज्य बताते हुए कामी पुरुष और नारी की भी खूब निन्दा की है। जीव को जब इस भौतिकता के बीच भ्रमण करते हुए सदैव केवल कष्ट और दुःख ही भोगने पड़ते हैं तब वह निराश होकर बरबस भक्ति का अवलम्ब ग्रहण करता है। भक्ति-पथ का पथिक बनकर वह साधक कहलाता है। अपनी साधना के अनुसार ही जीव को फल प्राप्ति होती है। साधना के पूर्ण होने पर जीव का विषय-वासनाओं से पूर्णतः पार्थक्य हो जाता है किन्तु अपूर्ण साधना रहने पर जीव को वासनाओं से पूर्णरूपेण छुटकारा नहीं मिलता, वह बीच-बीच में साधना की ओर अग्रसर अवश्य रहता है। विषय-विकारों को जीत लेने वाला जीव 'सिद्ध' कहलाता है। संत पुरुष और भगवान के भक्त इस श्रेणी में आते हैं। सांसारिक जीवों का उद्धार इनसे सम्भव है अतः तुलसी कहीं-कहीं 'राम' से भी अधिक महत्व इनको दे देते हैं[४]। सत्संगति, संतसेवा, तथा गुरु माहात्म्य के सम्बन्ध में मानस में अनेक उक्तियां भरी पड़ी हैं। इस जीव के धर्म-ज्ञान-अज्ञान, हर्ष-विषाद एवं अहंकार तथा अभिमान हैं।

ईश्वर का अंश होने पर भी जीव और ईश्वर में अन्तर है। ईश्वर स्वतन्त्र है, जीव परतन्त्र है। जीव विशुद्ध होकर भी माया के वश में हो जाता है जब कि ईश्वर मायाधिपति है, माया सदैव उसके आधीन रहती है[५]। जीव और ईश्वर का भेद इस प्रकार है :-

---

१- रा० २।१२।४, २।२१९।४ आदि
२- वही०, ७।४४।४
३- विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने। रा०२।२७७।३
४- मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।रा०७।१२०।१६ तथा
सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सत सरिस सोहाई। रा०२।२६६।१ आदि
५- जौं सबके रह ग्यान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस ।।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी ।।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ।।
-- रा० ७।७८।५-७

माया ईसु न आपु कहं जानि कहिय सो जीव ।
बंध मोक्षप्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव ।[1]

आत्मज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर जब जीव का मायाजनित अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा एकरस अखण्ड ज्ञान की अनुभूति हो जाती है तब जीव और ईश्वर का भेद मिट जाता है । जैसे गंगा से निकला हुआ गंगाजल मदिरा के सम्पर्क से अपवित्र हो जाता है किन्तु पुन: वही जल गंगा में पहुंचकर पावनता को प्राप्त कर लेता है ठीक उसी प्रकार स्वभावत: निर्मल जीव माया के कारण ईश्वर से पृथक हो जाता है किन्तु आत्मज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति होने पर पुन: अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।[2] फिर वह भगवान के ही समान हो जाता है --`जानेसु संत अनंत समाना ।[3]

जीव को भव बन्धन में फंसाने वाली `माया' का वर्णन भी रामकाव्य में विस्तृत तथा स्पष्टरूप से किया गया है । तुलसी के अनुसार राम मायापति हैं, अत: माया श्रीराम की `शक्ति' है । उनकी व्यक्ताव्यक्त शक्तिरूपा `माया' को सीता कहते हैं ।[4] वस्तुत: यह आदिशक्ति रूप सीता ही ब्रह्म की माया है-- जिनसे जगत का उद्भव स्थिति और संहार होता है ।[5] राम से उनका सम्बन्ध वैसा ही है जैसे गिरा से अर्थ का अथवा जल से वीचि का ।[6] यह त्रिगुणात्मिका माया अपने गुणों द्वारा जगत की रचना की स्थिति और संहार करती है । जहां तक मन और इन्द्रियों की पहुंच है-- वे समस्त विषय माया के अन्तर्गत हो जाते हैं । मैं मेरा, तु तेरा आदि अहंकार भावना का रहना ही माया है ।[7] विद्या और अविद्या के भेद से यह माया दो प्रकार की है ।[8] विद्या माया में अपनी कोई भी शक्ति नहीं होती, वह परमात्मा से प्रेरित है, उसके द्वारा ईश्वर जगत का सृजन करता है ।[9] परन्तु दूसरी अविद्या माया बड़ी दु:खदायी है । उसके कारण जीव बन्धनग्रस्त होकर कष्ट पाता है ।[10] संक्षेप में अविद्या

१- रा० ३।१५
२- वही० १।७०।१-२
३- वही० ७।१०६।१२
४- गी० २।२८।३, रा० १।१५२।४
५- रा० २।१२६ छंद
६- वही० १।१८
७- वही० ३।१५।२३ वि० ४७।५
८- तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।रा०३।१५।४
९- रा० ३।१५।६
१०- एक दुष्ट अतिसय दु:खरूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।।रा०३।१५।५

जीव के संसार का हेतु है और विद्या निवृत्ति का[1]। इस माया का भ्रमात्मक स्वरूप ब्रह्मा और विष्णु तक को मोहित किए है फिर साधारण मनुष्यों का क्या कहना ? माया स्वत: निर्बल एवं जड़ है, परन्तु राम की प्रेरणा से वह जगत की रचना करती है[2]। राम मायाधिपति हैं और माया उनकी सेविका है अत: अन्य जीवों को तो वह अपने अधीन कर लेती है, परन्तु राम पर उसका प्रभुत्व स्थापित नहीं हो पाता। वह राम से सर्वदा भयभीत रहती है और सदैव उन्हीं के अनुकूल आचरण किया करती है[3]।

यह संसार भी मायात्मक होने के कारण `नभ वाटिका` के समान असत्य है, किन्तु राम के सत्य से प्रतिभासित होकर जगत की सारी वस्तुएं सत्य सी ही प्रतीत होती है[4]। वस्तुत: जब तक हमारा मन इस मायात्मक संसार की असारता को नहीं समझ लेता तब तक हमें आत्मज्ञानोपलब्धि नहीं हो पाती[5]। जीव अपनी अज्ञानता के कारण सांसारिक विषयों में भटकता हुआ उनको यथार्थ मान कर उनमें आसक्त रहता है[6]। विभिन्न कर्मबन्धनों में आबद्ध होकर वह कष्ट भोगता है। माया के इस प्रबल पाश से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है -- `श्रीराम की भक्ति`। माया राम की प्रेरणा से ही सृष्टि करती है और उसी के द्वारा जीव बन्धन ग्रस्त होता है। अत: बिना राम की दया के यह माया जाल नहीं छूट सकता। राम की दया ही इस भव जंजाल से मुक्त कर सकती है। तुलसी इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं --

तुलसिदास यह जीव मोहरजु, जेहि बांध्यो सोइ छोरै[7] ।।

भवबन्धन से मुक्ति के लिए राम की कृपा आवश्यक बताकर भी तुलसी जगत को केवल मिथ्या कहकर उसका सर्वथा बहिष्कार करने का आदेश कहीं नहीं देते हैं। जगत वस्तुत: उन्हीं के लिए त्याज्य है जो कि उसके मनमोहक रूप में आकृष्ट होकर उसी में लिप्त रहने लगते हैं। समस्त जगत में परमात्म तत्व को व्याप्त देखने पर वही

१- रा० ७।७८।४
२- रा० ३।१५।६।१।११७।१-८
३- रा० १।२०२।३, ७।७२।१-२
४- वि० ६६।४
५- वि० १११
६- वि० १२३।५
७- वि० १०२।५

जगत गर्हणीय न रहकर वन्दनीय हो जाता है । और तब जगत के कष्ट एवं दु:ख साधक को प्रभावित नहीं करते । तुलसी जगत के इसी रूप की वन्दना करते हैं --

सियाराम मय सब जगु जानी । करउं प्रनाम जोरि जुग पानी ।।[१]

यह संसार भ्रमात्मक उनके लिए है जो कि सूर्य की किरणों में जल समझ कर उनके पीछे भागने वाले मृग की तरह संसार को सुखमय समझकर उसमें आसक्त रहते हैं । संसार न तो सत्य है न मिथ्या । इसको परमात्मा की लीला मात्र समझना चाहिए-- यही इसका यथार्थ रूप है[२] । जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल असत्य होने पर भी जब तक भ्रम रहता है सत्य सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह संसार भी हमारी भ्रमात्मक दशा पर्यन्त सत्य दीखता है और इसके दु:खों का अनुभव होता है । जीव की अज्ञानता के कारण यह संसार ऊपर से मनोरम किन्तु अन्त में भयावह लगता है । केवल भ्रम-रहित सद्गुण समन्वित विवेकी पुरुष के लिए यह संसार अवश्य ही सुखकारी हो सकता है[३] ।

जगत के स्वरूप के सम्बन्ध में तीन प्रकार के कथन प्रमुख रूप से मिलते हैं । प्रथम के अनुसार जगत असत्य है, द्वितीय के अनुसार जगत राम का स्वरूप होने से सत्य है तथा तृतीय के अनुसार जगत को सत्य,झूठा अथवा उभय रूप कहना -- तीनों ही भ्रम है । जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन रामकाव्य में अनेक स्थलों पर मिलता है । अध्यस्त रजत, जल और सर्प आदि जैसे मिथ्या है, उसी प्रकार अध्यस्त जगत भी मिथ्या है । अधिष्ठानरूप सीप,सूर्य किरण तथा रस्सी आदि की सत्यता की भांति जगत के अधिष्ठान का राम ही केवल सत्य है । भ्रम के कारण इस मिथ्या जगत् से जीव कष्ट पाता है । तुलसी कहते हैं --

जो जग मृषा तापत्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे ।
कहि न जाय मृगवारि सत्य,भ्रम ते दुख होइ बिसेखे ।
सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै ।
कोटिहु नाव न पार पाव सो, जब लगि आप न जागै[४] ।।

१- रा० १।८।२

२- वि० १११

३- वि० १२१

४- वि० १२१।२-३

ब्रह्म जीव तथा जगत -- इन तत्वत्रय के स्वरूप विश्लेषण को हमारे सम्मुख उपस्थित कर कवि का लक्ष्य अन्ततोगत्वा रामभक्ति के माध्यम से साधक की निवृत्ति प्रतिपादित करना है । साधक अपने को ब्रह्म का अंश जानकर जगत के स्वरूप को समझ कर उसमें लिप्त न रहता हुआ भक्ति का सम्पादन करे-- यही रामकाव्य का संदेश है । भक्ति ही सर्वदु:खों की उन्मूलक तथा जीव को परमात्मतत्व का साक्षात्कार कराने में समर्थ है । अत: रामकाव्य में इस भक्ति तत्व का विशद विवेचन करते हुए उसके अंग-प्रत्यंग का विश्लेषण किया गया है । रामकाव्य का प्रतिपाद्य ही भक्ति है, जीव जगत आदि का स्वरूप भक्ति की पुष्टि में सहायक है । उस भक्ति के एक ओर ज्ञान से ओत-प्रोत तथा दूसरी ओर कर्म एवं उपासना से अनुप्राणित होने के कारण -- यह सर्वसाधारण के लिए भी उतनी ही सुलभ है। जितनी ज्ञानी जनों के लिए । ईश्वर के साक्षात्कारार्थ विभिन्न यौगिक क्रियाओं का आश्रय लेना तथा अन्य वाह्याडम्बर आवश्यक नहीं । यह सम्पूर्ण चराचर जगत उसकी रचना है, उसी की माया है, अत: भगवत्प्राप्ति का यह बहुत ही अच्छा व्यक्त साधन है । उस अन्तर्यामी को केवल मन के भीतर देखना सभी साधारण व्यक्तियों के लिए दुष्कर होगा । मन में ईश्वर को खोजने के लिए वैराग्य और योग की आवश्यकता पड़ेगी । अत: सर्वसामान्य के लिए यही श्रेयष्कर है कि वह भक्ति मार्ग का आश्रय लेकर जगत को परमात्मा की कृति के रूप में देखता हुआ अनासक्त भाव से ईश्वर की भक्ति करे । इसीलिए तुलसी सब को संकेत करते हुए कहते हैं कि--

अन्तर्जामिहु ते बड़ बाहर जामी हैं राम जो नाम लिए तें ।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते ।।[1]

रामकाव्य में व्यक्तिगत कल्याण के स्थान पर लोकमंगल की भावना को महत्व देने के कारण ही जगत को माध्यम स्वरूप चुना गया है । भक्ति के व्यापक स्वरूप के फलतार्थ पशु-पक्षी तक को उसका अधिकारी बना दिया है ।

यह भक्ति श्रद्धा और विश्वास की आधारभूमि पर स्थित है[2]। श्रद्धा और विश्वास से रहित भक्ति के सभी साधन आडम्बर मात्र होने से निष्फल होंगे ।

१- कवि० ७।१२९

२- बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
-- रा० ७।९०

दृढ़ विश्वास भावना से की गई भक्ति द्वारा ही राम द्रवित होते हैं । श्रद्धा के कारण विभिन्न धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान होता है , अत: वह भी भक्ति का आवश्यक अंग है ।

साधक की अकर्मण्यता को दूर करने के लिए उपासना में कर्म का भी महत्वपूर्ण स्थान है । किन्तु भक्ति के लिए निष्काम कर्म की अनिवार्यता है । साधक अपनी भक्ति के बदले किसी भी वस्तु-- यहां तक कि मुक्ति की भी याचना न करे । आदान-प्रदान की भावना रखकर हम अपनी भक्ति को स्वार्थपरता से नहीं बचा सकते और स्वार्थपरक भक्ति निरर्थक है -- वह न तो आत्मशान्ति दे सकेगी और न श्रीराम को ही रुचिकर होगी । फिर भक्ति के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला अलौकिक आनन्द ही साधक के लिए क्या कम महत्वपूर्ण है जो वह अन्य तुच्छ आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भटकता फिरेगा ?

श्रीराम को शील,शक्ति एवं सौन्दर्य से समन्वित दिखाकर भक्ति को और भी व्यापक रूप प्रदान किया गया है । राम के स्वरूप का मर्मस्पर्शी एवं मनोहारी वर्णन भक्ति के लिए सरलतम मार्ग का प्रदर्शन करता है । सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होना नैसर्गिक नियम है । साधक अपने इष्टदेव के सौन्दर्य पर मुग्ध होता हुआ उसके कार्यों के प्रति अभिरुचि रखने लगता है । व्यक्ति-विशेष के सुन्दर लगने के साथ ही उसकी क्रियाओं का अवलोकन और श्रवण भी मन को अच्छा लगता है । फिर राम जैसा शौर्य सम्पन्न संसार में कदाचित् ही दूसरा देखने को मिलेगा । राम का यह शक्ति और सौन्दर्य उनके प्रति भक्ति को और अधिक दृढ़ करता है । राम के शील के अन्तर्गत उनकी शरणागत रक्षा, सदाचार आदि के भाव भी भक्त को आकृष्ट करते हैं ।

भक्ति के क्षेत्र में राम,कृष्ण अथवा शिव में कोई विशेष अन्तर नहीं है । यह अवश्य है कि तुलसी ने राम की उपासना को व्यापक रूप प्रदान किया है किन्तु इस भक्ति के साथ ही शिव और कृष्ण की भक्ति का वे बहिष्कार नहीं करते हैं । उनके राम शिव को अपना प्रेमी बताते हैं तो शिव अपना इष्टदेव राम को स्वीकार करते हैं[1]

१- कोउ नहिं शिव समान प्रिय मोरे । --राम १।१३८।६ तथा ७।४५
सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा । -- शिव रा० १।५१।८

अलौकिक आनन्द दायी इस भक्ति का स्वरूप क्या है ? जैसा कि हम भक्ति निरूपण के प्रसंग में देख चुके हैं -- ईश्वर के प्रति परानुरक्ति अथवा परम प्रेम को आचार्यों ने भक्ति कहा है । तुलसी का भी भक्ति-स्वरूप का लक्षण इसी के समकक्ष है । उनके अनुसार रागरिस को जीतकर नीति मार्ग का अनुसरण करने वाले साधक की राम के प्रति की गई प्रीति `भक्ति` है --

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय रागरिस जीति ।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति ।।[1]

लौकिक पदार्थों के प्रति चित्त का आसक्त रहना `राग` है । इस राग से रहित चित्त में ही भक्ति का उदय सम्भव है । नीतिपालन भक्ति के लिए अन्य आवश्यक साधन है । इन दोनों विशेषताओं से युक्त राम के प्रति प्रीति ही भक्ति है । यह प्रेम `राम` तथा `नाम` दोनों के प्रति हो सकता है -- दोनों का समान महत्त्व है-- `समुझत सरिस नाम अरु नामी ।`[2]

रामकाव्य में साध्य भक्ति के प्रेमस्वरूप को ही अत्यधिक महत्त्व देने के कारण भक्ति को ज्ञान-वैराग्य से ऊपर और ईश्वरप्रदत्त कहा गया है । चित्त की परिशुद्धि तथा यथार्थता के ज्ञान के लिए ज्ञान और वैराग्य दोनों की ही अनिवार्यता है । दोनों के सहयोग से हम उस परमात्मा की शरण में जाते हैं जहां पहुंचकर शाश्वत सत्यों का ज्ञान होता है, भव बन्धन के नाश से अपूर्व सुख की अनुभूति होती है । भक्ति , ज्ञान एवं वैराग्य -- इन तीनों के बीच विभाजन करना उचित नहीं-- तीनों ही अन्योन्याश्रित है । इसीलिए गोस्वामी जी ज्ञान और वैराग्य को दुष्कर बताते हुए भी कर्म, ज्ञान और वैराग्य तीनों का भक्ति के साथ सामन्जस्य रखने का प्रयत्न करते हैं । इन तीनों की उपयोगिता इस प्रकार को है -- उचित कार्यों के अनुष्ठान से ईश्वर प्रसन्न होते हैं । वैराग्य के कारण व्यक्ति सात्त्विक, राजसी और तामसी तीनों गुणों और आठों सिद्धियों को मन से बहिष्कृत कर देता है । संसार का मोहक रूप उसे भयावह लगने लगता है । ज्ञानोदय द्वारा व्यक्ति के अहंकार आदि दुर्गुण स्वत: नष्ट हो जाते हैं । कर्म ज्ञान एवं वैराग्य तीनों के

१- स दो० ८६
२- रा० १।२१।१

सम्मिलित रूप से परिष्कृत तथा निर्मल अन्तःकरण हुआ साधक अपनी भक्ति को निश्चल बनाए रखने में समर्थ होता है । भक्ति का अंकुर मानस में प्रस्फुटित होने पर ही ज्ञान और वैराग्य का उदय होता है -- यही उसका वैशिष्ट्य है । भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनों मिलकर साधक को उस भाव-भूमि पर पहुंचा देते हैं जहां वह समस्त सृष्टि को ब्रह्ममय देखने लगता है[1] । परन्तु भक्ति-रहित ज्ञान प्रशंसनीय नहीं[2] -- वह केवल तर्क-वितर्क तथा विद्वता प्रदर्शनार्थ होता है । सम्यक् ज्ञान का अर्थ जीवन की क्षणभंगुरता, अपने वास्तविक रूप को समझना तथा क्रोधादि को दुर्गुण समझ कर उनका सर्वथा बहिष्कार करना आदि है और इस प्रकार के ज्ञान का भक्ति के साथ कोई विरोध नहीं । दोनों ही जीव को परमात्मा की ओर अग्रसर कराते हैं । दोनों का ध्येय एक है -- उनमें कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं[3] । फिर भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का क्षेत्र अधिक व्यापक है । ज्ञान का मार्ग दुर्गम है, उसके साधन भी कठिन हैं, उसमें अनेक प्रत्यूह हैं[4] । उसके अतिरिक्त निराव-लम्ब चंचल चित्त को एक विशिष्ट दिशा में लगाया भी नहीं जा सकता । ज्ञान के सिद्धान्तों को समझ कर मन का अस्थैर्य दूर नहीं होता । भक्ति के क्षेत्र में ईश्वर की मनमोहिनी प्रतिमा साधक के समक्ष रहती है । साथ ही उसकी उपासना के लिए भी कोई कठोर नियम अथवा बन्धन नहीं है । उपासना के परिपक्व होने पर साधक में वे सभी ज्ञानार्जित बातें स्वतः ही आ जाती हैं । ज्ञान द्वारा कष्टसाध्य कार्य भक्ति से सुखपूर्वक सम्पादित हो जाते हैं । भक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादनार्थ तुलसी भक्ति की तुलना मणि और ज्ञान की दीपक से करते हैं । भक्तिरूपी मणि दिन-रात प्रकाशित रहता है । लोभ, मोह आदि विकार उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते[5] । दूसरी ओर ज्ञान का दीपक है जो अज्ञान और मोह का नाश करके आत्मानुभाव का सुन्दर प्रकाश तो फैलाता है परन्तु इसी बीच माया अनेकानेक विघ्न उपस्थित कर विभिन्न विषयों द्वारा मन को लुभाने का प्रयास करती है । इन्द्रियां स्वभावतः

१- रा० ४।१५।४

२- रा० ७।४५।४

३- रा० ७।११५।१३

४- ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहुं टेका ।।
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ । भक्ति हीन प्रिय मोहि न सोऊ ।--रा०७।४५।३-४

५- रा० ७।१२०।९-१०

विषयों के प्रति आकृष्ट होती हैं, फलस्वरूप ज्ञान का दीपक बुझ जाता है। साधक इतनी कठिनाई से प्राप्त हुए ज्ञान के प्रकाश को खो बैठता है[1]। और पुन: अनेक प्रकार से संसृति के क्लेश पाने लगता है किन्तु इससे ज्ञान को सर्वथा हेय नहीं समझना चाहिए। तुलसी भक्ति व्यतिरिक्त ज्ञान के अवश्य विरोधी हैं किन्तु जो ज्ञान हमारे अन्त:करण में पड़े हुए अज्ञानावरण को मिटा दे, वह सर्वथा उपयोगी है। इस सम्बन्ध में उनकी ये पंक्तियां दर्शनीय हैं --

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।जिमि खगपति जल कै चिकनाई ।।[2]

परन्तु विषयी जीव के लिए यह भक्ति भी अगम है। इस क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए साधक को समस्त लौकिक सुखों का परित्याग कर देना पड़ेगा। संसारासक्त जीव कर्मचित काम, क्रोध,लोभ, मोह आदि दुर्गुणों से आक्रान्त रहने के कारण सदैव अनुचित कर्म की ओर प्रवृत्त रहता है। ईश्वर में उसको किंचितमात्र भी आस्था नहीं रहती है। भक्ति के लिए अन्य बाधक तत्त्व अहंकार है। विषयी जीव प्रभुता प्राप्ति के अनन्तर अहंकार वश अपने वास्तविक रूप को भुला बैठता है।राग-द्वेषादि समस्त पापों का मूल कारण मोह है। संसार के समस्त क्रिया-कलाप, धरती नरक, स्वर्ग अपवर्ग आदि परमार्थत: नहीं है। विभिन्न वेशभूषाधारी मंचस्थ नट के अवास्तविक हाव भाव की भांति इस जगत के प्रपंच भी स्वप्नवत हैं। मोहवश पुरुष इन प्रपंचों को ब्रह्म की लीला के रूप में न देखकर उन्हें यथार्थ समझता है-- उनके प्रति आकृष्ट होता है। इन सब अवगुणों से मुक्ति तथा ईश्वर से भक्ति प्राप्ति के लिए समस्त मानसिक विकारों का परित्याग करना आवश्यक है। अन्यथा साधक भक्ति का अधिकारी ही न हो सकेगा।

इन अवगुणों से मुक्ति प्रदान करने वाली यह भक्ति नौ प्रकार से सम्पादित की जा सकती है,मानस में इस नवधा भक्ति का उल्लेख राम द्वारा शबरी के दैन्य को देखकर उसको उपदेश देते हुए करवाया गया है। नवधा भक्ति के नौ स्वरूप इस प्रकार हैं -- संतों की संगति करना, ईश्वरीय कथा प्रसंग में रुचि रखना,अभिमान

१- रा० ७।११८।१-८
२- रा० ७।८६।७-८

रहित होकर गुरु की सेवा करना, ईश्वर के गुण समूह का गान, राम नाम मंत्र का जाप और ईश्वर में विश्वास, इन्द्रिय निग्रह शील, वैराग्य और सम्पूर्ण संसार को ईश्वर से ही ओत प्रोत देखना तथा सब के साथ कपट रहित व्यवहार करना। भक्ति के इन्हीं साधनों के निरन्त परिशीलन के फलस्वरूप साधक में परमात्मा के साक्षात्कार की क्षमता आ जाती है। भक्ति की दृष्टि से तप की भी अनिवार्यता है क्योंकि उसके द्वारा साधक के सम्पूर्ण दु:ख नष्ट हो जाते हैं, उसका अन्त:करण निर्मल हो जाता है। भक्ति के दो रूपों-- निष्काम और सकाम में निष्काम भक्ति ही प्रशंसनीय है, क्योंकि सकाम भक्ति में साधक अभीष्ट पदार्थ प्राप्ति के लोभ कासंवरण नहीं कर पाता और ऐसी अवस्था में विषयों से पार्थक्य सर्वथा असम्भव है। इसीलिए तुलसी भी इस बात पर अधिक महत्त्व देते हैं कि राम की भक्ति केवल मात्र उनकी भक्ति प्राप्ति के लिए ही करनी चाहिए। किसी भी ऐसे व्यक्ति से जो सीता राम से विमुख हैं, वे अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं रखना चाहते। इस कथन को राम के मुख से कहलाकर वे और भी अधिक प्रधानता दे देते हैं --

> वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
> तिन्हके हृदय कमल महुं करउं सदा विश्राम ॥[1]

तुलसी की भक्ति की परिभाषा " जातें बेगि द्रवउं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।" में भक्ति के तीन रूपों की चर्चा की गयी है। पहला रूप भक्ति का अति व्यापक रूप है। परमात्मा को रिझाने वाले प्रत्येक भाव एवं विचार, प्रत्येक क्रिया-कलाप भक्ति के अन्तर्गत आते हैं तथापि जिस भक्ति द्वारा परमेश्वर शीघ्र द्रवित हो जाय वही भक्ति ईश्वर को अत्यधिक प्रिय है और वही भक्तों को सुख देने वाली है। भक्ति के सामान्य रूप के साथ ही इस रूप की चर्चा उसके अतिव्यापक रूप की ओर संकेत करती है। भक्ति का दूसरा रूप व्यापक रूप है। द्रवहुं शब्द से राग-द्वेष दोनों ही भावों को एक साथ प्रकट करते हुए तन्मयता को महत्त्व दिया ईश्वर के प्रति तन्मयता द्वेष मार्ग से प्राप्त हो सकती है --जैसे कि राक्षसों ने प्राप्त की और राग के मार्ग से भी प्राप्त हो सकती है जैसे कि वानरों ने की। इसीलिए तुलसीदास कहते हैं कि राम की भक्ति करो -- प्रसन्नता से वैर-भाव ही से करो-- दोनों से परम पद मिलेगा।[2]

१- रा० ३।१६
२- उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयरु भाव सुमिरत मोहि निसिचर ।
देहिं परमगति सो जियं जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी ॥
-- रा० ६।४५।४-५

इस परिभाषा के अन्तर्गत आया हुआ भक्ति का तीसरा रूप 'सामान्य' ही है जिसमें द्रवहुं का अर्थ दर्शाई होता है अर्थात् साधना का वह मार्ग जिससे परमेश्वर शीघ्र द्रवित हो जाता है--'भक्ति' का मार्ग ही है । यह भक्ति प्रेम-भावना से सम्बद्ध है । इसके अतिरिक्त भी साधक इस भक्ति-पद्धति से परमात्मा के उस स्वरूप की उपासना करता है जो आधि दैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप वाला होकर भी 'व्यक्तिमान्' है और अपने भक्तों से भ्रातृत्व का नाता रखता है । भक्तों को आह्लादित करने वाली यह भक्ति परमात्मा की ही वस्तु है[1] ।

यहां प्रसंगवश भक्ति के साध्य अथवा साधन होने की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी । भक्ति वस्तुत: एक साधन होने पर भी अपने साध्य से अपृथक है ।भक्ति साधन है, क्योंकि उसके द्वारा ईश्वर प्रसन्न होते हैं -- दूसरी ओर भक्ति साध्य भी है, क्योंकि भक्ति होने पर ही ईश्वर रीझता है । अत: भक्ति को साधन और साध्य दोनों ही मानना उचित है । जब तक साधक के अन्त:करण में ईश्वर का प्रेमांकुर प्रस्फुटित नहीं होता तब तक भक्ति साध्य रहता है परन्तु एक बार अन्तस्तल में ईश्वर के प्रति दृढ़ आस्था हो जाने पर वही भक्ति साधन हो जाता है । साधक भक्ति के माध्यम से अपनी समस्त इन्द्रियों को विषयों से पराङ्०मुख करता हुआ, अपने ध्यान को उस परम शक्ति में केन्द्रित करके , अनुदिन उसी के चिन्तन में लीन रहता हुआ वह परमशान्ति को प्राप्त करता है । साधक के लिए अनिवार्य इस भक्ति प्राप्ति के लिए मानस में अनेकानेक साधनों का उल्लेख किया गया है --

जप तप नियम जोग निज धरमा । श्रुति सम्भव नाना शुभ करमा ।
ग्यान दया दमु तीरथ मज्जन । जहं लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।।
आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ।।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर । सब साधन कर यह फल सुन्दर[2]।।

भक्ति के लिए सबसे अनिवार्य साधन प्रभु-प्रेम, उनके नाम का श्रवण और कीर्तन है । मानव शरीर की सार्थकता इसी में है कि वह अपने को भगवदर्चना में

१- तुलसी दर्शन -- बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० २३४-२३७ ।

२- रा० ७।४६।१-४

अर्पित कर दे । यह पार्थिव शरीर नश्वर और सुकर्मों का आधार है , इसी की सुख-सुविधा में लगे हुए जीव की संसार के प्रति लोलुपता बढ़ती जाती है किन्तु साथ ही इस देह का महत्व तब बहुत अधिक हो जाता है जब इसके प्रत्येक क्रिया-कलाप परम पिता को लक्ष्य करके होते हैं । क्योंकि: सभी जीवधारियों में मानव-शरीर बड़े भाग्य से मिलता है , क्योंकि यही कोटि प्राणियों को मुक्ति प्राप्त कराने का साधन है ।[१] अत: इस शरीर से केवल राम का ही स्मरण , जप करना चाहिए --

यहि कलिकाल न साधन दूजा । जोग जग्य जप तप व्रत पूजा ।।[२]

रामहि सुमिरिय गाइय रामहि । संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि ।।

साधक को रूप, ज्ञान आदिक कुछ भी न होने पर भी नाम जप से ईश्वरीय प्रेम प्रादुर्भूत हो जाता है[३], पापी भी भवसागर पार कर लेते हैं । इस नाम का माहात्म्य इतना अधिक है कि स्वयं राम भी उसका गान नहीं कर सकते । इस प्रकार श्रवण और कीर्तन से प्रभु प्रेम को दृढ़ करता हुआ साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है,क्योंकि--

रामहि केवल प्रेम पियारा । जानि लेहु जो जाननि हारा ।।

और भी -- मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किए जोग जप ज्ञान विरागा ।।[४]

संसार के बन्धनों को तोड़ना कठिन है अत: अच्छा यही है कि मनुष्य अपनी सभी आसक्तियों को भगवदर्पित कर दे ।

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ।

सब कइ ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बांध बरि डोरी ।।[५]

इस भगवद्प्रेम के आदर्श स्वरूप चातक और मीन के दृष्टान्त प्रस्तुत किए जा सकते हैं । ईश्वर के प्रति ऐसा दृढ़ प्रेम अनिवार्य है, जैसा चातक और मीन का स्वातिनक्षत्र की एक बूंद और जल के प्रति होता है ।[६]

१- बड़े भाग मानुष तन पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न येहि परलोक संवारा ।। रा०७।४३।७-८

२- रा० ७।१३०।५-६ तथा कवि० ७।८७ ।

३- देखिअहिं रूप नाम आधीना । रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना ।।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने । करतल गत न परहिं पहिचाने ।।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे । आवत हृदय सनेह बिसेषे ।।
-- रा० १।२१।४-६ तथा वि० २०३ ।

४- रा० २।१३७।१, ७।६२।१

५- रा० ५।४८।४-५

६- वि० १७८,रा० ७।१११।६, दो०२७६, ३०८

भक्ति परायण होने के लिए गुरु का आश्रय लेना भी आवश्यक है। गुरु ही साधक की विवेक-बुद्धि को जागृत कर मोह जंजाल को काट सकता है[1]। भगवद्लीला का मर्म समझने के लिए गुरु-सेवा से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। भक्ति की प्राप्ति के लिए राम-कृपा की भांति गुरु-कृपा भी आवश्यक है और इस कृपादृष्टि की प्राप्ति के लिए निरभिमानी होकर गुरु की शरण में जाना अनिवार्य है। गुरु विरोधी को आजन्म यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं, वह नरक का अधिकारी होता है[2]।

भक्ति के चौदह प्रमुख साधनों का उल्लेख बाल्मीकि द्वारा मानस में प्रस्तुत किया गया है[3]। भक्ति के इन चौदह साधनों का नामकरण `मानस पीयूष` में इस प्रकार किया गया है --१. श्रवण, २. रूपासक्ति, ३. कीर्तनम्, ४. पूजासक्ति, ५. नामासक्ति, ६. ज्ञानावृत्ति, ७. भगवदवलम्ब, ८. वैराग्यवृत्ति, ९. सर्वस्वभाव, १०. तितिक्षावृत्ति, ११. कार्पण्य वृत्ति, १२. वैराग्यवृत्ति, १३. अनन्यवृत्ति, १४. शुद्ध प्रेमासक्ति[4]।

श्री माताप्रसाद गुप्त ने भक्ति की इन चौदह भूमिकाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है --नाम जप राम भक्ति की प्रथम भूमिका है। स्वरूपासक्ति(राम के स्वरूप के साक्षात्कार की आकांक्षा) द्वितीय ,भूमिका है। यशकीर्तनासक्ति और पूजासक्ति रामार्चन में अनुराग) चौथी और पांचवीं भूमिकाएं हैं। राम तीर्थों की यात्रा, ब्राह्मण सेवा ० आवश्यक भूमिकाएं हैं। माया से मन को निर्लिप्त रखना लोक निरपेक्ष शुद्ध बुद्धि ,वासनाहीन तथा व्यापक प्रेम, सर्वस्वभाव (समस्त प्रेम सूत्रों को एकत्र कर उन्हें राम में स्थापित करना), लोक संग्रह वृत्ति, स्वदोषानुभूति तथा भागवत भक्ति, वैराग्यवृत्ति, तन्मयता, शुद्ध प्रेमासक्ति-- ये राम भक्ति की भूमिकाएं हैं[5]।

श्री गुप्त जी ने भक्ति के साधनों को तीन वर्गों में विभक्त किया है[6] --प्रथम कर्ममूलक, द्वितीय ज्ञान मूलक और तृतीय भक्तिमूलक। स्वधर्म पालन से तथा ब्राह्मणों की चरण सेवा से मन में वैराग्य भाव उत्पन्न होता है, इस विरक्ति से तथा नवधा

१- वि० १०१,१७३, दो०१४०

२- गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौ बिरंचि संकर सम होई।।रा०७।९३।५

३- रा० २।१२९-१३१।

४- मानस पीयूष, पृ० ६६७

५- तुलसीदास-- माताप्रसाद गुप्त, पृ० ४४५-४५७।

६- वही०, पृ० ४५७।

भक्ति द्वारा साधक ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम में मग्न हो जाता है[१]। यह कर्ममूलक भक्तिमार्ग है ।

राम-भक्ति के लिए जहां विवेक की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है वह साधन ज्ञानमूलक भक्ति के अन्तर्गत है । विषयों से सर्वथा मन को विरक्त करके जब निष्काम भाव से केवल श्रीराम की भक्ति की जाय तब सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं और श्रीराम की भक्ति साधक को प्राप्त होती है ।प्रारम्भ में विषय तृष्णा के विनाशार्थ गुरु के आदेशों का पालन करने की आवश्यकता होती है किन्तु बाद में (अविरल भक्ति की प्राप्ति होने पर) यह विषय लालसा स्वयं नष्ट हो जाती है -- वैराग्य भावना का उदय होता है और विवेक जागृत होता है --

रामकृपां नासहिं सब रोगा । जौं एहि भांति बनै संजोगा ।।
सदगुरु बैद बचन बिस्वासा । संजम यह न बिषै कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।।
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं । नाहिं त कोटि जतन नहिं जाहीं
जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाईं ।।
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई । बिषय आस दुर्बलता गई ।।
बिमल ग्यान जल जबसो नहाईं । तब रह राम भगति उर छाईं[२] ।।

यह भक्ति ईश्वर की कृपा से प्राप्त होती है[३]। किन्तु इस कृपा की प्राप्ति के लिए कुछ क्रियाओं के सम्पादन की भी आवश्यकता पड़ती है अर्थात् भक्ति कृपासाध्य भी है और क्रिया साध्य भी । उसको केवल क्रियासाध्य बतलाने में सबसे बड़ी हानि यह होगी कि साधक का मानस स्वाभिमान युक्त हो जायगा और वह ईश्वर की कृपा को विस्मृत कर देगा । इसके साथ ही एक अन्य अनिष्ट की भी सम्भावना है ।अपने

१- भगति के साधन कहउं बखानी । सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी ।।
प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती । निज निज धरम निरत श्रुति रीती ।।
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा । तब मम धरम उपज अनुरागा ।।
श्रवनादिक नवभक्ति दृढ़ाहीं । मम लीला रति अति मन माहीं ।।
-- रा०३।१६।५-८

२- रा० ७।१२२।५-११

३- सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई । रामकृपा काहूं एक पाई ।। रा०७।१२६।८
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई । राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ।।
-- रा० ७।१२०।११

तथा -- रा० ७।८६।६-८ ।

प्रयास में असफल हुआ असन्तुष्ट साधक अकर्मण्य बन जायगा , ईश्वर के प्रति उसकी आस्था भी कम हो जायगी । भगवान की कृपा पर पूर्णरूपेण आश्रित हो जाने पर साधक में असन्तोष की भावना कभी आ ही नहीं सकती । किन्तु भक्ति को केवल कृपासाध्य ही बता दिया जायगा तो साधक के अकर्मण्य व और किंकर्तव्यविमूढ़ बनने की आशंका होगी । साधक लोक-संग्रह की भावना को छोड़कर केवल ईश्वर की कृपा का अवलम्बन लेगा ।" वास्तव में क्रिया के बिना कृपा नहीं हो सकती और कृपा के बिना क्रिया के फल की सिद्धि भी नहीं हो सकती । बीज और वृक्ष की भांति कृपा और क्रिया अन्योन्याश्रित हैं ।.... कर्म चक्र ही भगवान का न्याय है और निर्हेतुक कृपा ही उनकी दया है ।......इसीलिए गोस्वामी जी ने अपने मानस में दोनों का सुन्दर सामंजस्य करके बड़गल, तिंगल आदि सभी सम्प्रदाय वालों को समेट लिया है । भक्ति के लिए भगवान की कृपा अनिवार्य साधन है ही । परन्तु वह साधन तो ईश्वराधीन है । इसलिए भक्ति के साधनों की चर्चा में जीवाधीन साधनों अर्थात् क्रियाओं का ही विशेष उल्लेख होता है ।[1] इन्हीं कारणों से तुलसी ने क्रिया और कृपा दोनों में अटूट सम्बन्ध स्थापित किया है । एक और तो वे भगवान की कृपा को महत्त्व देते हैं तथा दूसरी ओर कर्म के सम्बन्ध में भी सचेत करते हैं ।[2] ईश्वर अकारण कृपालु अवश्य है किन्तु वह जीवन को उनके कर्मानुसार फल देता है ।[3] अतः साधक को यदि अपनी साधना के अनन्तर भी भक्ति प्राप्ति न हो तो उसे अपने पूर्व कर्मों को प्रतिबन्धक समझना चाहिए तथा इसी प्रकार साधना के बिना भी कृपा प्राप्ति होने पर पूर्व पुण्यों का उदय हुआ मानना चाहिए । अर्थात् साधक ने यद्यपि पूर्व जन्मों में पुण्य किये थे किन्तु कतिपय प्रतिबन्धकों के कारण उनका फल उसे नहीं मिल सका । इस जन्म में उनके नष्ट हो जाने पर कृपा की प्राप्ति हुई । तुलसीदास इसी मर्म को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि --

---

१- तुलसी दर्शन, पृ० २९०-२९२ ।

२- यह गुन साधन ते नहिं होई । तुम्हरिहि कृपा पाव कोइ कोई ।।
--रा० ४।२१।६

३- काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता । निज कृत करम भोग सब भ्राता ।।
-- रा० २।९२।४

तथा-- करम प्रधान विश्व रचि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ।।
-- रा० २।२१९।४

केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तौ न जानि परयो[1] ।
तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जोवत पंथ परयो ।।

इस प्रकार अपने कर्मों को उचित रीति से करते हुए साधक ईश्वर की कृपा और उसके फलस्वरूप भक्ति की प्राप्ति करता है । कृपा प्राप्ति के लिए अनिवार्यता इस बात की है कि निष्कपट हृदय से राम का भजन किया जाय । राम प्रेम से ही प्रसन्न होते हैं और भक्त के साथ उन्हें केवल प्रेम का ही नाता मान्य है । शबरी का वृत्तान्त इसमें दृष्टान्तस्वरूप है जिसके प्रगाढ़ प्रेम के वशीभूत होकर जूठे बेर खाने में भी राम तनिक भी संकुचित नहीं हुए । राम की कृपा प्राप्ति के अनन्तर उनके दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करके जीव संसृति सागर को बिना किसी आयास के पार कर लेता है । भौतिक पदार्थ उसे स्वप्नवत् असत्य प्रतीत होने लगते हैं और इस प्रपंचात्मक जगत की सत्ता मिट जाती है ।

इस ईश्वर प्रदत्त भक्ति के सम्पादनार्थ रामकाव्य में दो प्रकार की उपासना पद्धति का प्रयोग मिलता है । प्रथम मधुरोपासना तथा द्वितीय दास्यभाव से समन्वित उपासना । मधुर की अपेक्षा दास्यभावना उसमें अधिक विस्तारपूर्वक अंकित की गई है माधुर्य भाव का चित्रण जहां हुआ है वहां शृंगार मिश्रित भक्ति का ही प्राधान्य है । सर्वथा मर्यादावादी दृष्टिकोण होने के कारण शृंगार का परिष्कृत रूप ही रामकाव्य में ग्राह्य हुआ है । इस रसिक साधना के प्रवर्तक अग्रदास माने जाते हैं । अग्रदास ने हिन्दी भाषा में `ध्यान मंजरी` की रचना करके अपने प्राचीन समय से चली आ रही रसिक साधना को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया । रसिक साधना को महत्त्व देते हुए उन्होंने यहां तक बताया कि रामक रसामृत का एक बार पान कर लेने पर ज्ञान, योग तप आदि ईश्वरीय साधन छांछ की भांति नीरस प्रतीत होने लगते हैं[2] । किन्तु इस अलौकिक रस का आस्वादन केवल रसिक भावना द्वारा ही किया जा सकता है, अन्य भाव द्वारा नहीं[3] ।

१- वि० २३६।७

२- अमल-अमृत-रसधार रसिक जन यदि रस पागे ।
तेहि को नीरस ज्ञान योग तप छोई लागे ।।
--ध्यान मंजरी, पृ०२४, रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृ०८८ से उद्धृत ।

३- यह दम्पति कर ध्यान रसिकजन नित प्रति ध्यावै ।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुं नहिं पावै ।।
-- ध्यान मंजरी, पृ० २२ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय,पृ०८८ ।

रामकाव्य के अन्तर्गत तुलसी साहित्य में यद्यपि दास्य भावना का प्राबल्य ही सर्वोपरि है, माधुर्य उसमें यत्र तत्र ही देखने को मिलता है तथापि कुछ विद्वानों का मत है कि तुलसी की उपासना ऊपर से दास्य परन्तु अन्दर से माधुर्य भाव की थी। इस सम्बन्ध में श्री चन्द्रबली पाण्डेय तथा डा० भगवती प्रसाद सिंह के मत उल्लेखनीय है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने विनयपत्रिका में आए हुए एक पद[1] के अन्तर्गत 'प्रभुदासी-दास कहाइ' का अर्थ करते हुए बताया है कि तुलसी रसिक भाव के अनुसार अपने को राम की दासी कहना चाहते हैं। 'प्रभुदासीदास' का अर्थ प्रभु की दासी-- तुलसी का दास (अर्थात् तुलसीदास) भी हो सकता है और यह भी कि दासी रूप में वे तुलसी हैं और दास रूप में तुलसीदास[2]। किन्तु प्रसंग की दृष्टि से पाण्डेय जी का यह तर्क उचित नहीं। दासी-दास पद उनकी दैन्य भावना का द्योतक है। डा० भगवती प्रसाद गीतावली के कुछ पदों तथा व्रजनिधि की साक्षी के आधार पर तुलसी के रसिक भावना की पुष्टि करते हैं। गीतावली के आधार पर वे कहते हैं कि --
गीतावली का एक पद है --

> जैसे ललित लखन लाल लोने।
> तैसिये ललित उरमिला परसपर लखत सुलोचन कोने।
> सुखमासागर सिंगारसार करि कनक रचे हैं--तिहि सोने।
> रूप प्रेम-- परमिति न परत कटि थिथकि रही मति मौने।
> सोभा सील सनेह सोहावने समउ केलि गृह गौने।
> देखि तियन के नयन सफल भये, तुलसीदास हू के होने।

'केलि गृह' की झांकी से 'तियनि' का 'नयन सफल' करना तथा तुलसी का उस दृश्य के प्रति औत्सुक्य प्रकट करना उनकी मधुर साधना की ओर संकेत करता जान पड़ता है[3]। गीतावली के ही एक अन्य पद के आधार पर इन्होंने तुलसी में तत्सुखी भाव बतलाया है। गीतावली में वनयात्रा के प्रसंग में ठीक उसी अवसर पर जहां 'मानस' में एक 'तपस' आता है कहीं से आकर सहसा उपस्थित एक स्त्री की प्रेम विह्वलता का अंकन किया है --

---

१- वि० ४१।२
२- नया समाज, अंक ३ सितम्बर १९५३, पृ०१९०-१९१ में 'तुलसी की गुप्त साधना' शीर्षक लेख।
३- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १०५-६

सखिहि सुसिख दई प्रेम मगन भई ।
सुरति बिसारि गई आपनी ओही ।।
तुलसी रही है ठाढ़ी पाहन गढ़ी सी काढ़ी ।
न जाने कहां ते आई कौन की कोही[1] ।।

स्वामिनी सीता की कृपादृष्टि से उसे देखने और हृदय से लगाने का भी उल्लेख हुआ है --

स्नेहशिथिल सुनि बचन सकलसिय,
चितई अधिक हित सहित ओही ।
तुलसी मनहुं प्रभु कृपा की मुरति फिरि
हेरि के हरषि हिय लियो है[2] ।

इस प्रसंग में सहसा सीता राम के समक्ष उपस्थित होने वाली तथा सीता द्वारा हृदय से लगाई जाने वाली , इस स्त्री को यदि 'तापस' की भांति तुलसी से अभिन्न मान लिया जाय तो कहा जा सकता है कि मानस में , उनका आराध्य के प्रति आत्मनिवेदन दास्यभाव का था किन्तु गीतावली में उनका आत्मसमर्पण माधुर्य भाव से प्रेरित था पहले वे दास्य निष्ठा के अनुसार इष्टदेव के चरणों पर गिरे थे किन्तु इस बार माधुर्य भाव सम्पन्न सखी रूप में वे स्वामिनी सीता के हृदय से लगे । कारण कि रसिक सिद्धान्त के अनुसार सखियाँ सीता के पुरुषकारत्व से ही प्रभु सेवा की अधिकारिणी होती है । अज्ञात स्त्री का यह प्रसंग कदाचित् इसी तथ्य का समर्थन करता है[3] ।

'व्रजनिधि' की साक्षी के आधार पर उनका अनुमान है कि तुलसी की रसिक भावना के कारण व्रजनिधि ने उन्हें 'सखी' कहा है[4] ।

जहां तक गीतावली के प्रथम पद का सम्बन्ध है, उसमें आराध्य सीता-राम की केलि के स्थान पर उर्मिला तथा लक्ष्मण की केलि-वर्णन है । तुलसी का लक्ष्य माधुर्य भाव के अंकन का न होने से उन्होंने यहां भी केलि का वर्णन नहीं किया है । इस विषय में गीतावली का दूसरा पद भी ठीक नहीं । मानस के तापस तथा गीतावली

१- गीता० २।१६-४
२- वही०, २।२०-४
३- रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ०१०६-७ ।
४- वही०, पृ० १०६-१० ।

के स्त्रीरूप में तुलसी का ही चित्रण हुआ है । इस सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण नहीं दिये जा सकते । फिर मानस में तापस के लिए प्रयुक्त तेजपुंज आदि विशेषण दैन्य भाव युक्त तुलसी अपने लिए नहीं कर सकते ।

यह स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि तुलसी की मधुर रस की उपासना में विशेष आस्था न थी । फिर भी मानस के कुछ स्थलों में कृष्ण गीतावली , बरवै रामायण तथा गीतावली के उत्तरकाण्ड में विशिष्ट रूप से मधुर भाव के चित्र देखने को मिलते हैं । इन वर्णनों में तुलसी का मर्यादावाद ही प्रबल है । कवितावली एवं विनयपत्रिका में एकाध स्थल मधुर भावना के है परन्तु वहां दास्य भाव का ही समर्थन अधिक है । यहां हम तुलसी द्वारा चित्रित माधुर्य भाव सम्बन्धी कुछ पदों का पर्यवेक्षण करेंगे । राम को तुलसी ने सर्वत्र शक्तिशील एवं सौन्दर्य से समन्वित दिखाया है । उनमें सौन्दर्य तत्व माधुर्य भाव से सम्बद्ध है । गीतावली के उत्तरकाण्ड में कवि ने राम के रूप और यौवन के कुछ उन्मादक चित्र मिलते हैं । प्रिया के प्रेमरस में पगा श्रीराम का शरीर प्रात: सो कर उठने पर भी आलस्यपूर्ण है । नेत्र उनके अब भी उनींदे है --

स्यामल सलोने गात आलसबस जंभात, प्रिया प्रेम रस पागे ।
उनींदे लोचन चारु मुख सुखमा सिंगार हेरि हारे मार भूरि भागे ।।[1]

मज्जनोपरान्त सरयू तट पर खड़े हुए राम की सौन्दर्य सुषमा का सखी इस प्रकार वर्णन करती है --

बिथुरति सिरूह वरूथ कुंचित, बिच सुमन-जूथ
मनि जुत सिसु- फनि अनीक ससि समीप आई ।
जनु सभीत दै अंकोर राखे जुग रुचिर मोर
कुण्डल छवि निरखि चोर सकुचत अधिकाई ।।
ललित भृकुटि,तिलक, भाल,चिबुक अधर द्विज रसाल
हास चारुतर कपोल नासिका सुहाई ।।[2]

१- गीता० ७।२-२

२- वही०, ७।३-३

मानस में भी वाटिका विहार, मनु सतरूपा तथा विवाह आदि प्रकरण में राम का नखशिख सौन्दर्य देखने को मिलता है। इसी प्रसंग में सामूहिक आनन्द की दृष्टि में रखते हुए तुलसी ने हिंडोला तथा बसंत आदि का वर्णन किया है । हिंडोला वर्णन इस प्रकार है --

आली री राघो के रुचिर हिंडोलना झूलन जैयें ।
उनए सघन घनघोर मृदु झरि सुखद सावन लाग ।
बगपांति, सुरधनु, दमक, दामिनि, हरितभूमि विभाग ।।
सो समौ देखि सुहावनो नव सत संवारि संवारि ।
गुन रूप जोबन सींव सुन्दरि चली झुण्डनि झारि ।।
हिंडोल साज बिलोकि सब अन्चल पसारि पसारि ।
लागी असीसन राम सीतहिं सुख समाजु निहारि ।।[1]
इत्यादि ।

बसंत की सुषमा निम्न पंक्तियों में देखिये --

खेलत बसंत राजाधिराज । देखत नभ कौतुक सुर समाज ।
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ । झोलिन्ह अबीर, पिचकारि हाथ ।
बाजहिं मृदंग डफ ताल बेनु । छिरकैं सुगंध भरे मलय रेनु ।।
उत जुवति जूथ जानकी संग । पहिरे पट भूषन सरस रंग ।
लिए छरी बेंत सोधें बिभाग । चांचरि झूमक कहैं सरस राग ।।
नूपुर किंकिनि धुनि अति सोहाइ। ललना गन जब जेहि धाइ धाइ ।।
लोचन आंजहि फगुआ मनाइ । छाड़हि नचाइ हा हा कराई ।।[2]

चित्रकूट प्रसंग के अन्तर्गत राम सीता के माधुरी विलास का भी वर्णन मिलता है --

बिरचित तंह परनसाल , अति बिचित्र लखनलाल ।
निवसत जहं नित कृपाल राम जानकी ।।
निज कर राजीव नयन पल्लव दल रचित सयन ।
प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की ।।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास ।
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ।।[3]

१- गीता०, ७।१८
२- वही० ७।२०
३- वही० २।४४।३-४

इसी प्रकार लक्ष्मण उर्मिला के केलिगृह का वर्णन करते हुए `केलिगृह` के दर्शन का सौभाग्य किसी सखी को ही देते हैं। इस रति भावना का उदय सीता में नायक राम के गुण श्रवण के अनन्तर होता है --

तासु वचन अति सियहिं सुहाने । दरस लागि लोचन अकुलाने[1] ।

दूसरी ओर नूपुर की ध्वनि सुनकर श्रीराम में भी इसी औत्सुक्य का जन्म होता है --

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदयगुनि ।।
मानहुं मदन दुंदुभी दीन्हीं । मनसा बिस्व बिजय कंह कीन्हीं[2] ।।

धनुर्भंग के प्रसंग में धनुष न टूटने तक सीता की मनोभावनाओं का सुन्दर चित्रण मिलता है । राम के सौन्दर्य को देखकर वे अपने पिता पर कभी खीजती हैं और कभी परीक्षा की कठोरता पर विचार करती हैं , कभी वे अधीर होकर रुदन करने लगती हैं किन्तु कभी अपनी व्याकुलता पर लज्जित हो जाती हैं --

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी । प्रगट न लाज निसा अवलोकी ।।
लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपन कर सोना ।।[3]
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी । धरि धीरज प्रतीति उर आनी।।

धनुर्भंग के पश्चात् नायिका सीता के आनन्द की स्थिति अवर्णनीय हो जाती है --

सीय सुखहिं बरनिअ केहि भांती । जनु चातकी पाइ जलु स्वाती[4] ।।

मधुर भाव के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का मर्यादित चित्रण भी रामकाव्य में प्राप्त होता है । किन्तु कृष्ण काव्य की गोपियां जैसे लोक लज्जा का परित्याग कर देती हैं, वैसे रामकाव्य की सीता तथा नारियां नहीं करतीं । सीता राम के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं तथा वे उन्हें वर रूप में प्राप्त भी करना चाहती हैं । पर वे कहीं भी इस भावना को प्रकट नहीं करतीं । भवानी के पूजन के समय वे अपने

१- रा० १।२२९।७

२- रा० १।२३०।१-२

३- रा० १।२५९।१-३

४- रा० १।२६३।६

मनोभावनाओं को बड़ी ही शालीनता से बिना कुछ उस सम्बन्ध में कहे हुए ही प्रकट कर देती है --

पूजि पारबती भले भाँय परिकै ।
सजल सुलोचन सिथिल तनु पुलकित,
आवै न बचन मन रह्यो प्रेम भरिकै ।
अन्तरजामिनि भवभामिनि स्वामिनि सों हो
कही चाहौं बात, मातु, अंत तौ हौं लरिकै ।।
मुरति कृपाल मंजु माल दै बोलत भई
पूजो मन कामना भावतो बरु बरिकै ।।२४[१]

दाम्पत्य रति का एक अन्य चित्र गीतावली में वन में निवास करते हुए राम सीता में देखने को मिलता है --

फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरित छवि बितान की ।
मंदाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की ।
....
बिरचित तहं पर्नसाल अति बिचित्र लषन लाल
निवसत जहं नित कृपाल राम जानकी ।
निज कर राजीव नयन पल्लवदल रचित सयन
प्यास परस्पर पियूष प्रेम प्रान की ।
सिय अंग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन बिभाग
तिलक करनि का कहौं कृपानिधान की ।
माधुरी बिलास रास गावत जस तुलसिदास
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ।।[२]

१- गीता० १।७२

२- वही० २।४४

रामसीता के लावण्य से सम्बन्धित इसी प्रकार के अन्य पद भी दिखाई पड़ते हैं किन्तु उन सभी स्थलों में दर्शन मात्र से ही संयोग का चित्रण किया गया है । यहां पर भी कवि का मर्यादावादी दृष्टिकोण ही कार्य कर रहा है । वियोग शृंगार के वर्णन में भी कवि की यही पद्धति दृष्टिगत होती है । सीता तथा राम दोनों का ही वियोग मर्यादित है । सुन्दरकाण्ड के अन्तर्गत सीता के चरित्र में वियोग का पुष्ट स्वरूप हमें देखने को मिलता है । रावण द्वारा हरी जाने पर वह राम के विरह से शोकाकुल हैं । हनुमान के समीप पहुंचने पर वे आश्वस्त होकर अपना विरह इस प्रकार प्रकट करती है --

तात । ताहे सों कहत होति हिये गलानि ।
मन को प्रथम पन समुझि अछत तनु,
लखि गइ गति भइ मति मलानि ।।
पिय को बचन परिहर्यो जिय के भरोसे,
संग चली बन बड़ो लाभ जानि ।
पीतम विरह तौ सनेह सरबसु सुत ।
औसर को चूकिबो सरिष न हानि ।।२।।
....
इतनी कही सों कही सीय, ज्यों ही त्यों ही
रही प्रीति परी सही, बिधि सों न बसनि[1] ।।४।।

सीता के वियोग में मर्यादा के साथ ही भारतीय का शील और संकोच सर्वत्र विद्यमान दीखता है ।। उनके वियोग में स्वाभाविकता है हनुमान के प्रति कही गई व्यथापूर्ण उक्तियों में उनकी भावना की कोमलता दर्शनीय है ।

सीता के वियोग की अनुभूति से राम भी व्याकुल हो गए । राम के इस विरहोन्माद का चित्रण मानस में सीताहरण के अनन्तर आश्रम में राम के लौटने पर बड़ा ही मार्मिक हुआ है । राम को प्रकृति कभी उन पर व्यंग्य करते हुए और कभी उनका उपहास करते हुए दिखलाई देती है ।

नारि सहित सब खग मृग बृन्दा । मानहु मोरि करत हैं निन्दा ।
हमहिं देखि मृग निकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहं भय नाहीं

१- गीता० ५।७

तुम्ह आनन्द करहु मृग जाये । कंचन मृग खोजन में आये ।।

\+ \+ \+

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम देखी सीता मृगनैनी ।।

खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुप निकर कोकिला प्रवीना ।।

कुंद कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ।।

बरुन पास मनोज धनु हंसा । गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।।

श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ।।[1]

सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनु राजू ।।

राम की यह वियोग-भावना सीता के वस्त्राभूषण देकर और भी उद्दाम हो जाती है --

भूषन बसन बिलोकत सिय के ।

प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तनु, नीरजनयन नीर भरे पिय के ।।

सकुचत कहत सुमिरि उर उमगत, सील सनेह सगुन गन तिय के ।।

स्वामि-दसा लखि लखन सखा कपि, पिघले हैं आँच माठ मानो घिय के

सोचत हानि मानि मन, गुनि गुनि, गये निकटि फल सकल सुकियके

बरने जामवंत तेहि अवसर, बचन बिबेक बीररस बियके ।।

धीर बीर सुनि समुझि परसपर, बल उपाय उघटत निज हियके ।[2]

तुलसिदास यहु समउ कहेते कबि लागत निपट निठुर जड़ जियके ।।

बरवै रामायण में वियोग शृंगार का रूप अधिक निखरा हुआ दिखाई पड़ता है ।

बरवै रामायण में सखियां रसिक सम्प्रदाय के अनुकूल राम की रूपासक्त उपासिकाओं के रूप में दिखलाई गई है । माधुर्य चित्रण की दृष्टि से 'श्रीकृष्ण-गीतावली' भी उल्लेखनीय है जिसमें कृष्ण एवं गोपियों के प्रेम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । कृष्ण का अलौकिक सौन्दर्य तथा उसके प्रति गोपियों का आकर्षण, उनकी पारस्परिक रति, संयोग एवं अन्त में गोपियों का कृष्ण के प्रति वियोग सरलता पूर्वक 'कृष्णगीतावली' में वर्णित हुआ है । किन्तु ये वर्णन

१- रा० ३।३७।४-६, ३।३०।६-१४ ।

२- गीता० ४।१

मानस तथा गीतावली की भांति सजीव नहीं है । सूर का वर्णन उनकी अपेक्षा अधिक सरस है ।

भक्ति का दूसरा रूप 'दास्य भक्ति' है । रामकाव्य में आद्योपान्त राम की मधुर मूर्ति को हृदय में बसाने पर ज़ोर दिया गया है । भगवद्विषयक विशुद्ध आत्म-निवेदन और आत्मसमर्पण की भावना में ही कवि के हृदयोद्गार प्रस्फुटित हुए हैं । यह दास्यभावना मानस आदि कृतियों के अतिरिक्त विनयपत्रिका में विशिष्ट रूप से लक्षित होती है । तुलसी अपनी 'जीवन अवधि' को अत्यन्त निकट देखकर प्रत्येक स्थल पर राम से इसी भक्ति की याचना करते हैं ।[१]

भगवान को स्वामी और अपने को उनका सेवक समझना 'दास्य' है ।[२] तुलसी की भक्ति के समस्त लक्षण इस 'दास्य' के ही लक्षण हैं । दास्य भावना के लिए मन, वाणी एवं कर्म से राम का सेवक होना आवश्यक है ।[३] सेवक में दैन्य, निःस्वार्थ-परता, अनन्यता तथा भगवत्कैंकर्य भगवान से स्वदोषों के प्रति उपेक्षा दृष्टि, रखने की प्रार्थना, आराध्य की पूजा और आराधना आत्मदोषानुसंधान आदि आवश्यक हैं ।

भक्त सर्वत्र अपने आराध्य की महानता और उनके समक्ष अपनी व तुच्छता प्रतिपादित करने में तनिक भी नहीं थकता । ईश्वर जितना ही महान है, भक्त अपेक्षाकृत उतना ही क्षुद्र महामोह का अधिष्ठान और काम क्रोध से लिप्त है । सेवक स्वामी पर अटल विश्वास रखता है, उन्हें मालूम है कि करुणानिधान भगवान उनकी आर्त वाणी सुनकर अवश्य ही द्रवित होंगे । तुलसी की विनयपत्रिका आद्यन्त इसी आर्तपुकार से भरी है । आराध्य की महानता और अपने लघुत्व को समझकर ही भक्त को एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है । तुलसी इसी बात का अनेकशः उल्लेख करते नहीं थकते --

> कह्यो न परत, बिनु कहे रह्यो न परत
> बड़ो सुख कहत बड़े सो बलिदीनता ।
> प्रभु की बड़ाई बड़ी अपनी छोटाई छोटी
> प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता ।।[४]

१- वि० २७३।३

२- सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।। रा० ४।३

३- वि० ७२।२ ।

४- वि० २६२।१

राम तो सदैव से ही कृपा सागर अनाथों के नाथ दीन-दु:खियों के संरक्षक हैं, फिर अपने भक्त के प्रति वे कैसे तटस्थ रह सकते हैं। यह तो सेवक का ही दोष है कि वह अपने मन को पापाचरण में लगाकर राम भक्ति से विमुख कर देता है। निम्न पदों में सेवक की आर्त वाणी की सुन्दर अभिव्यंजना की गई है --

हे प्रभु ! मेरो ई सब दोसु ।

सील सिन्धु कृपालु नाथ अनाथ आरत- पोसु ।।
वेष वचन विराग मन अघ अवगुननि को कोसु ।
राम प्रीति प्रतीति पोली, कपट करतब ठोसु ।
राग रंग कुसंग ही सो साधु संगति रोसु ।।
चहत केहरि जसहिं सेइ सृगाल ज्यों खरगोसु ।
संभु सिखवन रसन हूं -- नित राम नामहिं घोसु ।।
दंमहु कलि नाम कुंभज सोच-सागर -सोसु- सोसु ।।
मोद मंगल मूल अति अनुकूल निज निरजोसु ।
राम नाम प्रभाव सुनि तुलसिहि परम परितोसु ।।[1]

\+ \+ \+

कैसे देउं नाथहिं खोरि ।

काम लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ।।
बहुत प्रीति पुजाइबो पर पूजिबे पर थोरि ।
देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता अस मोरि ।।
किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि ।
संग बस किए सुभ सुनाए सकल लोक निहोरि ।।
....
....
एतहुं पर तुम्हरो कहावत, लाज अंचई घोरि ।
निलजता पर रीझि, रघुबर देहु तुलसिहि छोरि ।।[2]

१- वि० १५६

२- वि० १५८

प्रभु को यह विश्वास दिलाने के लिए कि यह सेवक उन्हीं का है। उसके हृदय में उसी की प्रेमाभक्ति है । तुलसी जनों को सर्वत्र सीताराम का सेवक स्वीकार करते हैं । सेवक के लिए अपने स्वामी का ही भरोसा है , वही उसका सर्वस्व है फिर ऐसे आश्रय को छोड़कर वह कहां जाय । प्रभु व्यतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय सेवक को ग्राह्य नहीं ,उसकी एकनिष्ठा भक्ति राम के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति नहीं झुकती । साधक का अपने स्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी पर दृढ़ विश्वास तथा अटूट श्रद्धा नहीं रहती फलत: वह अपने स्वामी के अलावा अन्य किसी से किसी भी प्रकार की याचना ~~करके~~ नहीं करता है । इस दास्य भावना का सुन्दर रूप निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है जिसमें भक्त के सच्चे हृदयोद्गार और उसकी अनन्य निष्ठा दर्शनीय है --

गरैगी जीह जो कहाँ और को हों ।

जानकी जीवन । जनम जनम जग ज्यायो तिहारे हि और को हों।[1]

अपने आराध्य के प्रति भक्ति में रत हुए साधक को संसार द्वारा उपहसित होने का तथा अन्य लोगउसके सम्बन्ध में क्या सोचेंगे आदि बातों की किंचितमात्र भी परवाह नहीं रहती[2] । श्रीराम को ही अपना एकमात्र स्वामी मानने के कारण सेवक जहां एक ओर अपने स्वामी को मां बाप तथा जीवनरक्षक बताता है, उनकी कृपा के लिए घिघियाता है, वहीं दूसरी ओर वह शरणागति तथा भक्तवत्सलता आदि गुणों की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट करवाता है । सेवक राम नाम का माहात्म्य सुनकर उनकी शरण में आया है अत: वह नितान्त निष्कपट भाव से कह देता है कि मैं तो सेवक हूं- मुझे अपयश प्राप्ति का कोई भय नहीं, परन्तु आपको तो सारा जग भक्तवत्सल,पतितपावन के रूप में जानता है । अत: मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा, पर आपकी धवल कीर्ति कलंकित हो जायगी --

मेरी तौ थोरी ही है, सुधरैगी बिगारियौ ।
बलि राम रावरी सौं रही रावरी चहत ।[3]

१- वि० २२६।१

२- रावरी सुधरी जो बिगारी बिगरैगी मेरी
   कहौं बलि वेद की न लोक कहाकहैगो । वि० २५६।२

३- वि० २५६।३

भक्त के इस कथन में हृदय की सरलता दर्शनीय है । वह जब अपने पापों के कारण अपना उद्धार होते नहीं देखता तो स्वामी का ध्यान उनके विरुद की ओर आकृष्ट करता है । शायद स्वामी अपने यश के रक्षार्थ उसका उद्धार कर दे । इस अनन्यनिष्ठा के कारण दास में इतना साहस आ जाता है कि वह अबोध बालक की भांति अपने अन्तस्तल की समस्त बातें प्रभु के समक्ष रख देता है । झुंझलाहट होने पर उलाहना भी देता है । क्योंकि उलाहना उसी व्यक्ति को दी जाती है जिससे अपना घनिष्ट सम्बन्ध रहता है । सेवक अधिकारपूर्वक स्वामी को सचेत कर देता है कि वह या तो उसको अपनी शरण में ले ले अन्यथा मार डाले । इन दोनों ही बातों को अस्वीकृत कर देने पर सेवक को मजबूरन राम नाम को तत्वहीन कहना पड़ेगा :-

राखिये नीके सुधारि नीच को डारिए मारि
दुहूं ओर की विचारि अब न निहोरिहें ।
तुलसी कही है सांची रेख बार बार खांची ,
ढील किए नाम महिमा की नाव बोरिहौं ।।[1]

सेवक का यह कथन अनन्यनिष्ठा एवं आत्मीयता से पूर्ण है । उनका प्रमुख लक्ष्य यही है कि वह किसी प्रकार श्रीराम के चरणों में दृढ़ भक्ति प्राप्त करे । इसी कारण वह कभी अपने स्वामी को मां बाप कहता है , कभी कहता है कि वहह राम नाम की महिमा सुनकर ही शरण में आया है, कभी उनकी कृपा की याचना करता है तो कभी उनकी यश कीर्ति की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता है ।

भक्त अपने प्रत्येक अंग से राम की सेवा का प्रयत्न करता है । वह अपनी जीभ को राम नाम रटने का तथा परनिन्दा प्रसंग के परित्याग का आदेश देता है[2] । अपने मन को समझाते हुए वह राम भजन की ओर प्रेरित करता है[3] । यह नितान्त सत्य है कि जब तक जीव भगवान का दास नहीं हो जाता है तब तक उसे कष्ट झेलने ही पड़ते हैं । एक बार सच्चा सेवक बन जाने पर सिद्धि स्वत: ही मिल जाती है[4] ।

१- वि० २५८।४
२- वि० २३७।१-५
३- वि० २४७।१
४- जब लगि मैं न दीन दयालु तैं मैं न दास तैं स्वामि ।
तब लगि जो दु:ख सहेउं कहेउं नहिं जद्यपि अन्तरजामि ।।
वि० ११३।२

दास्य भाव की महानता स्पष्ट है, क्योंकि उसमें स्वामी सेवक के दोषों की ओर ध्यान देकर भक्त की रुचि का, उसकी इच्छा का सदैव ध्यान रखता है[1]। वैसे तो सभी स्वामियों का अपने सेवक पर स्नेह होता है परन्तु राम को उनके दास बहुत प्रिय हैं[2]। भगवान पूर्णरूप से सेवक के वश में रहते हैं। वे अपने सेवक के सुख में प्रसन्न रहते हैं, साथ ही अपने सेवक के शत्रु से प्रतिकार करने में भी नहीं चूकते[3]। इधर भगवान का दास हो जाने पर भक्त को किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि उसका पूरा भार उसके स्वामी पर रहता है। वे ही उसके पोषणकर्ता हैं वे ही उसके रक्षक हैं[4]।

तुलसी अपने आराध्य को, माता, पिता, गुरु, संरक्षक सभी कुछ मानते हैं। उनकी यह भावना क भी दास्य भक्ति के अन्तर्गत आती है। जिस प्रकार से माता पिता अपने पुत्र को अथवा गुरु अपने शिष्य को प्यार करता है तथा उनके हित-अनहित का सदा ध्यान रखता है, व ठीक वैसे ही भगवान भी अपने सेवक का हित-चिंतक और शुभेच्छुक होता है। साथ ही पुत्र की माता-पिता के प्रति तथा शिष्य की गुरु के प्रति जो आदर भावना रहती है, और वे जिस तत्परता से उनकी आज्ञा का पालन करते हैं वैसे ही सेवक भी अपने स्वामी के आदेश का पालन करते हैं। दास के लिए आवश्यक है कि वह मन, वाणी और कर्म तीनों से ही राम का सेवक हो। उसको सुशील तथा पवित्र होना चाहिए। ईश्वर के प्रति अनन्य भावना के साथ ही दीनता, नि:स्वार्थता आदि गुण भी अपेक्षित है।

दास्य भक्ति की विभिन्न विशेषताओं के कारण सेवक ब्रह्म में लीन होना नहीं चाहता, वह जन्म जन्मान्तर पर्यन्त राम के चरणों में रति का वरदान मांगता है। वास्तव में जीव और ब्रह्म के अस्तित्व को पृथक मानने में ही भक्ति सिद्धान्त की

१- दो० ४७-४८ ।

२- रा० ७।१६।८ सब के प्रिय सेवक यह नीती । मोरे अधिक दास पर प्रीती ।।

२- रा० ७।८६ सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग ।

रा० ७।८७ सत्य कहउं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय

३- मानस सुख सेवक सेवकाई ।सेवक बैर बैर अधिकाई ।।रा० २।२१९।२
देखेउ प्रभु सेवक अस अहई ।भगत हेतु लीला तनु गहई ।।रा०१।१४४।७

४- प्रीति राम नाम सो प्रतीति राम नाम की ,प्रसाद राम नामु के पसारि पाय सूतिहौं।।कवि०७।६६

सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहै असोच बनइ प्रभु पोसे ।। रा० ४।३।४

सार्थकता है । दोनों को एक मानने पर भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । तथापि केवल द्वैत भावना से जीव ब्रह्म की भक्ति नहीं कर सकता । वह पूर्ण भक्ति का अधिकारी तभी होगा, जब उसमें दैन्य भाव का उदय होगा, वह निरभिमानी होकर परमेश्वर की महानता और उसके समक्ष अपनी हीनता का अनुभव करेगा । भगवान राम की महानता के समक्ष सुग्रीव कितनी नम्रता से उनके प्रति अपना सखा भाव त्याग कर अपना दासत्व स्वीकार करता है --

सुख सम्पति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहउं सेवकाई[1] ।

राज्य पाकर वह अपनी इस प्रतिज्ञा को भूल जाता है किन्तु किष्किन्धापुरी में लक्ष्मण का क्रोध पुन: उसे अपनी दीनता का ज्ञान कराता है और वह राम का सच्चा सेवक बन जाता है । यह दैन्यभावना भक्ति को दृढ़ बनाने में सहायक होती है । नवधा भक्ति के दो अंग पादसेवक तथा आत्मनिवेदन इस दैन्यभावना से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है । श्रीराम के चरण कमलों की सेवा करना सेवक का धर्म है । आत्मनिवेदन की भावना में भी दैन्य का ही प्राधान्य रहता है । भक्त भगवान को ही अपना आश्रय समझ कर उनके प्रति अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है । स्वामी से उसका कुछ भी दुराव नहीं रहता । भगवान को ही एकमात्र अपना शरणागत समझता हुआ वह कहता है --

मन को बचन को करम को तिहूं प्रकार,
तुलसी तिहारो तुम साहेब सुजान हौ ।[2]

तुलसी के सभी पात्र शरणागत की भावना से पूर्ण है । सभी मन, वाणी एवं कर्म से भगवान के शरणागत हैं । बिना भगवान की शरण में गए कोई भक्त हो ही नहीं सकता । आत्मनिवेदन और दैन्य दोनों ही भावों की पारस्परिक प्रगाढ़ता निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है --

जेहि गुन ते बस होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसरयो ।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन परयो ।। ३[3]

\+ \+ \+

१- रा० ४।७।९६
२- हनु० १४
३- वि० ९९।५

मातु मते ~~मोकहिं मगन~~ महुं मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर ।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ।।
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी । जौं सनमानहिं सेवकु मानी ।।
मोरें सरन राम की पनहीं । राम सुस्वामि दोसु सब जनहीं ।।[1]

आत्मग्लानि की भावना भी स्यों दास्य के अन्तर्गत आती है । विनयपत्रिका में इसके सुन्दर चित्र अंकित मिलते हैं । सेवक अपने स्वामी राम को किसी प्रकार से दोषी न ठहरा कर स्वयं को ही निर्लज्ज, काम लोलुप,पतित आदि संज्ञाओं से विभूषित करता है[2] । इस आत्मग्लानि के मूल में आत्मलघुता की भावना रहती है । इस भावना के कारण ही सेवक में दैन्य भाव का आविर्भाव होता है । अतः वह भी आत्मग्लानि के अन्तर्गत है ।

इस दास्य भाव की भक्ति का व्यापक स्वरूप रामकाव्य में चित्रित किया गया है । उसके प्रत्येक पात्र शिव से लेकर भरत , लक्ष्मण तथा हनुमान तक सभी दास्य भाव समन्वित भक्ति से अनुप्राणित हैं । राम के स्वरूप का पूर्ण और वास्तविक ज्ञान होने पर भी देवाधिदेव शंकर राम को अपना स्वामी मानते हैं । सेवक धर्म का पालन करते हुए उन्होंने राम की परीक्षा के लिए सीता का वेष धारण करने वाली सती का परित्याग कर दिया[3] तथा सती द्वारा दक्ष यज्ञ में अपना शरीर भस्म कर दिए जाने पर वे राम की सेवा में रत रहते हुए राम की आज्ञा से पुनः सती का वरण करते हैं[4] । उन्होंने काकभुशुंडि से राम कथा सुनने

१- रा०२।२३३

२- वि० १५८

३- जौं अब करउं सती सन प्रीती । मिटइ भगति पथ होइ अनीती ।रा०१।५६।८

४- (कह सिव) जदपि उचित अस नाहीं ।नाथ बचन पुनि मेट न जाहीं ।।
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।परम धरमु यह नाथ हमारा ।।
मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी ।बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी ।।
तुम्ह सब भांति परम हितकारी ।आग्या सिर पर नाथ तुम्हारी ।।
-- रा० १।७७।१-४

के निमित्त नीलगिरि पर मराल वेश धारण कर निवास किया तथा बालरूप राम के दर्शन के लिए चोरी भी की । देवाधिदेव शिव का यह छद्म वेश और चोरी उनके दैन्य भाव का ही द्योतक है[1] ।

लक्ष्मण राम के भाई होकर भी उनके परम भक्त और सेवक हैं । राम की सेवा का एक भी अवसर वे नहीं छोड़ते । राम वन गमन के अवसर पर उनकी उत्कट आतुरता दर्शनीय है[2] । निम्न पंक्ति उनकी सच्ची स्वामिभक्ति को प्रकट कर रही है --

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजउ त कहा बसाइ[3] ।।

वन पहुंचकर वे सब प्रकार से राम सीता की सेवा करते हैं । पर इस भक्ति की पराकाष्ठा वन गमन के अवसर पर देखने को मिलती है । जब वे राम सीता के चरण चिह्नों को बचा-बचाकर चलते हैं --

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मग चलत सभीता ।।
सीय राम पद अंक बराएं । लखन चलहिं मगु दाहिने लाएं ।।[4]

लक्ष्मण राम के परम सेवक अवश्य हैं किन्तु उनमें वह दैन्य भावना देखने को नहीं मिलती जो भरत में है । इस सेवक सेव्य भाव को निभाने में भरत के समान सम्पूर्ण राम काव्य में कोई नहीं है । ननिहाल से लौटने पर जब उन्हें राम वन गमन का समाचार मिलता है तब वे अत्यधिक दु:खी होकर पिता का मरण और माता का स्नेह सभी कुछ भूल जाते हैं । राज्य पद भी उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाता । राम सीता को उनके कारण कष्ट झेलने पड़े -- यह उनके लिए असहनीय था । आत्मग्लानि की इस स्थिति में वे कभी अपने को ही दोषी मानते हैं --

महीं सकल अनरथ कर मूला । सो सुनि समुझि सहिउं सब सूला ।।
सुनि बन गमन कीन्ह रघुनाथा । करि मुनि बेष लखन सिय साथा ।।
बिनु पानहिन्ह पयादेहिं पायें । संकरु साखि रहेउं एहि घायें ।।
बहुरि निहारि निषाद सनेहू । कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू ।।

१- मानस दर्शन -- शिव जी, पृ० ८२
२- रा० २।७०।१-८
३- रा० २।७१
४- रा० २।१२३।५-६

बहु सब आसिन्ह देखेउं आई ।जिअत जीव जड़ सब कदराई ।।
जिन्हहिं निरखि मग सांपिनि बीछी । तजहिं विषम विषु तामस तीछी।
तेइ रघुनंदनु लखनु सिय, अनहित लागे जाहि ।
तासु तनय तजि दुसह दुःख, दैउ सहावहि काहि[1] ।।

तो कभी वे अपने को निर्दोषी सिद्ध करते हैं --

जो अघ मातु पिता सुत मारे । गाइ गोठ महि सुर पुर जारे ।।
जो अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें ।।
जो पातक उपपातक अहहीं । करम बचन मन भव कवि कहहीं।।
ते पातक मोहि होंहु विधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता ।।[2]

राम कौशल्या और गुरु वशिष्ठ द्वारा समझाए जाते हुए भी उनका विषाद नहीं जाता , क्योंकि उनका तो दृढ़ मत है --

हित हमार सियपति सेवकाई । सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई ।।
मैं अनुमान दीखि मन माहीं । आन उपाय मोर हित नाहीं ।।[3]
आदि ।

अन्त में वे राम के चरण-चिह्नों को बचाते हुए पैदल ही वन की ओर चलते हैं क्योंकि --

राम पयादेहि पांय सिधाए । हम कहं रथ गज बाजि बनाए ।।[4]
सिर भर जांउ उचित अस मोरा। सबतें सेवकु धरम कठोरा ।।

इस सेवक धर्म की पराकाष्ठा तो भारद्वाज मुनि के आश्रम में देखने को मिलती है जब समस्त वैभव से घिरे रहकर लेशमात्र भी उनके प्रति वे आकृष्ट नहीं होते । चित्रकूट में भी स्वामी राम की आज्ञा को प्रश्रय देकर पादुका लेकर वापस अयोध्या आते हैं । और इस प्रकार सेवक धर्म तथा स्वामि की आज्ञा का पालन करते हैं ।

दास्य भक्तों में हनुमान का महत्त्व भी कम नहीं । राम के सेवार्थ उन्होंने नाना प्रकार के अलौकिक वीरतापूर्ण कार्य किए ।लंका दहन,समुद्र लंघन,राक्षसों का वध

१-रा०२।२६२।३-८, २।२६२
२-रा०२।१६७।५-८
३-रा० २।१७८।१-२
४-रा० २।२०३।६-७

तथा सीता की खोज आदि उनकी सेवाएं हैं । सेवा-भाव के साथ ही दास्य के लिए आवश्यक दैन्य का भी उनमें आधिक्य है । निम्न पंक्तियों में कितने दीन स्वरों में वे अपने स्वामी को उलाहना दे रहे हैं --

मोर न्याउं मैं पूछा साईं । तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ।
तव माया बस फिरउं भुलाना । ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ।।
एक मैं मंद मोह बस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीन बंधु भगवान ।।
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें । सेवक प्रभुहिं परै जनि भोरें ।।
नाथ जीव तव माया मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ।।
ता पर मैं रघुबीर दोहाई । जानउं नहिं कछु भजन उपाई ।।[1]
सेवक सुतपति मातु भरोसे । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ।।

इन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त राम काव्य का प्रत्येक भक्त इस दैन्य भाव से पूर्ण है । वास्तव में भक्ति मार्ग का उत्कृष्टतम रूप इसी दैन्य भाव के आविर्भाव में है । भक्त की श्रेष्ठता इसी में है कि वह अपने को छोटे से छोटा तथा अपने आराध्य को महानतम रूप में समझे । रामकाव्य का प्रत्येक भक्त सर्वत्र राम की महानता और इसके विपरीत अपनी दीनता का प्रदर्शन करता है । बाल्मीकि राम के सम्बन्ध में जहां राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर कहते हैं तो शबरी 'अधम ते अधम' द्वारा अपनी तुच्छता का प्रतिपादन करती है ।

इस सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जाता है कि साधारण व्यक्तियों के लिए तो यह दास्यमार्ग उचित है किन्तु जो राम के भक्त हैं तथा उनके ही अंश से प्रकट हुए हैं वे जब राम की दास्य भक्ति करते हैं तो अनुचित जान पड़ता है । जगदीश्वर शिव और राम के अंश से प्रकट हुए भारत और लक्ष्मण भी दास्य भक्ति करते हुए दीख पड़ते हैं ।" यदि मानसकार जीवमात्र अथवा मानवमात्र अथवा भक्त मात्र में भी अभेद मानने वाले होते तो यह बात उतनी अनुचित न जान पड़ती, परन्तु तुलसीदास तो मर्यादावादी हैं वे ब्राह्मण और शूद्र नर और नारी में भेदभाव मानने वाले शास्त्रानुगामी ब्राह्मण हैं .... फिर भी भक्ति के मामले में उन्होंने

१- रा० ४।२।८-६

'सब धान बाइस पसेरी ' वाली कहावत ही चरितार्थ की है । .... वेदशास्त्र और लोकधर्म की मर्यादा की दुहाई देने वाले तुलसीदास ने भक्ति में किसी भी मर्यादा का ध्यान नहीं रखा और सबसे दास्य भाव की ही भक्ति कराई । दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवादी होते हुए भी भक्ति-भावना की दृष्टि से वे शुद्ध अद्वैतवादी हैं ।[1]

इस कथन के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि तुलसी शुद्ध भक्ति मार्ग के प्रतिपादक थे । उनकी दृष्टि में राम परम ब्रह्म हैं । शिव आदि देवादिधि देव भी उनकी समता में नहीं रखे जा सकते । उनका लक्ष्य सर्वत्र राम की भक्ति प्राप्त करना है । तुलसी ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं और इसी से भक्त में दैन्य भाव का उदय उन्होंने आवश्यक माना है । ज्ञानी एवं कर्मठ व्यक्ति कभी दैन्य का सहारा नहीं लेगा किन्तु भक्त अपने को सकल साधनहीन समझने के कारण अपने उद्धार के लिए स्वामी पर ही आश्रित रहता है । दैन्य भावना का आविर्भाव साधक के अहंता ममता आदि अवगुणों को नष्ट कर देता है और तभी साधक निर्मल अन्त:करण से ईश्वर की भक्ति सम्पादित कर पाता है । इसी कारण तुलसी ने भगवान शिव से लेकर अंगद तक सभी से राम की दास्य भक्ति करवाई है । भरत और लक्ष्मण राम के अंश से समुद्भूत होने पर भी उनके अनुज हैं और इस कारण राम के प्रति उनमें स्वामित्व की भावना दूषित नहीं कही जायगी । भरत की दास्य भावना जहां एक और उन्हें भक्ति की प्रतिमूर्ति के रूप में उपस्थित करती है, वहीं दूसरी ओर भ्रातृत्व का आदर्श भी हमारे समक्ष रखती है । इसे मर्यादा का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।

वात्सल्य भाव

रामकाव्य में दो ही ऐसे प्रमुख पात्र आते हैं जिनका राम के प्रति भक्ति का नाता परोक्षरूप से नहीं रहता है । वे हैं -- दशरथ और कौशल्या । दशरथ तथा कौशल्या दोनों ही राम के ब्रह्मत्व से अभिज्ञ हैं[2] किन्तु उनका वात्सल्य इस ज्ञान को अभिभूत कर देता है । कौशिक राक्षसों के विनाशार्थ राम लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने की इच्छा प्रकट करते हैं किन्तु दशरथ पुत्र-स्नेह के वशीभूत होकर राम के ब्रह्मत्व

१- मानस दर्शन -- पृ० १५८

२- जाकर नाम सुनत सुभ होई । मोरें गृह आवा प्रभु सोई ।
+ + + -- रा० १।१६३।५

जनकपिता मैं सुत करि जाना । -- रा० १।२०२।७

को भूल जाते हैं । वे सशंकित रहते हैं कि उनके कोमलगात शिशु निष्ठुर राक्षसों का सामना कैसे करेंगे[1]। पुत्र-प्रेम से कातर होकर वे अपना सर्वस्व देने को तत्पर हो जाते हैं परन्तु राम को देना उनकी सामर्थ्य के बाहर है[2]। कौशल्या भी राम के अलौकिक रूप को जानती है । वाल्मीकि ने उन्हें राम का ब्रह्मत्व समझाया था, केवल यही नहीं, राम ने स्वयं अपना रूप उनके समक्ष प्रकट किया था किन्तु मातृ-स्नेह की प्रबल भावना वश वह समस्त ज्ञान विस्मृति के गर्भ में लीन हो जाता है । राम के वन से वापस आने पर वे सोचने लगती हैं --

हृदय विचारति बारहिं बारा । कवन भांति लंकापति मारा ।।
अति सुकुमार जुगल मोरे बारे । निसिचर सुभट महाबल भारे ।।[3]

पुनः वे राम से प्रश्न करती हैं --

मारग जाति भयावनि भारी । केहि विधि तात ताड़का मारी ।।[4]

दशरथ और कौशल्या के इस वात्सल्य का चित्रण तुलसी ने धर्म भावना की परिधि के अन्तर्गत ही किया है । वनगमन के अवसर पर दशरथ यदि चाहते तो राम को रोक सकते थे किन्तु वे उनको वन जाने की अनुमति देकर एक ओर धर्म की रक्षा करते हैं तथा अपने प्राण परित्याग द्वारा दूसरी ओर उत्कट वात्सल्य का परिचय देते हैं । कौशल्या भी अपनी ममता को रोक लेती है ।

मानस के बालकाण्ड तथा कवितावली एवं गीतावली के आरम्भिक अंशों में इस वात्सल्य भक्ति का तुलसी ने अच्छा चित्रण किया है । इसके साथ ही वे राम के ईश्वरत्व को कभी नहीं भूलते[5]। मानस के अतिरिक्त कवितावली में तुलसी ने बालक राम के सौन्दर्य[6], चपलता, क्रीड़ा तथा बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किए हैं । राम के संयोग एवं वियोग के अवसरों पर कौशल्या का वात्सल्य द्रष्टव्य है[7]। तुलसी का वात्सल्य राम वन गमन के अवसर पर अत्यन्त मार्मिक रूप में

१- रा० १।२०८।६
२- रा० १।२०८।३-५
३- रा० ७।७।७-८
४- रा० १।३५६।८
५- व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुण विगत विनोद ।
   सो अज प्रेम भगतिबस, कौसल्या के गोद ।।--रा०१।१९८
६- कवि० १।२-३, १।४ आदि
७- गीतावली -- १।८-१२ आदि तथा २।५१-५५ आदि

प्रकट हुआ है । राम के वनगमन का समाचार सुनकर कौशल्या दुःख सागर में निमग्न हो जाती है[1] । दशरथ भले ही वचनबद्ध होने के कारण पुत्र का परित्याग कर दें किन्तु कौशला का हृदय राम के वन भेजने के लिए सहमत नहीं होता । राम यदि पिता के वचन को मान सकते हैं तो फिर वे माता की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकेंगे[2] । कौशल्या राम की 'बान धनुहियां' को निहारती हैं तथा उनकी सुन्दर 'पनहियों' को हृदय से लगाती हैं[3] । वे बालक राम की सभी लीलाओं का स्मरण करती हैं । उन्हें जैसे विश्वास ही नहीं होता कि राम वन को गए हैं, अतः वे प्रातः राम को जगाने पहुंचती हैं, पुनः राम रहित भावना को देखकर व्याकुल हो उठती हैं और भगवान से मनाती हैं कि किसी भी प्रकार यह १४ वर्ष की अवधि कट जाय ।

राम के प्रति दशरथ एवं कौशल्या के इस वात्सल्य के अतिरिक्त लक्ष्मण, सीता आदि के प्रति वात्सल्य का सुन्दर चित्रण हुआ है । सपत्नी पुत्रों के प्रति उनकी सौतेली माताओं का स्नेह द्रष्टव्य है । सीता एवं राम के प्रति उनके सास-ससुर के वात्सल्य का भी सुन्दर वर्णन हुआ है ।

इस वात्सल्य भावना का चरम रूप तुलसी के आराध्य राम की भक्त वत्सलता के रूप में प्रकट हुआ है । राम का अपने भक्तों के प्रति प्रेम,शरणागत रक्षण आदि वात्सल्य के ही अन्तर्गत हैं और इस प्रकार का वात्सल्य भाव सम्पूर्ण रामकाव्य में व्याप्त है । इस दृष्टि से तुलसी सूर की अपेक्षा वात्सल्य वर्णन में अग्रगण्य है । सूर के वात्सल्य की विविध रूपता एक विशिष्ट दिशा में है किन्तु तुलसी के वात्सल्य का क्षेत्र व्यापक है ।

सख्य भाव

दास्य भक्ति के प्रमुखता देने के कारण सख्य भाव के सम्बन्ध में रामकाव्य में बहुत ही कम कहा गया है । विभीषण सुग्रीव आदि को उसमें रामसखा के रूप में चित्रित किए गए हैं किन्तु वे सब दास्यभाव से ही राम की उपासना करते हैं । सख्य भक्ति वही मानी जायगी जहां पर भक्त भगवान के प्रति सखा भाव से भक्ति करेगा । परन्तु भगवान का भक्त के प्रति व्यवहार सख्यभाव न होकर उनकी कृपा तथा भक्तवत्सलता

संदर्भ- १- रा० २।५४।१-४
२- रा० २।५६।१
३- गीता० २।५२

होगी । अतः राम की सुग्रीव आदि के प्रति सखा भावना सख्य भक्ति नहीं कहलाएगी, वह सख्ययुक्त वात्सल्य होगा । सुग्रीव,विभीषण आदि यद्यपि कहीं-कहीं 'सखा' का सम्बोधन राम के प्रति करते अवश्य हैं किन्तु वहां दास्य भावना का ही प्राधान्य है[1] । अतः रामकाव्य में स्वाध ही स्थल ऐसे हैं जिनमें सख्यभाव का चित्रण हुआ है । विनय-पत्रिका में केवल एक स्थल पर विप्र,व्याध और गणिका प्रसंग में -- 'का कछु रही लगाई' कहकर इस भावना की ओर संकेत करता है । पद इस प्रकार है --

केशव ! कारन कौन गुसाईं ।
जेहि अपराध असाधु जानि मोहिं तजेउ अग्य की नाईं ।।
परम पुनीत संत कोमल-- चित तिनहिं तुमहिं बनि आई ।
तौ कत विप्र,व्याध,गनिकहि तारेहु, कछु रही सगाई ।
काल,करम,गति अगति जीव की सब हरि ! हाथ तुम्हारे !
सोइ कछु करहु, हरहु ममता प्रभु ! फिरउं न तुमहि बिसारे ।।[2]

प्रस्तुत पद में भगवान को दी गई उलाहना आदि में सख्य भाव का समावेश हुआ है किन्तु अन्तिम दो पंक्तियों में यहां भी दास्य भाव ही की प्रधानता है । मानस में भी सख्य भाव का सूचक पद इस प्रकार आया है --

पुर बालक कहि कहि मृदु बचन । सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना ।
सब सिसु येहि मिसु प्रेमबस परसि मनोहर गात ।
तनु पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात ।।
सिसु सब राम प्रेम बस जाने । प्रीति समेत निकेत बखाने ।।
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई । सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ।
राम देखावहि अनुजहिं रचना । कहि मृदु मधुर मनोहर बचना ।।
लव निमेष महुं भुवन निकाया । रचै जासु अनुसासन माया ।।
भगति हेतु सोइ दीनदयाला । चितवत चकित धनुष मखसाला।।[3]

१- विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी । मैं पांवर पसु कपि अति कामी ।।
सुग्रीव -- --रा०४।२१।३
विभीषण-- श्रवन सुजस सुनि आएउं प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर।।--रा०५।४५

२- वि० ११२,रा० १।२२४।८ तथा १।२२५।२

३- रा० १।२२४, १।२२५।१-५ ।

उपर्युक्त पंक्तियों में श्रीराम के प्रति बालकों का सख्ययुक्त व्यवहार सखा भाव का द्योतक है । राम भावशाला का अवलोकन बालकों की सख्य भक्ति के कारण ही कर रहे हैं । इसी प्रकार --

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए । पुनि पद लागहु सकल सिखाए ।।
गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे । इन्ह की कृपा दनुज रन मारे ।।[1]
ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भए समर सागर कहं बेरे ।।

आदि पंक्तियों में भी सख्य भाव न होकर सख्यविशिष्ट दास्य भाव का ही प्रकाशन हुआ है क्योंकि केवल 'सखा' शब्द से ही सख्य भाव नहीं माना जा सकता । यहां पर एक तो भक्त की भगवान के प्रति सखा भावना का चित्रण न होकर भगवान का भक्त के प्रति सखा शब्द का व्यवहार हो रहा है और दूसरे ठीक इन्हीं पंक्तियों के ऊपर कही गई पंक्तियों -- देखि नगरबासिन्ह कै रीती ।
सकल सराहहिं प्रभु पद प्रीती ।।[2]

में इन सख्यओं की दास्य भक्ति का ही चित्रण हुआ है । राम के सखा राम को सदैव अपने स्वामी के रूप में देखते हैं , सखा के रूप में नहीं ।

केशव की रामकथा में शान्तरस

केशव की रामचन्द्रिका रामकाव्य के सन्दर्भ में एक अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ है । इसका कथानक वही चिरपरिचित रामकथा है जो कि अत्यन्त संक्षिप्त रूप में निबद्ध की गई है । विश्वामित्र के अवधागमन से लेकर राजतिलक तक की कथा २७ वें प्रकाश में आगे के ७ प्रकाश में राम का राजसी वैभव तथा ३३ वें से ३६ वें प्रकाश में सीता निर्वासन की कथा अंकित है । कवि रामकथा का सृजन वाल्मीकि मुनि की प्रेरणा से करता है । वह उत्सुक है यह जानने के लिए कि सांसारिक दुःखों से निवृत्ति कैसे मिलेगी -- फलतः वे वाल्मीकि से पूछते हैं -- 'दुःख क्यों टरिहैं ?' और मुनि इसके उत्तर में कहते हैं --

भलो बुरो न तू गनै । वृथा कथा कहै सुनै ।।[3]
न रामदेव गाइहैं । न देव लोक पाइहैं ।।

१- रा० ७।८।५-७
२- रा० ७।८।४
३- रा० चं० १।१६

काव मुनि के इसी आदेश को शिरोधार्य कर, राम को इष्टदेव मान कर उनके चरित्र का गान करते हैं । यद्यपि मानस की भाँति श्रीराम का आद्योपान्त चरित्र रामचन्द्रिका में वे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं तथा राजसी वातावरण में रहने के कारण उनकी भक्ति का प्रतिपादन भी समुचितरूप से नहीं हो पाया है तथापि उनका लक्ष्य राम का चरित्रांकन करना ही था । श्रीराम और वशिष्ठ के संवाद में उन्होंने अपने आध्यात्मिक पक्ष को स्पष्ट कर दिया है । चौबीसवें और पच्चीसवें प्रकाश में तो केवल शान्तरस की ही अभिव्यंजना हुई है । यहां रामचन्द्रिका में निबद्ध किए गए उनके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्षों द्वारा उनकी सामान्य प्रकृति स्पष्ट हो जायगी ।

दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत केशव ने ब्रह्राम, जीव, जगत, माया आदि का विवेचन किया है । उनके उपास्य देव राम साक्षात् परम ब्रह्म और अवतारमणि हैं ।[1] यह ब्रह्म अनादि, अकल, अलख, अमित आदि विभूषणों से विभूषित हैं । शेष ब्रह्म और शंभु भी उसका पार न पाकर 'नेति नेति' कहते हैं ।[2] केशव राम के निर्गुणत्व को स्वीकार करते हुए उन्हें रूप-रंग आदि से रहित मानते हैं ।[3] उनकी निरीह तथा निरंजन ज्योति समस्त विश्व में व्याप्त हो रही है ।[4] परन्तु राम निर्गुण होने पर भी भक्तों के कारण सगुण रूप धारण करते हैं ।[5] वास्तव में ये ही त्रयोगुण हैं और अपने इन्हीं गुणों के द्वारा नाना रूप धारण करते हैं । वे रजोगुण द्वारा ब्रह्मा के रूप में संसार की रचना सतोगुण द्वारा विष्णु का अवतार लेकर संसार की रक्षा तथा तमोगुण के आश्रय से रुद्र के रूप में जगत का संहार करते हैं ।

'जीव' ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होते हुए भी अल्पज्ञ होने के कारण ब्रह्म की दृष्टि को नहीं समझ पाता है और अनेक बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है जब कि ब्रह्म को जीव की दशा का पूर्ण ज्ञान रहता है और वह सदैव एक रूप रहता है । काम क्रोधादि से युक्त हुआ यह जीव माया के बन्धन के कारण संसार में भटकता हुआ अपने सहज स्वरूप को भूल जाता है और दुर्गति प्राप्त करता है ।[6] केशव की दृष्टि में जीव की

१- रा०चं० ३७।१७

२- वही० २७।१, २७।१०, १।३, २७।२४

३- वही० ६।१८

४- वही० २५।२

५- वही० २५।१

६- वही० २६।६, २५।३ आदि

वासना का अत्यधिक महत्त्व है । वासना जीव को जिस ओर ले जायेगी, जीव उसी ओर झुकेगा । शुद्ध वासना होने पर जीव को परम पद तथा अशुभ वासना द्वारा जीव की प्रवृत्ति बुरे कर्मों की ओर होती है[1] । इस शुभ वासना के लिए जीव को सतत यत्नशील रहना पड़ेगा । जीव अपने कर्मानुसार फल भोगने के लिए अनेक शरीर धारण करता है किन्तु जन्म और मरण ~~भी~~ पार्थिव शरीर का होता है, जीव का नहीं । शैशव आदि अवस्थाओं का सम्बन्ध भी शरीर से ही है[2] । रामचन्द्रिका में मुक्त जीव की भी चर्चा मिलती है । मुक्त जीव वह है जिसका अहंभाव विगलित हो गया है तथा जो ज्ञानवान है, निष्काम भाव से कर्म करता है और जिसका बाह्य एवं अन्तस् दोनों ही वतिशुद्ध है[3] । समस्त प्राणियों को वह आत्मवत् समझता है ।

जीव को बन्धन में डालने वाली शक्ति त्रिगुणात्मिका माया संसार का निमित्त कारण है । इसके दो रूप हैं -- प्रथम रूप में वह ब्रह्म से सम्बद्ध है तथा ~~कि~~ द्वितीय रूप द्वारा वह जीवों को बन्धन में डालती है[4] ।

केशव राम के निर्गुण रूप को मानते हुए भी उसके सगुण रूप के उपासक थे । निर्गुण ब्रह्म ~~ब~~ ही भक्त के प्रेम के वशीभूत होकर सगुण रूप धारण करता है[5] । सगुण भक्ति की इस उपासना में राम नाम का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि कलिकाल में भवसागर तरण का वही एकमात्र सहारा है । अतः मरणासन्न पापात्मा भी यदि राम का नाम ले ले तो उसकी मुक्ति हो जायगी और वह देवलोक को प्राप्त करेगा[6] । राम का नाम लेने से पाप के साथ ही काल के बन्धन से भी छुटकारा मिल जायगा[7] । नाम का माहात्म्य तो इतना अधिक है कि यदि किसी ने सम्पूर्ण नाम अर्थात् `राम` का उच्चारण कर लिया तो उसे तुरन्त बैकुण्ठ प्राप्त होगा परन्तु यदि आधा राम अर्थात् केवल `रा` का ही उच्चारण किया जायगा तो भी अधोगति से छुटकारा अवश्य मिल जायगा[8] । अतः अपने मन को

१- रा०चं० २५।५
२- वही०, ३७।१०-११
३- वही०, २५।१७-१८
४- वही०, ८१।२५।१६, १३।८१
५- वही०, ३३।२२
६- वही०, २६।१०
७- वही०, ३६।१४
८- वही०, २६।६

भगवान में लगाना चाहिए यही हमारा धर्म, कर्म तथा योग है । मनुष्य की बुद्धिमत्ता इसी में है कि सरल चित से भगवान का पूजन करें क्योंकि घड़ी भर का किया हुआ पूजन अनेक यज्ञों के अनुष्ठान का फल देता है[1]। केशव निष्काम भक्ति को ही अधिक महत्व देते हैं निष्काम भक्त अपने मन को परमेश्वर के रूप में लीन करता हुआ माया के बन्धन को नष्ट कर देता है[2]। भगवान की पूजा हमारी शुभ और अशुभ दोनों ही वासनाओं को नष्ट कर देती है[3]। शुभ वासनाओं का नाश निष्काम भक्ति ही है[4]। केशव ने अपनी भक्ति में कुछ स्थलों पर भक्ति के लिए कुछ मात्रा में आवश्यक दैन्य भाव का सुन्दर एवं मार्मिक चित्र उपस्थित किया है । रावण द्वारा पैर से आहत होकर विभीषण बड़ी दीनता से भगवान को उनकी शरणागत वत्सलता की ओर ध्यान दिलाता है ।

> दीनदयाल कहावत केशव हौं अति दीन दशा गही गाढ़ो ।
> रावण के अघ ओघ समुद्र में बूड़त हौं वर ही गहि काढ़ो ।
> ज्यों गज को प्रह्लाद की कीरत त्योंही विभीषण को जस बाढ़ो ।
> आरत बंधु पुकार सुनौ किन आरत हौं पुकारत ठाढ़ो[5] ।

हनुमान के कथन में ही पर्याप्त दैन्य भाव देखने को मिलता है । वे सीता को खोजकर वापस आते हैं तथा राम उनको इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रशंसा करते हैं, किन्तु वे अपने को दीन हीन समझने के कारण इस प्रशंसा से संकुचित हो जाते हैं । वे दयनीय स्वर में कहते हैं कि इसमें तो मेरा कोई पराक्रम नहीं । महानता तो आपकी मुद्रिका तथा सीता जी के चूड़ामणि को है जिसने मुझे जाते और लौटते समय सागर पार करवाया । मूल लंका को जलाने में भी मेरा कोई पराक्रम नहीं । निर्बल अक्षयकुमार को मारना तथा जड़ वृक्षों को तोड़ना भी प्रशंसनीय नहीं । यदि मैं यथार्थ में पराक्रमी होता तो फिर शत्रुओं के द्वारा बांधा न जाता ।

उपर्युक्त विवेचन से इतना निःसंदिग्ध है कि केशव के हृदय में वैराग्य का बीज अवश्य था, राजसी वैभव के बीच रहने के कारण वह प्रस्फुटित नहीं हो पाया । जहां कवि का मन रम गया है, ऐसे स्थलों का चित्रण कवि ने बड़ी ही सहृदयतापूर्वक

१- रा०चं० २५।३०
२- वही०, २७।२०
३- वही०, २५।३३
४- वही०, २६।१२०
५- वही०, १५।२४-२५

किया है । उनकी वैराग्यविषयक उदासीनता की उक्तियां मन को स्पर्श करती हैं । ऐसे स्थलों पर शान्तरस की सुन्दर व्यंजना हुई है । अंगद रावण को संसार की असारता का ज्ञान कितने सरल ढंग से करा रहा है --

हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाउं न ठाउं कुठाउं बिलैहैं ।
तात न मात न पुत्र न मित्र न वित्त न तीय कहुं संग रैहैं ।।
केसव काम के राम बिसारत और निकाम रे काम न ऐहै ।
चेति रे चेति अजौं चित अंतर अंतक लोक अकेलोई जैहैं ।।[1]

लौकिक दृष्टि से यह संसार यद्यपि सत्य भासित होता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह असत्य ही है । सत्य ब्रह्म की रचना होने से ही यह सत्य-सा प्रतीत होता है संसार के दुःखों से छुटकारा पाने का सीधा उपाय यह है कि मनुष्य सुख और दुःख में समभाव रहता हुआ अहंकार का परित्याग कर दे । ऐसा करने पर उसे परम पद की प्राप्ति अवश्य ही होगी --

राग-द्वेष बिन कैसेहुं, धर्माधर्म जु होय ।
हर्ष सोक उपजै न मन, कर्ता महा सुलोय ।।
भोज अभोज न रत बिरत, नीरस सरस समानु ।
भोग होइ अभिलाष बिन, महाभोगता मानु ।।[2]

इसके साथ ही --

आपुन सो अवलोकिए, सब ही युक्त-अयुक्त ।
अहंभाव मिटि जाय जो कौन बद्ध को मुक्त ।[3]

निम्न पंक्तियों को पढ़कर आश्चर्य होता है श्रृंगार रस का प्रेमी कैसे इतनी मार्मिक वैराग्यपूर्ण पंक्तियों का सृजन कर सका है --

निशि बासर बस्तु बिचार करैं मुख सांच हिये करुनाधन है ।
अघ निग्रह संग्रह धर्म कथा न परिग्रह साधु न को गनु है ।।
कहि केसव योग जगै हिय भीतर बाहर भोगन स्यों तनु है ।
मन हाथ सदा जिनके तिनको बन ही घरु है घरु ही बनु है ।।[4]

१- रा० च० १६।२६
२- वही०, २५।३५-३७
३- वही०, १५।१८
४- वही०, २५।३६

एक अन्य स्थल पर अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूया के रूप-वर्णन में निर्वेद की सुन्दर अभिव्यंजना की है --

सित चैल विराजै कीरति राजै जनु केशव तप बल की ।
तनु वलित दलित जनु सकल वासना, निकरि गई बल थल की ।
कांपति शुभ ग्रीवा, सब अंग सीवां, देखत चित्त भुलाहीं ।
जनु अपने मन प्रति यह उपदेशति या जग में कछु नाहीं ॥[1]

कहीं-कहीं पर काम-क्रोधादि में बंध फंसे जीव की दुर्गति दिखला कर शान्तरस की अभिव्यंजना की है । --

खैंचत लोभ दसौ दिसि को,गहि मोह महा इत फांसिहि डारै ।
ऊंचेते गर्व गिरावत,क्रोधहु जीवहि,लूहर लावत मारै ॥
ऐसे में कोढ़ को खाज ज्यौं केशव मारत कामहु बाननिनारै ।[2]
मारत पांच करै पंचकूटहि कासों कहैं जग जीव बिचारै ॥

शान्त रस का यत्र तत्र सुन्दर चित्रण होने पर भी रामचन्द्रिका में उसकी वह व्यापकता नहीं दिखलाई देती जो तुलसी के रामकाव्य में है । भक्ति की अजस्र धारा का जो प्रवाह तुलसी में है केशव में उसका सर्वथा अभाव है । केशव की रामकथा में हृदय पक्ष का राहित्य है--इसके दो मुख्य कारण हैं-- एक तो विद्वता प्रदर्शन की भावना और दूसरे उन्होंने रामकथा के उन मार्मिक प्रसंगों का सर्वथा परित्याग कर दिया है जिनका सम्बन्ध हमारे हृदय पक्ष से है । उदाहरणार्थ यहां पर कुछ स्थल दिये जा रहे हैं --

रामकथा के प्रारम्भ में वे राम सहित चारों भाइयों का नाम गिनाकर संक्षिप्त उल्लेख कर देते हैं जब कि तुलसी राम के बाल रूप को लेकर एक काण्ड की रचना कर डालते हैं । वात्सल्य के सुन्दर वातावरण के बीच पाठक को राम की ब्रह्मत्व आदि विशेषताओं से भी अभिज्ञ कराते चलते हैं । मानस के प्रारम्भ से ही पाठक को मालूम हो जाता है कि राम परमब्रह्म हैं जो कि मनुजानुसारी लीलाएं कर रहे हैं ।

१- रा० चं० , ११।५
२- वही०, २४।८

राम वन गमन के अवसर पर एक ओर तो दशरथ तड़प रहे हैं और दूसरी ओर राम वन-प्रस्थान करने से पहले अपनी मां को विधवा धर्म और नारी धर्म की शिक्षा देते हैं जिससे वातावरण में अशिष्टता आ गई है तुलसी की सीता राम की परम शक्ति है । राम वन गमन के अवसर पर वे राम के चरण-चिन्हों को बचाकर पैर रखती हैं जब कि केशव की महिला धूप से संतप्त अपने पैरों को शीतलता पहुंचाने के लिए राम के चरण चिह्नों के ऊपर रख कर चलती हैं । राम सीता की शारीरिक शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन भी उपयुक्त नहीं है । तुलसी द्वारा चित्रित भरत का आत्मदैन्य और राम प्रेम केशव में उतना मार्मिक और भावपूर्ण नहीं बन पाया है जो कि राम की सर्वज्ञता और महानता में बाधक सिद्ध होती है । राम पर्णकुटी में मृग को मार कर लौटते हैं और वहां सीता को न देखकर व्याकुल होने के स्थान पर संदेह में पड़ जाते हैं कि कहीं उनसे भी प्रबल कोई माया उनको भ्रमित तो नहीं कर रही । सीता के विरह-वर्णन में भी कोई हृदय द्रावकता नहीं है[1] । सीता का उत्तरीय देखकर राम अपनी काम क्रीड़ा का स्मरण करने लगते हैं । यहां राम का विलासी रूप ही उपस्थित किया गया है[2] । स्वर्ती सर्व प्रकाश में राम छिपकर रनिवास की स्त्रियों को वन-बिहार देखते हैं ।

यही नहीं, और भी अन्य अनेक ऐसी घटनाएं हैं जिनसे भक्ति के आस्वादन में बाधा पहुंचती है । हम ऐसे स्थलों पर शृंगार, वीर अथवा रौद्र का आस्वादन करते हैं ।

रामचन्द्रिका की अपेक्षा केशव की अन्य कृति विज्ञानगीता में आद्यन्त शुद्ध शान्तरस की धारा प्रवाहित हो रही है । रूपक के रूप में लिखा गया यह ग्रन्थ मुख्यरूप से प्रबोध चन्द्रोदय पर आधारित है । ग्रन्थ में महामोह और विवेक इन दो राजाओं का युद्ध महामोह के अत्यन्त ब बलशाली होने पर भी अन्त में उसको विवेक द्वारा पराजय का वर्णन किया गया है । विज्ञानगीता का प्रत्येक अंश शान्तरस से सम्बन्ध रखता है । ब्रह्म के नित्यत्व एवं संसार के असारत्व को कितने सुन्दर शब्दों में संकल्प नामक पात्र रखता है --

---

१- रा० चं०, १३।५३

२- रा० चं० १२।६२

पुत्र मित्र कलत्र के तजि वत्स दु:सह सौग ।
कौन के भट कौन की दुहिता मृषा सब लोग ।।
होत कल्प सतायु देव तउ सबै निशि जात ।
संसार की गति जानिकै अब कौन को पछितात ।।
एक ब्रह्म सांचौ सदा, झूठो यह संसार ।
कौन लोभ मद काम को, को सुत मित्र विचार ।।
तुम्हें गए तजि बार बहु,तुमहूं तजे बहु बार ।
तिन लगि सोच कहा, करौरे बावरे गंवार ।।[१]

मन एवं इन्द्रियों के वशीकरण के लिए तथा संसार की असारता के सम्बन्ध में भी अनेक उक्तियां इसमें मिलती हैं किन्तु यहां पर अप्रासंगिक होने के कारण उसका अधिक विवेचन नहीं किया जा रहा है । रामचन्द्रिका के विज्ञान गीता की भांति निर्वेद स्थायी की व्यापकता नहीं मिलती परन्तु कवि का झुकाव इस दिशा की ओर विभिन्न स्थलों पर अवश्य है परन्तु उनका चित्रण सामान्य पुरुष की ही भांति करते हैं जिससे उनके प्रति भक्ति का वह उन्मेष नहीं हो पाता जो मानस के राम के प्रति होता है । परन्तु रामचन्द्रिका में आए हुए कतिपय भक्ति एवं निर्वेद संबंधी स्थलों तथा कवि के दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसमें कवि अपनी भक्ति एवं शान्त का ही चित्रण करना चाहता है पर वह उसमें तुलसी की भांति पूर्णरूप से सफल नहीं हो सका ।

(ख) दोनों भावों की भक्ति में शान्ति की स्थिति

शान्तभाव का चित्रण राम काव्य के दास्य भक्ति के प्रसंग में व्यापक रूप से मिलता है तत्कालीन माधुर्योपासना से प्रभावित होकर मधुर भाव सम्बन्धी पदों का सृजन भी मिलता है किन्तु उनमें कवि की दृष्टि अधिक नहीं रम रमी है तथापि राम के सौन्दर्य वर्णन से सम्बन्धित पदों के चित्रण में पर्याप्त सहृदयता है । परम

ब्रह्म की सुषमा से सम्बद्ध होने के कारण वे शान्त से ही सम्बद्ध हैं । लोक-कल्याण की भावना से मर्यादा पुरुषोत्तम राम की दास्य भक्ति को ही राम काव्य में प्रश्रय दिया गया है । इस दास्य भावना से समन्वित पद केवल शान्त के आस्वादक हैं । भक्त अपनी दुर्गति का प्रकाशन करते हुए अहं तथा ममत्व के परित्यागपूर्वक भक्तिसोपान पर चढ़ता है । अभिमान को किंचित मात्र भी रहने से साधक का अन्त:करण कालुष्य से आच्छादित रहेगा वह भक्ति का अधिकारी न हो सकेगा । इसके विपरीत दैन्य भावना के उदय के साथ ही साधक का पवित्र हृदय केवल ईश्वर पर ही केन्द्रित हो जाता है और तब वह सरलतापूर्वक अपने आराध्य का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है । वस्तुत: सख्य,वात्सल्य मधुर एवं सेव्य सेवक-- इन सभी भावों में सेव्य सेवक भाव ही ऐसा है जिसमें कभी भी लौकिकता के समावेश की सम्भावना नहीं की जा सकती है । अन्य तीनों भावों में सांसारिकता का समावेश कुछ न कुछ हो ही जाता है । उदाहरणस्वरूप माधुर्योपासना में दिव्य दम्पति राधाकृष्ण का स्वरूप आगे चलकर नायक-नायिका का स्वरूप मात्र रह गया । आराधना के माध्यम से कविगण अपनी शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति करने लगे ।दास्य भावना में आराधक का ध्यान सदैव अपनी दीन हीन दशा और परमात्मा की महानता पर केन्द्रित रहता है अत: उसमें भौतिकता के समावेश की गुंजाइश नहीं ।

शान्त के लिए आवश्यक तत्वों का समावेश दास्य भावना के अन्तर्गत पूर्णरूपेण मिलता है अत: शान्त के चित्रण की दृष्टि से रामकाव्य के दास्य भावना संबंधी पद अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की रचना है ।

(ग) आलम्बन और आश्रय,उद्दीपन,अनुभाव,स्थायीभाव,वात्सल्य,सख्य आदि की स्थिति, संचारी भाव--

रामकाव्य में शान्तरस के आलम्बन के तीन वर्ग किए जा सकते हैं । प्रथम के अन्तर्गत रामकाव्य के प्रमुख आलम्बन भगवान राम हैं । रामभक्ति के सर्वश्रेष्ठ आलम्बन होने के कारण आलम्बन के लिए आवश्यक सर्वनायकोचित आदर्श गुणों का समावेश उनमें मिलता है । नायक की प्रमुख विशेषता रूप और गुण का सामंजस्य भी तुलसी ने राम में समाविष्ट किया है । गुणों के सागर राम दिव्य सौन्दर्य से युक्त हैं उनकी सौन्दर्य-सुषमा को देखकर प्रत्येक प्राणी मुग्ध हो जाते हैं । रामकाव्य में

सर्वत्र ही इस भाव को अभिव्यक्त करने वाली उक्तियां भरी पड़ी हैं।[१] राम केवल दैवी सौन्दर्य सम्पन्न नहीं है। वे ब्रह्म शक्तिशील एवं सौन्दर्य तीनों की ही पराकाष्ठा हैं। वे ब्रह्म हैं, अतः निर्विकार, निर्विशेष, निरुपम तथा अनवद्य आदि संज्ञाओं से विभूषित है। इसके अतिरिक्त धार्मिक, अजेय शक्तिसम्पन्न, धीर, शान्त, सत्यपालक, नीतिज्ञ, ज्ञानी विवेकी आदि विशेषताएं उनमें स्वभावतः पाई जाती हैं। उनके स्वभाव की नम्रता, कोमलता एवं विनयशीलता तो सर्वत्र देखी जा सकती है। क्षमाशीलता, उदारता तथा शरणागत भक्तवत्सलता उनका अन्य उल्लेखनीय गुण हैं। इन्हीं गुणों के कारण भक्त सर्वत्र राम का ही अवलम्बन ग्रहण करता है। इस प्रकार शान्तरस के प्रमुख आलम्बन राम में नायकोचित सभी गुणों का समावेश मिलता है। तुलसी ने राम को धीरोदात्त तथा धीर शान्त नायक के रूप में ही चित्रित किया है। तुलसी मर्यादावादी कवि होने के नाते राम के लोकरक्षक रूप पर ही अधिक ध्यान देते हैं। अपने आराध्य को विलास-प्रिय रूप में चित्रित करना उन्हें अभीष्ट न था। इसी कारण धीरललित तथा धीरोद्धत नायक के रूप में राम का चित्रण कहीं नहीं मिलता। श्रीराम तो विषयरसपराङ्मुख क्रोध माया आदि से रहित हैं। मधुररस के प्रसंग में यत्र तत्र किंचित शृंगारिक उक्तियां जो आ गई हैं, उनमें विलासिता एवं भोगप्रवणता न होकर भक्तिभाव की ही प्रधानता है। अतः तुलसी ने कृष्ण भक्त आचार्यों द्वारा अभिमत नायक कृष्ण की भांति श्रीराम का चतुर्विधत्व स्वीकार नहीं किया।

आलम्बन के दूसरे प्रकार के अन्तर्गत अवतारी कृष्ण आदि तथा अन्य देवतागण आते हैं। राम के अवतार कृष्ण मुख्यरूप से कृष्णगीतावली में तथा प्रासंगिकरूप से अन्य कृतियों में भी आए हैं। विनयपत्रिका, कवितावली एवं मानस में यत्र तत्र उनका चित्रण देखने को मिलता है। शिव, गणेश, भवानी, सरस्वती, सूर्य, गंगा आदि को भी उनकी स्तुतियों में आलम्बन बनाया गया है। विनय-पत्रिका में इस प्रकार की स्तुतियों का आधिक्य है, परन्तु मानस और कवितावली

१- रूपसीलसिंधुगुनसिंधु बंधुदीन को दयानिधान जानमनि बीर बाहु बोल को।
--कवि०७।१५

तथा देखिए रा० १।३१७।४, गी०१।६२,२।३५, कवि० २।२३।

में भी कुछ ऐसी स्तुतियां आयी हैं । उन स्तुतियों में अधिकतर स्तुतियों रसत्व कोटि तक नहीं पहुंच पाई हैं ।

रामभक्ति के आलम्बन के तृतीय वर्ग के अन्तर्गत रामभक्त आते हैं । इन भक्तों की संख्या असंख्य है । दशरथ, कौशल्या, वाल्मीकि, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा हनुमान आदि प्रमुख भक्तों की वन्दना रामकाव्य में मिलती है । राम के परम सेवक हनुमान की स्तुतियां हनुमानबाहुक में बड़ी ही मार्मिकता से निबद्ध की गई है ।

इतना होने पर भी यह नि:संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आलम्बन रूप में राम का चित्रण जितना सफल हुआ है उतना और किसी का नहीं । भक्ति के विषयालम्बन के रूप में सीता का भी सुन्दर चित्रण हुआ है । सीता आदि शक्ति हैं-- उन्हीं से समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई है । वे राम की 'परमशक्ति' , उनकी 'माया' हैं , उन्हीं से समस्त संसार का उद्भव, स्थिति और संहार हुआ करता है । वे राम से 'गिरा से अर्थ' अथवा 'जल से वीचि' की भांति अभिन्न हैं । सीता विषयक स्तुतियों की रसात्मकता निम्न पद में द्रष्टव्य है —

कबहुंक अंब अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ।।
दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु दासी दास कहाइ ।।
बूझिहैं सो है कौन' कहिबी नाम - दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।।
जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ ।
तरै तुलसीदास भवतव नाथ-गुन-गन गाइ ।।[१]

सीता राम तुलसी के आराध्य हैं । वे समस्त संसार को उन्हीं से ओत प्रोत देखते हैं । राम सीता के वर्णन में उनका मन जितना रमा है उतना अन्य देवों के वर्णन

में नहीं । इसी कारण राम सीता विषयक उनकी सभी पंक्तियां रसप्लावित हैं । अन्य देवों से सम्बद्ध उनकी वन्दनाओं में भी उनका मुख्य ध्येय रामभक्ति प्राप्ति का ही रहता है ।

आश्रय

आश्रय के अन्तर्गत भक्तगण आते हैं । भक्तों के दो प्रमुख वर्ग--कवि तथा कविनिबद्ध पात्र हैं । आत्मनिवेदन की भावना से पूर्ण तुलसी की विनयपत्रिका में कवि स्वयं ही आश्रय हैं । इसके अतिरिक्त कवितावली आदि मुक्तक रचनाओं में तथा मानस के मंगलाचरण आदि से सम्बद्ध उद्धरणों में भी कवि ही आश्रय है । अन्य प्रसंगों में तुलसी द्वारा निबद्ध पात्र आश्रय हैं । मानस में तुलसी ने चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है-- आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, और ज्ञानी । --

नाम जीहं जपि जागहिं जोगी । बिरति बिरंचि प्रपंच वियोगी ।।
ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा । अकथ अनामय नाम न रूपा ।।
जानी चहहिं गूढ़ गति जेऊ । नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ।।
साधक नाम जपहिं लय लाएं। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएं ।।
जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ।।
राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ।।
चहूं चतुर कहुं नाम अधारा । ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा ।।[१]

रोग आदि से अभिभूत आपद्ग्रस्त तथा पुन: ऐश्वर्य प्राप्ति का अभिलाषी साधक आर्त कहलाता है । विनयपत्रिका में अनेक स्थलों पर इस प्रकार की भक्ति वर्णित है । ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना से जो भक्ति करता है वह अर्थार्थी है । सीता द्वारा की गई पूजा तथा सुग्रीव की गणना भी इसी प्रकार के भक्तों के अन्तर्गत है । आत्मतत्व को जानने का इच्छुक साधक जिज्ञासु कहलाता है । लक्ष्मण, भवानी भारद्वाज आदि इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं । आत्मस्वरूप को जानने वाला तथा भगवान को ही केवल प्राप्य समझने वाला साधक `ज्ञानी` भक्त है । तुलसी द्वारा पात्र

१- रा० १।२२।१-७

रूप में निश्चल भगवान शंकर तथा वाल्मीकि आदि इसी श्रेणी में आते हैं । तुलसी ने इन चारों प्रकार के भक्तों को अनघ एवं उदार तथा सुकृती कहा है । तुलसी के ये सभी भक्त उच्चकोटि के हैं ।

निष्काम भक्ति को प्रश्रय देने के कारण तुलसी ने अकाम और सकाम-- भक्तों के ये दो भेद कामना की दृष्टि से किए हैं । निष्काम भाव से अनन्य भक्ति करने वाले साधक की तुलसी ने सर्वत्र प्रशंसा की है । मानस में राम को निवास स्थान बताते हुए वाल्मीकि ने भी निष्काम भक्त को ही महत्वपूर्ण बताया है । धर्मार्थ,काम,मोक्ष इन चारों में से किसी की भी प्राप्ति की भावना से की गई भक्ति सकाम भक्ति है । रावण आदि इसी कोटि के भक्तों में रखे जा सकते हैं ।

उद्दीपन विभाव

इसके दो भेद हैं -- १- आलम्बनगत, २- आलम्बनेतर । आलम्बनगत विभाव के अन्तर्गत आलम्बन का शील,सौन्दर्य, प्रसाधन, चेष्टाएं, गुण-शौर्य, भक्तवत्सलता आदि आते हैं ।

शील

सम्पूर्ण राम काव्य में तुलसी ने राम को शील का पूर्ण आगार दिखाया है, उनके शील की स्थापना के लिए आद्यन्त ध्यान रखा है । तुलसी के राम बड़ों के प्रति कभी सदाचार का उल्लंघन करते हुए नहीं दिखलाई देते, ऋषि मुनि के समक्ष वे सदैव विनम्र रहते हैं । साथ ही छोटों के प्रति भी उनका व्यवहार स्नेहपूर्ण रहता है । सुग्रीव और राम की मित्रता उनके अनन्य मैत्री भाव की परिचायक है ।

सौन्दर्य

चित में भक्ति को अंकुरित एवं विकसित करने के लिए आलम्बन सौन्दर्य भी उद्दीपन का कार्य करता है । राम बाल्यावस्था से लेकर तरुणावस्था तक सर्वत्र ही सौन्दर्य सुषमा के आकार दिखलाई पड़ते हैं । राम की अनुपम छवि उनके अलौकिक स्वरूप को ही प्रकट करती है ।

प्रसाधन

सौन्दर्य की भांति ही, उसको पुष्ट करने वाला प्रसाधन भी उद्दीपन के अन्तर्गत आता है । उसके वसन, आकल्प, मण्डन आदि अनेक रूप हैं । झगा, दुकूल आदि वसन है । केशबंधन, तिलक, तुलसीमाला आदि आकल्प तथा किरीट, कुण्डल, हार, केयूर, किंकिणी , नूपुर आदि मण्डन हैं । इन सभी से समन्वित राम की सौन्दर्य सुषमा का कवि ने मार्मिक चित्रण किया है । उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त राम का संश्लिष्ट चित्र प्रभावपूर्ण उद्दीपन विभाव के रूप में उपस्थित होता है ।

चेष्टा

चेष्टाओं में राम की बाल क्रीड़ा, भक्त रक्षण, दुष्ट वध आदि आते हैं । बाल क्रीड़ा का सुन्दर चित्र तुलसी प्रस्तुत करते हैं —

कबहुं ससि मागत आरि करैं कबहुं प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ।
कबहुं करताल बजाइके नाचत मातु सबै मन मोद भरैं ।।
कबहुं रिसिआइ कहैं हठिकै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं ।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं ।।[1]

इसी प्रकार की अन्य अनेक उक्तियां रामकाव्य में दृष्टिगत होती हैं । दुष्ट वध आदि राम की लीला के रूप में देखने को मिलते हैं । इस सम्बन्ध में उनकी सबसे बड़ी लीला रावण-वध है । यह रावण महामोह रूप है और प्रवृत्ति रूपी लंकागढ़ में निवास करने वाला है[2] । इस महामोह के सर्वनाश के लिए ही राम रावण का युद्ध होता है । इसके अतिरिक्त अभिमान आदि कुप्रवृत्तियों का सर्वनाश भी वे करते हैं । नारद के समान भक्त के हृदय में कामविजय के सम्बन्ध में अभिमान का उदय होने पर भगवान ने उसका उन्मूलन किया । देवताओं, समुद्र तथा काकभुशुंडि आदि के अभिमान का भी उन्होंने समूल नाश किया । वे अपने भक्त के हृदय में अहंकार रहने नहीं देते[3] ।

१- कवि० १।४

२- स्व० ५८

३- सुनहु राम कर सहज सुभाऊ । जन अभिमान न राखहिं काऊ ।।

— रा० ७।७४।५

गुण

रामकाव्य का प्रत्येक पात्र भगवान शंकर से लेकर तुच्छ शबरी तक सभी राम का गुणगान करते थ नहीं थकते । राम का नखशिख मुख नयन तार आदि उद्दीपन के रूप में ही चित्रित हुए हैं । राम के इन स्वरूपगत गुणों के अतिरिक्त उनकी क्षमाशीलता, न्याय और दया तथा भक्तवत्सलता आदि गुण भी उल्लेखनीय हैं ।

स्थायी भाव

तत्वज्ञान जन्य 'निर्वेद' रामकाव्य का स्थायी है-- जो कि सम्पूर्ण काव्य में शान्तरस का आस्वादन करल कराता है । वैसे तो मर्यादित शृंगार, उच्चकोटि का हास तथा अद्भुत आदि नवों रसों का प्रयोग रामकाव्य में हुआ है किन्तु कवि की दृष्टि सदैव आराध्य युगल 'रामसीता' पर ही केन्द्रित रहती है । राम के दिव्य चरित्र का वर्णन करता हुआ संसार से विमुख हुआ कवि स्वयं तो तृप्ति प्राप्त करता ही नहीं साथ ही रामचरित से तृप्त होने वाले व्यक्तियों को इस अलौकिक रस के आस्वादन के अयोग्य बतलाता है ।

'रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं'[१]।।

तुलसी द्वारा प्रतिपादित भक्ति ज्ञान वैराग्य से युक्त है । अत: उनकी सम्पूर्ण कृतियों में निर्वेद का प्रतिपादन हुआ है । रामचरित मानस विभिन्न कथा-प्रसंगों की अभिवृद्धि के साथ-साथ जीवन की असारता राम का ब्रह्मत्व तथा उनके प्रति अविरल भक्ति भावना का प्रतिपादन करता हुआ रस निर्वेद की पुष्टि करता है । कवितावली का उत्तरकाण्ड, दोहावली तथा गीतावली के अधिकांश स्थलों में यही निर्वेद भाव व्यंजित हुआ है । विनयपत्रिका में तो सर्वत्र ही 'निर्वेद' की अभिव्यक्ति हुई है । उसका प्रत्येक पद भक्ति से पूर्ण है और शान्त का आस्वादन कराता है । 'निर्वेद' भाव का अभिव्यंजक निम्न पद देखिए --

काजु कहा नरतनु धरि सार्यो ।
पर उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्यो ।। १।।

१- रा० ७।५३।१

द्वैत मूल, भय-सूल, सोक फल भवतरु टरै न टार्यो ।
राम भजन-तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवार्यो ।।२।।
संसय सिंधु नाम बोहित भजि निज आतमा न तार्यो ।
जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्यो ।।३।।
देखि आनकी सहज संपदा द्वेष अनल मन जार्यो ।
सम,दम,दया,दीन-पालन,सीतल हिय हरि न संभार्यो ।।४।।
प्रभु गुरु पिता सखा, रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसार्यो ।
तुलसिदास यहि आस, सरन राखिहि जेहि गीध उधार्यो ।।५।।[1]

अन्यत्र भी इसी निर्वेदभावना का दिग्दर्शन कराते हुए वे कहते हैं --

जनम गयो बादिहिं बर बीति ।
परमारथ पाले न पर्यो कछु,अनुदिन अधिक अनीति ।।१।।
खेलत खात लरिकपन गो चलि, जौबन जुबतिन लियो जीति ।
रोग बियोग सोग श्रम संकुल बड़ि बय वृथहि अतीति ।। २।।
राग-रोष-इरिषा-बिमोह-बस रुची न साधु-समीति ।
कहे न सुने गुनगन रघुबर के, भइ न रामपद प्रीति ।।३।।
हृदय दहत पछिताय अनल अब, सुनत दुसह भवभीति ।
तुलसी प्रभु ते होय सो कीजिय समुझि बिरदकी रीति ।।[2]

इस निर्वेद के अनेक उदाहरण रामकाव्य से प्रस्तुत किए जा सकते हैं । यही भाव आद्योपान्त उसमें व्याप्त है । भक्ति से इसका विरोध नहीं मानना चाहिए ।क्योंकि भगवद्रुति सामान्य शृंगारिक रति से भिन्न है । वह द्रुत चित की धारावाहिकी भगवदाकारा वृत्ति है[3] जो कि भगवान के गुण श्रवण आदि से उत्पन्न होती है । परमानन्दस्वरूप परमात्मा से सम्बद्ध होने के कारण वह हमारे निर्वेद स्थायी की अभिव्यक्ति में सहायक होती है । अत: सम्पूर्ण रामकाव्य में वह भक्ति शान्तरस को पुष्ट करती तथा व्यापक बनाती है ।

१- वि० २०२
२- वि० २३४
३- भक्तिरसायन १।३

सांसारिक विषयों की असारता--

जोग बियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा ।।
जनमु मरनु जहं लगि जग जालू । संपति बिपति करमु अरु कालू ।।
धरनि धामु धनु पुर परिवारू । सरगु नरकु जहं लगि व्यवहारू ।।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ।।
सपने होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ ।
जागें हानि लाभु न कछु अस प्रपंच जिय जोइ ।।
मोहनिसां सब सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा[१] ।

आनन्दाश्रु से व्याप्त दृष्टि, गद्गद् वचन इत्यादि --

गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी । प्रगट न लाज निसा अवलोकी ।।
लोचन जलु रह लोचन कोना । जैसे परम कृपन कर सोना ।।
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी । धरि धीरजु प्रतीति उर आनी ।।[२]

तत्त्व कथन --

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ।।
राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तंह मोह निसा लवलेसा ।।
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तंह पुनि बिग्यान बिहाना ।।[३]

यम नियम आदि --

जप तप मख सम दम ब्रत दाना । बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना ।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा । तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ।।[४]

संचारी --

लागति अवध भयावनि भारी । मानहुं कालराति अंधियारी ।।
घोर जंतु सम पुर नर नारी । डरपहिं एकहिं एक निहारी ।।

१-रा० २।६३।५-८, २।६३।२
२-रा० १।२५६।१-३
३-रा० १।११६।४-६
४-रा० ७।६५।५-६

घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुं जमदूता ।।
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं ।।
हय गय कोटिन्ह केलि मृग पुरपसु चातक मोर ।
पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर ।।[1]

ग्लानि --

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई । कुटिल रानि पछितानि अघाई ।
अवनि जमहि जांचति कैकेई । महि न बीचु बिधि मीचु न देई ।।[2]

मति --

तन मन बचन मोर पनु सांचा । रघुपति पद सरोज चितु राचा[3] ।।

जुगुप्सा --

जबतें कुमति कुमत जिय ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ।।
बर मांगत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुंह परेउ न कीरा ।।[4]

आदि

चिन्ता --

सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना । धिग जीवन रघुबीर बिहीना ।।
रहिहि न अंतहु अधम सरीरू । जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू ।।
भए अजस अघ भाजन प्राना । कवन हेतु नहिं करत पयाना ।।[5]
अहह मंद मनु अवसर चूका । अजहुं न हृदय होत दुइ टूका ।।

इत्यादि

स्मरण--

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निरबान ।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूंछ बिषान ।।[6]

१- रा० २।८३
२- रा० २।२५२।५-६
३- रा० १।२५९।४
४- रा० २।१६२।१-२
५- रा० २।१४४।३-६
६- रा० ७।७८

निष्कर्ष -- मुल्यांकन

रामकाव्य में आद्योपान्त शान्त रस का सुन्दर एवं सरस चित्रण देखने को मिलता है। यह चित्रण संत तथा सूफी काव्य से सर्वथा भिन्न रूप में हुआ है। संत काव्य में यौगिक क्रियाओं के समावेश तथा कवियों की रहस्यप्रियता के कारण कहीं-कहीं दुरूहता आ गयी है, इसी प्रकार सूफी काव्य में भी जगत को ब्रह्म साक्षात्कार का माध्यम बनाने से कुछ स्थूलता आ गई है किन्तु रामकाव्य इन सभी दोषों से मुक्त है। उसमें वर्णित भक्ति निरबाध रूप से शान्त का आस्वादन कराती है। उनके वर्णनों में न तो कहीं क्लिष्टता है और न ही सांसारिकता का आभास मिलता है। सम्पूर्ण काव्य को पढ़कर हम एक अपूर्व मनस्तुष्टि का अनुभव करते हैं। अत्यन्त सुगम तथा काव्यात्मक ढंग से दुरूह दार्शनिक सिद्धान्तों एवं भक्ति तत्वों को सामान्य जनता के लिए ग्राह्य बना देने में रामकाव्य का वैशिष्ट्य है।

-0-

अध्याय -- ६

-0-

कृष्णभक्ति काव्य में शान्तरस

अध्याय-- ६

-0-

कृष्णभक्ति काव्य में शान्तरस

(क) सामान्य प्रकृति तथा भक्ति के भाव-भेद-दास्य,सख्य,वात्सल्य और माधुर्य

शान्त रस के प्रतिपादनार्थ जिन विषयों की अभिव्यक्ति आवश्यक है, उनमें तीन प्रमुख हैं -- पहला ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम की भावना का व्यक्तीकरण, दूसरा समस्त सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य का प्रदर्शन और तीसरा विभिन्न दार्शनिक तथ्यों का निरूपण । ईश्वर के प्रति प्रेम भावना विविध रूप में व्यक्त की जा सकती है । दास्य,सख्य,वात्सल्य एवं माधुर्य-- सभी भाव उस अन्यतम प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए शान्त में पर्यवसित हो सकते हैं । सम्पूर्ण भक्ति काव्य इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है । संत,सूफी एवं रामकाव्य-- तीनों में ही इस प्रेम तथा विरक्ति को व्यक्त करने की वाली विभिन्न विचारधाराएं हम देख चुके हैं । निर्गुण निराकारोपासक संत अधिकांशत: उपदेशात्मक शैली में तथा साथ ही माधुर्य भाव से प्रेम तथा विरक्ति को प्राप्त करने का आदेश देते हैं । सूफी परम सत्ता के अनुपम सौन्दर्य को महत्व देते हुए इहलोक को परलोक का साधन मानते हैं तथा रामकाव्य में इस सम्बन्ध में दास्य भावना विकसित रूप में प्राप्त होती है । कृष्ण काव्य में आकर हमें सांसारिक विरक्ति तथा ईश्वरानुरक्ति को व्यक्त करने के लिए सख्य, वात्सल्य,दास्य तथा माधुर्य-सभी भाव दृष्टिगत होते हैं । कृष्ण काव्य का वैशिष्ट्य इसमें ही है कि इन विभिन्न भावों का इसमें प्राचुर्य है, कवियों ने केवल एक ही भाव का आश्रय नहीं लिया ।

दार्शनिक तथ्य-निरूपण भी शान्त के अभिव्यक्तीकरण में आवश्यक है । संत काव्य में इसका प्रयोग अधिक मिलता है । साधक के समक्ष निराकार ब्रह्म के

स्वरूप को स्पष्ट करके आत्मज्ञान द्वारा उसके साथ एकीकार होने की तर्कसम्मत बात कही गई है । कृष्ण काव्य में इन दार्शनिक तथ्यों को व्यक्त करने में कवियों की अभिरुचि अधिक नहीं है । कृष्ण की लीलाओं एवं उनके सौन्दर्य का चित्रण ही कवियों का प्रधान विषय रहा तथापि दार्शनिक सिद्धान्त भी उनके काव्य में यत्र-तत्र प्रासंगिक रूप से चित्रित किए गए हैं । काव्य में वर्णित माया, जीव, जगत आदि के सम्बन्ध में वर्णित सभी उक्तियां शान्त के ही अन्तर्गत हैं । अत: संक्षेप में उनके विचारों को प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा । कृष्ण काव्य में आराध्य कृष्ण के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों की झांकी प्रस्तुत की गयी है । श्रीकृष्ण के निर्गुण रूप की चर्चा सम्पूर्ण सूरसागर में प्राप्त होती है । परम ब्रह्म,अन्तर्यामी कृष्ण समस्त सृष्टि में व्याप्त हैं । उनके व्यापक एवं विराट् स्वरूप की चर्चा अनेक पदों में की गई है[1] । यह ब्रह्म मनसा वाचा कर्मणा अगम तथा अगोचर है[2] । सृष्टि के आदि में यही निर्गुण ब्रह्म था और यही सृष्टि के विभिन्न रूपों में प्रकट होता है । चराचर जगत इसी ब्रह्म की ज्योति से प्रकाशित है । स्थावर, जंगम समस्त सृष्टि पर्यन्त उसी की चेतनता व्याप्त है[3] । जैसे पानी का बुलबुला जल में उठकर पुन: उसी में विलीन हो जाता है । उसी प्रकार समस्त सृष्टि परब्रह्म कृष्ण से उत्पन्न होकर उन्हीं में विलीन हो जाती है[4] । सृष्टि के प्रारम्भ में केवल वही ब्रह्म रहता है तथा अन्त में भी केवल वही अवशिष्ट रहता है[5] । यह ब्रह्म ही सृष्टिकर्ता,पालनकर्ता एवं संहर्ता है । यह निर्गुण ब्रह्म सामान्य व्यक्तियों के ज्ञान से परे है, ज्ञानी ही उसे जान सकते हैं, किन्तु जानकर भी वे उसका वर्णन नहीं कर पाते । यह ब्रह्मानन्द गूंगे के गुड़ के समान वर्णनातीत है । निर्गुण की अगम्यता ही सूर आदि भक्तों को सगुण भक्ति करने के लिए विवश करती है । शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल परब्रह्म कृष्ण में सूर ने विरुद्ध धर्मों का

१- सूरसागर, ३७०,३७१

२- वही, ४६१८

३- वही, ७ ४६२०

४- वही, ३८८

५- वही, २

आरोप भी किया है । निर्गुण निराकार ब्रह्म सगुण रूप धारण कर लौकिक कार्यों को करता हुआ दिखाया गया है । इन लौकिक कार्यों की चरम परिणिति अलौकिकता में ही होती है । परम ब्रह्म कृष्ण के लौकिक कृत्यों का कारण उनकी भक्तवत्सलता तथा अनुग्रह है[1] । यह ब्रह्म घट-घट में निवास करने वाला अन्तर्यामी,[2] त्रिभुवनपति,[3] आदिपुरुष, अविनाशी,देवाधिदेव,[4] अलख,निरंजन और निर्विकार है[5] । नारद के भ्रम को दूर करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण अपना स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं --

मैं व्यापक सब जगत, वेद चारौ मोंहि गायौ ।।
मैं करता मैं भोगता, मो बिनु और न कोई ।
जौ मोंको ऐसो लखै, ताहि भरम नहिं होई ।।
कन्हौ सब गृह जाइ, सबै जानत मोहिं यौंही ।
हरि कौं हमसौं प्रीति, अनत कहुं जात न क्यौं ही ।।
मैं उदास सब सौं रहौं, यह मम सहज सुभाइ ।
ऐसो जानै मोहिं जो, मम माया तरि जाइ ।।[6]

ब्रह्मा को चतु: श्लोकी ज्ञान देते हुए भगवान कहते हैं --

पहिलै हौं ही हो तब एक ।
अमल अकल अज, भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक ।
सो हौं एक अनेक भांति करि, सौभित नाना भेष ।
ता पाछैं इन गुननि गए तैं, हौं रहिहौं अवसेष ।[7]

निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप की चर्चा सूर ने सबसे अधिक की है । सगुण रूप की चर्चा सूरसागर में दो प्रकार से मिलती है । प्रथम प्रकार के अन्तर्गत तो कृष्ण का अवतार रूप में वर्णन है । भक्तों के उद्धार के लिए भगवान विभिन्न रूप धारण कर असुरों का संहार करते हैं । उनके दूसरे रूप में उनकी बालक्रीड़ा तथा ब्रजांगनाओं के

१- सूरसागर, १,१४,१५४,२६४ आदि
२- वही, ७०४,३७०, ३७१, ६२१
३- वही, ~~१२०७~~ ६३१,११०५
४- वही, १२०७
५- वही, ४८२८
६- वही, ४८२८

साथ विभिन्न लीलाएं दान, चीरहरण, रास आदि आती हैं । इन लीलाओं की लौकिकता को कवि ने सर्वत्र आध्यात्मिकता से संयुक्त किया है उदाहरणार्थ निम्न पद लीला के अति व्यापक रूप को व्यक्त करता है --

मोहन रच्यौ अद्भुत रास ।
संग मिलि वृषभानु तनया गोपिका चहुं पास ।।
एक ही सुर सकल मोहे, मुरलि सुधा प्रकास ।
जलहु थल के जीव थकि रहे, मुनिनि मनहिं उदास ।।
थकित भयौ समीर सुनि कै, जमुना उलटी ब धार ।
सूर प्रभु ब्रज-बाम मिलि बन, निसा करत बिहार ।।[१]

इन विभिन्न लीलाओं में कृष्ण का परमानन्द रूप ही केवल अभिव्यक्त किया गया है ।

मीरा कृष्ण के निर्गुण और सगुण रूप को स्वीकार करते हुए उनके एक अन्य रूप का उल्लेख भी करती हैं । वह है कृष्ण का योगिराज रूप । मीरा की निराकार ब्रह्म की धारणा संत-मत के अधिक अनुकूल है । उनका निर्गुण ब्रह्म ऊंचे महल में रहने वाला है-- जिसके पास पहुंचने का मार्ग दुर्गम तथा विषम है । मीरा के ही शब्दों में --

गली तो चारों बन्द हुई मैं हरि सूं मिलूं कैसे जाइ ।
ऊंची नीची राह रपटीली, पांव नहीं ठहराइ ।
सोच सोच पग धरूं जतन से, बार बार डिग जाइ ।
पिया दूर पंथ म्हारो झीणो, सुरत झकोला खाइ ।
कोस कोस पर पहरा बैठया, पैंड पैंड बटमार ।
है विधना कैसी रच दीन्हीं, दूर बस्यौ म्हारो गाम ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सतगुर दई बताय ।
जुगन जुगन की बिछड़ी मीरां, घट में लीन्हीं लाय ।।[२]

योगिराज के रूप में कृष्ण का वर्णन मीरा को अन्य कृष्ण भक्तों से कुछ पृथक कर देता है । कृष्ण भक्त कविअधिकतर भगवान के मधुर रूप के उपासक थे, केवल नरोत्तमदास ने भगवान के करुणामय रूप को अधिक देखा । किन्तु मीरा अनेक पदों में आराध्य

१- सूरसागर, १७५१

२- मीरा की पदा० परिशिष्ट १५

कृष्ण के योगिराज स्वरूप का वर्णन करते हुए उनकी प्राप्ति के लिए स्वयं भी योगी बनने को तत्पर दीख पड़ती है।[1] सगुण रूप में यह ब्रह्म विभिन्न लीलाओं को करने वाला तथा ब्रज का रक्षक है। कृष्ण की लीलाओं का माधुर्यपूर्ण वर्णन अपेक्षाकृत सूर में अधिक मिलता है। मीरा में कृष्ण की लीलाओं के संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। वे अपने पदों में सर्वत्र कृष्ण की रूप माधुरी पर मुग्ध दिखलाई पड़ती हैं। मीरा के ब्रह्म स्वरूप के चित्रण में के अन्तर्गत अन्य रूपों की अपेक्षा कृष्ण का सौन्दर्य-मय रूप अधिक चित्रित हुआ है।

कृष्ण का परम आनन्दमय स्वरूप ही अधिकतर कृष्ण-काव्य का वर्ण्य विषय रहा है। उनके इस स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए कवियों ने विभिन्न लीलाओं का भी गान किया। सूर कृष्ण की रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर उनकी लीलाओं का विस्तृतरूप से गान करते हैं, जब कि मीरा लीला-वर्णन की अपेक्षा कृष्ण की सुन्दर मूर्ति को हृदय में बसाने का ही अधिक आग्रह करती हैं। नन्ददास तथा रसखानि कृष्ण के अन्तर्यामी, अवर्णनीय, परमात्मस्वरूप को देखते हुए भी उनके सौन्दर्य पक्ष का अधिक उद्घाटन करते हैं, फलतः उसकी प्राप्ति के लिए 'प्रेम' को प्रधान साधन के रूप में अंगीकार करते हैं।

अन्य दार्शनिकों की भांति सूर ने भी जीव को परमात्मा का अंश स्वीकार किया है। जीव और ब्रह्म में विद्यमान अन्तर मायाजन्य है। सूर के ही शब्दों में --

आपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।
जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भुकि पर्यौ।
ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृन सूंघि फिर्यौ।
ज्यौं सपने में रंक भूप भयौ, तस कर अरि पकर्यौ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिम्ब देखिकै, आपुनि कूप पर्यौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला में दसननि जाइ अर्यौ।
मर्कट मूंठि छांड़ि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिर्यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनैं पकर्यौ॥[2]

१- मीराबाई की पदावली-- पद ५५,५७,१८८

२- सूरसागर, ३६६

पंचम स्कन्ध में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूर ने उसे शरीर से पृथक कहा है। शरीर नश्वर है, जीवात्मा अनश्वर है, किन्तु अपने कर्मों के कारण उसे विभिन्न शरीर धारण करने पड़ते हैं। अज्ञानी इन शरीरों को देखकर भ्रमित हो जाता है किन्तु ज्ञानी आत्मा को शरीर से पृथक समझता है[2]। सूर सागर में जीव की तीन श्रेणियां स्वीकार की गयी हैं -- १- शुद्ध,व २- संसारी, ३- मुक्त अवस्था। भगवान की नित्य लीलाओं में शुद्ध अवस्था वाले जीवों का वर्णन किया गया है। संसारी जीवों का वर्णन उनके ~~विनय~~ विनय से सम्बद्ध पदों में अधिक मिलता है। संसारी जीवों की विभिन्न दुर्गतियों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। भगवद्कृपा इस प्रकार के जीव को माया के बन्धनों से विमुक्त कर उसको परम आनन्द स्वरूप की प्राप्ति कराती है। मुक्त अवस्था वाले ज्ञानी जीव अज्ञानी जीवों के विपरीत शारीरिक धर्मों को अपने से पृथक समझते हैं[2]। जीव और ईश्वर की एकता प्रतिपादित करते हुए सूर ने कहीं-कहीं यह भी कहा है कि ईश्वर जन्म लेकर जीव कहलाता है[3]। वस्तुतः नियति की प्रबलता ही जीव तथा ईश्वर को जन्म लेने के लिए बाध्य करती है[4]। अपने अज्ञान के कारण जीव संसार के मायात्मक स्वरूप पर आसक्त होता है। संसार का बाह्य स्वरूप सेमल के पुष्प के समान आकर्षक तथा जीव को संसार रूपी सेमल पर आसक्त हुआ बताया है। संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान होने पर जीव को पश्चात्ताप होगा। नन्ददास ने भी जीव को काल,कर्म और माया के अधीन बताया है।

जीव के अज्ञान का प्रमुख कारण भौतिक उपकरणों की मायारूपता है। अतः अन्य भक्त कवियों की भांति कृष्ण-काव्य में भी उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। सूर के विनय के पदों में विशिष्ट रूप से माया सम्बन्धी वर्णनों का बाहुल्य है। ये माया सम्बन्धी वर्णन मृगमरीचिका के सदृशभ्रमात्मक संसार के पीछे दौड़ते हुए जीव को उसके विशुद्ध स्वरूप के परिज्ञान द्वारा पारमार्थिक सत्यों का उद्घाटन करते हैं। इस दृष्टि से समस्त मायात्मक विवरण ऐकान्तिक रूप से शान्तरस

१- वही, ४११

२- वही, ४०७

३- वही, ३८१

४- वही, २६५

को अनुभूति कराता है । सूर ने माया को भगवान की वह शक्ति माना है जिसके कारण मिथ्या संसार सत्य सा प्रतिभासित होता है । तृतीय स्कन्ध में कवि ने इस हरिमाया का स्वरूप कपिल द्वारा स्पष्ट कराया है ।

यह माया अज्ञान रूप कही गई है जिसके वशीभूत हुआ जीव लक्ष्यच्युत हो जाता है । मायाच्छन्न जीव की दशा का वर्णन करते हुए सूर कहते हैं --

अब हौं माया हाथ बिकानौ ।
परबस भयौ पसु ज्यौं रजु-बस, भज्यौ न श्रीपति रानौ ।
हिंसा-मद-ममता-रस भूल्यौ, आसाहीं लपटानौ ।
यही करत अधीन भयौ हौं, निद्रा अति न अघानौ ।
अपने ही अज्ञान -तिमिर में, बिसर्यौ परम ठिकानौ ।
सूरदास को एक आंखि है, ताहू में कछु कानौ ।[1]

माया के अविद्या एवं तृष्णारूप की भी चर्चा सुन्दर रूपक द्वारा की गयी है --

माधौ, नैंकु हटकौ गाइ ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ-पथ, अगह गहि नहिं जाइ ।
छुधित अति न अघाति कबहूं, निगम-द्रुम दलि खाइ ।
अष्ट-दस-घट नीर अंचवति, तृषा तउ न बुझाइ ।
छहौं रस जौ धरौं आगैं, तउ न गंध सुहाइ ।
और अहित अभच्छ भच्छति, कला बरनि न जाइ ।
व्योम, धर, नद, सैल, कानन इते परि न अघाइ ।
नील खुर अरु अरुन लोचन, सेत सींग सुहाइ ।
भुवन चौदह खुरनि खूंदति, सुधौं कहां समाइ ।
ढीठ, निठुर, न डरति काहूं, त्रिगुन ह्वै समुहाइ ।[2] आदि ।

संसार का जितना भी वैभव है, वह सब माया रूप होने के कारण क्षणभंगुर है-- अत: उसमें आसक्त रहकर कर्म करने वाले मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप व्यर्थ जाते हैं ।

१- वही, ४७

२- वही, ५६,५१

माया देखत ही जु गई ।
ना हरि हित, ना तु-हित, इनमें एको तौ न भई ।
ज्यौं मधु माखी संचति निरन्तर बन की ओट लई ।
व्याकुल होत हरे ज्यौं सरबस, आंखिनि धूरि दई ।
सुत-संतान- स्वजन-बनिता-रति,घन समान उनई ।
राखे सूर पवन पाखंडहति, करी जो प्रीति नई ।।[1]

इसी कारण कवि सर्वत्र सांसारिक प्रपंचों से बचने का आदेश देता है[2]। इस माया को नटिनी,भुजंगिनी,मोहिनी आदि अनेक नाम दिए गए हैं । माया के मोहात्मक स्वरूप के कारण ही जीव ईश्वर की सेवा से विमुख हो जाता है तथा अपने हृदय में स्थित परमात्मा को अपने से दूर समझने लगता है[3]। यह माया ईश्वर की शक्ति है । दशम स्कन्ध में स्वयं भगवान कृष्ण ब्रह्मा को प्रत्युत्तर देते हुए अपनी माया को अगम्य और अपार बताते हैं[4]। दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध तक माया के स्वरूप की चर्चा बार बार विभिन्न ढंग से की गयी है । बालक वत्सहरण लीला में कृष्ण ने अपनी माया का स्वरूप स्पष्ट किया है । यह माया कृष्ण की लीलाओं में सहायक कही गई है । इस माया से भ्रमित होकर ब्रजवासी कृष्ण के परम ब्रह्म स्वरूप को भूलकर उनके साथ अपने विविध लौकिक सम्बन्ध स्थापित कर विभिन्न क्रीड़ाएं करते हैं । कृष्ण ब्रजवासियों के भ्रम निवारणार्थ तथा अपने अलौकिकत्व के प्रतिपादन के लिए लीलाएं करते हैं । नंद यशोदा तथा गोपीकृष्ण के अनेक संवादों से इस कथन की पुष्टि होती है ।

दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में माया को प्रभु की दासी,निर्विकार,निरंजन कहा गया है । यह माया ही की लीला में सहायक कही गई है । एक ही समय में सोलह सहस्र रुक्मिणि रानियों के घर अनेक प्रकार से पृथक-पृथक लीलाएं करते देखकर नारद संशय मग्न हो जाते हैं । भगवान उनकी शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो मेरे सर्वव्यापक,कर्ता, भोक्ता रूप को जानता है, मेरे बिना और कोई नहीं है -- ऐसा समझता है, वही मेरी माया से पृथक रह सकता है । नारद स्तुति में माया का विवेचन करते हुए कवि कहता है --

---

१- वही, ५०
२- वही, ४६
३- वही, ४९
४- वही, १११

प्रभु तुव मर्म समुझि नहिं परै ।
जग सिरजत पालत संहारत, पुनि क्यों बहुरि करै ।।
ज्यों पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाइ ।
त्योंही सब जग प्रगटत तुमतें, पुनि तुम मांहि बिलाई ।।
माया जलधि अगाध महाप्रभु, तारि सकै नहिं कोइ ।
नाम जहाज चढ़ै जो कोऊ, तुव पद पहुँचै सोइ ।।[1]

कवि नन्ददास माया को ईश्वर की वशवर्तिनी तथा समस्त संसार को अपने बंधन में बांधे हुए बताया है[2]। नन्ददास की माया सम्बन्धी विचारधारा अद्वैतवाद के प्रतिकूल है । भंवरगीत में ब्रह्म और माया के गुण में अन्तर बताते हुए अद्वैतवादी उद्धव के इस कथन का --

माया के गुन और और गुनब हरि के जानो,
उन गुन को इन मांहि आनि काहे को सानो ।
जाके गुन अरु रूप को जान न पायो भेद,
तातें निर्गुण ब्रह्म को बदत उपनिषद वेद[3] ।
सुनो ब्रजनागरी ।।

प्रतिवाद करती हुई गोपियां कहती हैं --

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहां तें,
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहो कहां ते ।
वा गुन की परछांह री माया दर्पन बीच ,
गुन तें गुन न्यारे भये अमल बारि मिलि कीच,
सखा सुनु स्याम के[4] ।।

मायाजन्य समस्त सांसारिक प्रपंचों की बन्धनरूपता तथा उनके कर्तव्य के प्रतिपादनार्थ प्राय: सभी भक्त कवियों ने परमात्मा में एकनिष्ठ चित होकर भक्ति करने को कहा है । सूर भी संसार से विरक्ति तथा ईश्वरानुरक्ति की महत्वपूर्ण बतलाते हैं । सांसारिक पदार्थों

१-वही,४६२०

२- सकल विश्व अप बस करि, मो माया सोहति है ।

३- भंवरगीत, पृ० १०

४- वही

के दुष्परिणामों का उल्लेख तथा उनके चित्रण की स्वाभाविकता कृष्णलीलाओं के प्रति मन में स्वाभाविक अनुरक्ति उत्पन्न करती है । यह भक्ति ही मनुष्यमात्र का परम कर्तव्य है । इसके बिना समस्त आचरण व्यर्थ और निष्फल हो जाते हैं --

सब तजि भजिए नन्दकुमार ।
और भजे तैं काम सरै नहिं, मिटै न भव जंजार ।
जिहिं जिहिं जौनि जन्म धारयौ, बहु जोरयौ अघ कौ भार ।।
तिहि काटन कौं समरथ हरि कौ तीछन नाम कुठार ।
बेद,पुरान,भागवत,गीता, सब कौ यह मत सार ।
भव समुद्र हरि पद नौका बिनु कोउ न उतरै पार ।
यह जिनि जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार ।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार ।[1]

इस भक्ति के अन्तर्गतजाति-पांति का कोई बन्धन नहीं है[2] । सामान्यव्यक्ति से लेकर ऋषि मुनि तक सभी भक्ति के अधिकारी हैं । बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उसके समक्ष नत मस्तक रहते हैं[3] । अन्य सम्प्रदायों की भांति सूर ने स्त्री को भक्ति के अधिकार से वंचित नहीं किया है । हरि स्त्री और पुरुष में भेद नहीं रखते[4] ।

प्रथम स्कन्ध में ही भक्ति-महिमा से सम्बन्धित अनेक पद मिलते हैं । विशेषतया विनय सम्बन्धी पद भक्ति के उत्कृष्ट उद्गार हैं । माया के मिथ्यात्व ज्ञान के लिए केवल भक्ति सहायक है जो व्यक्ति को आत्मतत्त्व के परिज्ञान द्वारा भव जंजाल से मुक्त करती है । कर्म,ज्ञान एवं वैराग्य सभी का अन्तर्भाव भक्ति के विशाल क्षेत्र में हो जाता है । इन तीनों ही मार्गों के एकांगी होने से किसी भी एक का आश्रय लेकर साधक अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकता । धार्मिक कर्मकाण्ड बिना भक्ति के सम्भव नहीं । भक्ति रहित पूजा आदि कर्म कोई महत्त्व नहीं रखते । इसी प्रकार भक्ति के अनन्तर माया के मिथ्यात्व का ज्ञान तथा फलस्वरूप आत्मज्ञान सम्भव है किन्तु क्रोध,मोह,अहंकार आदि प्रवृत्तियों का दमन करके ज्ञानोपलब्धि दुष्कर है । यही

१- सूरसागर, पद ९८,९३-९७

२- वही, पद २३१

३- वही, २३५

४- वही, २४५

बात वैराग्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है अतः सूर ने उनको स्वीकार करते हुए भी भक्ति की व्यापकता के भीतर रक्खा है । सूर ने अपने विनय संबंधी पदों में सर्वत्र वैराग्यपूर्ण भक्ति का प्रतिपादन किया है । भक्ति द्वारा साधक को समस्त सांसारिक प्रलोभन मिथ्या प्रतीत होते हैं और आत्मस्वरूपोपलब्धि होती है । मानव योनि की प्राप्ति दुर्लभ है। अतः उसे सफल करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है । भगवान कृष्ण की एकान्तिक भक्ति ही में जीवन की सार्थकता है । अजामिल आदि पापियों का उदाहरण देकर कवि ने दिखाया है कि हरि की किंचित भक्ति समस्त पापों से छुटकारा दिला देती है । राजा परीक्षित की कथा में कवि ने इसी वैराग्य-युक्त भक्ति का कथन किया है । वैराग्य समन्वित भक्ति का निम्न पद शान्त की सुन्दर अभिव्यंजना कर रहा है --

हरि बिनु कोऊ काम न आयौ ।
इहिं माया झूठी प्रपंच लगि रतन सौं जनम गंवायौ ।
कंचन कलस,विचित्र चित्र करि, रचि पचि भवन बनायौ ।
तामैं तैं तत छनहीं काढ्यौ पल भर रहन न पायौ ।
हौं तब संग जरौंगी, यौं कहि तिया धूति धन खायौ ।
चलत रही चित चोरि मोरि मुख, एक न पग पहुंचायौ ।
बोलि बोलि सुत -स्वजन, मित्रजन, लीन्यौ सुजस सुहायौ ।।
पर्यौ जु काज अंत की बिरियां तिनहुं न आनि छुड़ायौ ।
आसा करि करि जननी जायो, कोटिक लाड़ लड़ायौ ।
तोरि लयौ कटिहु कौ डोरा, तापर बदन जरायौ ।
पतित उधारन गनिका तारन सो मैं सठ बिसरायौ ।
लियौ न नाम कबहुं धोखें हूं, सूरदास पछितायौ ।।[1]

कपिल द्वारा माता देवहूति को दिए गए उपदेश पुरंजन[2] कथा धृतराष्ट्र के वैराग्य और वन गमन के अवसर पर तथा अन्य अनेक स्थलों में वैराग्य संयुक्त भक्ति की महत्ता बतलाई गई है । राजा पुरुरवा का वैराग्य वर्णन सौभरि ऋषि और अम्बरीष की कथा तथा जड़भरत रहूगण संवाद में वैराग्य की आवश्यकता प्रतिपादित है ।

भक्त के लिए वैराग्य-भावना की अनिवार्यता बतलाते हुए कवि ने योग

१- सूरसागर ३७७
२- वही,३।१४

यज्ञ आदि को भी उसके समक्ष व्यर्थ बतलाया है । जब तक मनुष्य को काम क्रोधादि विकारों का तथा विषयों से अपराग नहीं होता, तब तक तीर्थाटन व्रत आदि सभी निष्फल जाते हैं ।

जौ लौं मन कामना न छूटै ।
तौ कहा जोग जज्ञ व्रत कीन्हें, बिनु कन तुसकौं कूटै ।
कहा सनान कियें तीरथ के, अंग भस्म जट जूटै ।
कहा पुरान जु पढ़ें अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूटैं ।
जग सोभा की सकल बड़ाई इन तैं कछू न खूटै ।
करनी और, कहै कछु औरै, मन दसहू दिसि टूटै ।
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं, जौ इतनानि सौं छूटै ।
सूरदास तबहीं तम नासै, ज्ञान-अगिनि-भर फूटै ।।[1]

कलियुग में जीव के लिए हरिभक्ति ही एकमात्र अवलम्ब रहता है[2]। भक्ति के अनन्तर आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है । अत: कवि अनेक पदों में प्राय: सर्वत्र ही भक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करता है[3]। भक्ति रहित ज्ञान और कर्म की निरर्थकता को सूर पतंग तथा दीपक के दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं । पतंग दीपक के प्रति अपने प्रगाढ़ प्रेम के कारण उसकी शिखा से नहीं डरता और उस पर गिर कर अपना जीवन समाप्त कर देता है । ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी ज्ञान रूप दीपक से सांसारिक दु:खरूपी कूप को देखते हुए भी उसमें गिर जाता है और कर्मों का भार वहन करता रहता है[4]। द्वादश स्कन्ध के अन्तर्गत जन्मेजय के उदाहरण में यज्ञ की निरर्थकता तथा एकमात्र भक्ति को ही अवलम्बन कहा गया है[5]।

सूर ने योग मार्ग की निन्दा करते हुए योग का अन्तर्भाव भक्ति में किया है । दशम स्कन्ध में कवि ने ज्ञान, योग तथा वैराग्य के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करते हुए कहीं-कहीं उनका प्रत्याख्यान भी किया है । कवि मानव मूल प्रवृत्तियों को परमात्मा रूप कृष्ण की लीला में केन्द्रित कर कृष्ण की लौकिक लीलाओं द्वारा परम

सूरसागर
१- वही, ३६२
२- वही, ३४५,३४६,३४७-३४६
३- वही, ३४५, ३५२
४- वही, ५५
५- वही, ४६३६

ब्रह्म के प्रति अलौकिक भक्ति का प्रतिपादन करता है । जिस निराकार सत्ता के प्रति मन को केन्द्रित करना मनुष्य के लिए दुर्लभ होता है उसके सौन्दर्यमय पक्ष को अधिक उभार कर कवि ने सहज रूप से उसको भक्ति की प्रेरणा दी है । कृष्ण की सौन्दर्य सुषमा पर मुग्ध भक्त गोपियां इसका निदर्शन हैं । कृष्ण के प्रति परम अनुराग मय भक्ति के कारण वे अपने को कृष्ण से अभिन्न देखती हैं । भ्रमरगीत प्रसंग में वैराग्य योग आदि का विरोध और भी स्पष्ट रूप से किया गया है । गोपियां उद्धव के प्रति अनेक प्रकार की व्यंग्योक्तियों द्वारा निर्गुण ब्रह्म की अगमता तथा योग आदि की दुरूहता प्रतिपादित करती हैं ।

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ।
बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यौं पजरे पर लौन ।
सृंगी, मुद्रा, भस्म, त्वचा मृग, अरु अवराधन यौन ।
हम अबला अहीरि सठ मधुकर, धरि जानहिं कहि कौन ।।
यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु जिनहिं आजु सब सोहत ।
सूरदास कहुं सुनी न देखी, सूतरी पोवत ।।[१]

सम्पूर्ण भ्रमरगीत प्रसंग में कवि ने प्रेमभक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए योग मार्ग की अगमता प्रदर्शित की है ।

भक्ति का अन्य अनिवार्य साधन गुरु भक्ति तथा सत्संग है । गुरु की कृपा तथा सत्संग द्वारा मनुष्य संसार की असारता को समझ कर परमानन्द में अनुरक्त होता है । हरिनाम स्मरण का पथप्रदर्शक गुरु ही है । गुरु मनुष्य को लौकिक संबंधों से विरत कर परमब्रह्म कृष्ण के प्रति विभिन्न सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है । गुरु साधक के अन्तःकरण में भक्ति का उन्मेष करने वाला है । सत्संगति भी भक्ति का अन्य आवश्यक लक्षण है । सांसारिक विषयों का आकर्षक स्वरूप बरबस बरबस ही लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता है । उनसे विरक्त रहने के लिए सत्संग आवश्यक है । साधु संगति विषयों के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा का भाव उत्पन्न करेगी । विषयों से पृथक रहने के लिए कवि ने सदाचार के महत्व को भी स्वीकार किया है, परन्तु भक्ति होने पर ही उसकी सार्थकता है । भक्ति रहित

१- वही ४३०८

सदाचार बाह्याडम्बर मात्र रहेगा । भक्ति-रहित सदाचार में कामादि मनोविकारों की स्थिति भी बनी रहेगी ।अपने विनय सम्बन्धी पदों में सूर ने कर्म तथा अकर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त पद लिखे हैं । काम क्रोधादि के दमन पूर्वक मन को वशीभूत कर किया गया सदाचरण मनुष्य को कर्म तथा भक्ति के लिए विवश करता है । अत: व गुरु-भक्ति रहित तथा सदाचरणहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है --

नर तैं जनम पाइ कह कीनो
उदर भर्यौ कूकर सूकर लौं, प्रभु कौ नाम न लीनौ ।
श्रीभागवत सुनी नहिं श्रवननि गुरु गोविन्द नहिं चीनौ ।
भावभक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषया मैं दीनौ[1] ।

आदि

भक्ति के अन्य आवश्यक साधन के रूप में कवि ने नाम स्मरण को अधिक महत्त्व दिया है । अव्यक्त तथा अलौकिक सत्ता को प्रत्यक्ष करने के लिए नामस्मरण अनिवार्य है । नामस्मरण द्वारा साधक का विषयानुराग नष्ट हो जाता है तथा ईश्वर में उसकी प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न होती है । सांसारिक वस्तुओं के प्रति सहज रूप से आकृष्ट होने वाले मन को उनसे विरत करने का नामस्मरण सुगम साधन है । सर्वसामान्य के लिए सुलभ होने के कारण सभी भक्त कवियों ने इसको महत्त्व दिया है । सूर ने अपने आराध्य को सौन्दर्य सुषमा का आगार दिखाया है, सभी उनको रूप माधुरी पर मुग्ध रहते हैं । अत: थोड़े से नामस्मरण द्वारा भक्त उस सौन्दर्य पर आसक्त होकर लौकिकता से छुटकारा प्राप्त कर लेता है । सूरसागर में नामस्मरण की महिमा का अनेकविध गान किया गया है । नामस्मरण के सहारे अधम से अधम भी तर जाते हैं[2] । अजामिल ने धोखे से नारायण का नाम लिया और उसे मुक्ति मिल गई । किसी भी प्रकार से नामस्मरण करने पर भक्ति की प्राप्ति होती है[3] ।प्रह्लाद की विख्यात कथा नाम महिमा का अन्य उदाहरण है । बिना नाम स्मरण के मनुष्य सांसारिक विषयों में लिप्त हुआ जोगी के कपि की भांति नाचा करता है[4] । राम नाम में इतनी अधिक शक्ति है कि उससे न केवल यह जन्म अपितु आगामी जन्म

१- सूरसागर, ६५
२- वही, ६६,६८,११६,१२१ आदि
३- वही ४१५
४- वही ५६

भी उधर जाता है[1]। माया रूपी भुजंगिनी से छुटकारा पाने के लिए कृष्ण नाम ही सहायक हैं[2]। कलियुग में भी राम नाम ही सार है अन्य समस्त साधन व्यर्थ हैं[3]। कृष्ण के रूप एवं लीलाओं का विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हुए कवि ने नामस्मरण के महत्व को बराबर बताया है।

गुरु-कृपा, साधु समागम, सदाचरण आदि भक्ति के अनिवार्य तत्व होते हुए भी बिना हरि की कृपा के निरर्थक हैं। बिना हरि-कृपा के अविरल भक्ति प्राप्ति असम्भव है। भक्त को हरि की कृपा का भरोसा रहता है। इसी कारण सूर ने भी आत्मदोषदर्शन द्वारा प्रभु को अपने विरद का स्मरण दिलाया है। भगवत्कृपा पापी एवं पुण्यात्मा किसी पर भी हो सकती है[4]। बिना भगवत्कृपा के मनुष्य के सभी उद्यम व्यर्थ जाते हैं[5]। किसी को व्यर्थ अभिमान नहीं करना चाहिए। हरि जिस पर कृपा करते हैं वही जीतता है[6]। रामावतार की कथायें भी इसी प्रकार हरि-कृपा का उल्लेख हुआ है[7]।

भगवत्कृपा एवं भक्ति प्राप्ति के लिए भगवान की लीला तथा रूप में आसक्ति का होना भी अनिवार्य है। सूर सागर कृष्ण की लीला सम्बन्धी पदों का आकार है। निराकार अमूर्त वस्तु में चंचल मन को केन्द्रित करना सामान्य व्यक्ति के लिए दुष्कर ही नहीं असम्भव है। अपनी मनोवृत्तियों को परमात्मा में केन्द्रित करने के लिए साकार रूप की कल्पना आवश्यक है। इसी से सभी सगुण भक्त कवियों में ईश्वर के सौन्दर्यमयरूप को ही अधिक प्रधानता दी है। सूर द्वारा प्रस्तुत कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का अनेकश: वर्णन उनके दिव्य स्वरूप की झांकी प्रस्तुत करता है। वस्तुत: कृष्ण की विविध लीलाएं एवं उनका सौन्दर्य भक्ति की दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक है।

सूरसागर

१- वही, २६७

२- वही, ३७५

३- वही, ३४६

४- वही, १२८,१३०,१३८,२११,२१६-२१७,२२०-२२१ आदि

५- वही, ४३५

६- वही, ४३७

सूरसागर में वर्णित कृष्ण की विविध लीलाएं तथा कृष्ण का सौन्दर्य सामान्य व्यक्ति के चित्त को सहज रूप में आकृष्ट करता है । उनकी पार्थिव लीलाओं का वर्णन करते हुए कवि बीच-बीच में सर्वत्र ऐसे संकेत करता चलता है जिससे उनका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से हो जाता है और वे हमें लौकिकता के स्थान पर अलौकिकता का आस्वादन कराती हैं । सूरम कृष्ण की लीलाओं में लौकिक एवं अलौकिक जगत का अद्भुत सामन्जस्य मिलता है तथा लीलाओं का मुग्धकारी स्वरूप भक्त को अपनी ओर आकृष्ट करता है । सूरदास की यह भक्ति स्वत: ही परिपूर्ण है जिसकी प्राप्ति होने पर अन्य किसी फल की इच्छा नहीं रहती । भक्ति का चरम रूप साधक और साध्य की एकता में है । अत: भक्ति का फल भक्ति ही सूर ने बताया है और सर्वत्र भक्ति प्राप्ति के लिए ही वे याचना करते हैं ।[१]

वात्सल्य भाव

सूर के काव्य में वात्सल्य भक्ति का बड़ा ही पूर्ण एवं व्यापक रूप मिलता है । उनके काव्य में वर्णित वात्सल्य की व्यापकता को ध्यान में रखकर परवर्ती आचार्यों ने उसे रस रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है । वात्सल्य भक्ति का शुद्ध भाव है । इसमें माधुर्य भाव की भांति न तो ऐन्द्रिकता की आवश्यकता है और न शुद्ध वैराग्य की भांति केवल विरक्ति का आग्रह । शिशु कृष्ण ही इस भक्ति के आलम्बन हैं । कृष्ण की बाल सुलभ लीलाओं को देखकर उनके प्रति ऐसी वात्सल्यजन्य अनन्य आकर्षण की भावना प्रादुर्भूत होती है जिसके समक्ष अन्य समस्त सांसारिक अनुभूतियां तुच्छ प्रतीत होने के कारण विस्मृत हो जाती हैं तथा व्यक्ति की सभी वृत्तियां बालक की विभिन्न क्रीड़ाओं पर केन्द्रित हो जाती हैं । अत: कृष्ण काव्य में वात्सल्यमय अनुराग हमें सर्वत्र परमब्रह्मस्वरूप बालकृष्ण में अनुरक्त तथा संसार से विरक्त रहने की प्रेरणा देता है ।

कृष्ण-जन्म के अवसर पर ही कवि उनके अलौकिक रूप की ओर संकेत करना प्रारम्भ कर देता है । भगवान को जन्मते ही समुद्र तथा मेघ मन्द-मन्द स्वर करने लगते हैं ।[२] कृष्ण-जन्म के अवसर पर उनकी अलौकिक सुषमा का वर्णन करते हुए कवि कहता है --

---

१- सूरसागर, १०६,१४७,१६८,१७८,३५५ आदि

२- वही १०१४

माथे मुकुट, सुभग पीतांबर, उर शोभित भृगु रेखा ।
संख-चक्र-गदा पदम विराजत, अति प्रताप सिसु भेखा[1] ।।

सिशु कृष्ण की यह सुषमा सामान्य बालकों से भिन्न है ।

कृष्ण द्वारा पूतनावध की घटना में पुन: कृष्ण की अलौकिकत्व का परिचय मिलता है । प्रस्तुत घटना यशोदा के वात्सल्य का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करती है । विष का स्तन पान कराने वाली पूतना का संहार कृष्ण ने सहज ही कर डाला । यह जानकर यशोदा का वात्सल्य उमड़ आता है, वे अपने मृत्यु के मुख से निकले बालक को प्रेम विभोर होकर उठा लेती है और उनका मुख चूमने लगती है --

जसुमति विकल भई छिन पलना ।
लेहु उठाइ पूतना उर ते मेरो सुभग सांवरो ललना ।
गोपी लै उठाइ जसुमति कौ दीन्यौं हरिष बहुर के दलना।
सूरदास प्रभु कौ मुख चूमति हृदय लाइ पौढ़ाइ पलना[2] ।

कृष्ण के बाल-रूप वर्णन , उनकी विभिन्न क्रीड़ा तथा संस्कार सम्बन्धी पद वात्सल्य भाव के ही सूचक हैं । बड़े होने पर कृष्ण गाएं चराने जाते हैं । उस समय भी उनकी चमत्कारपूर्ण लीलाओं का उल्लेख सूरसागर में हुआ है[3] ।

कृष्ण के स्वरूप को जानते हुए भी यशोदा वात्सल्यवश उनके कालीनाग के दमनार्थ जल में प्रविष्ट होने पर अत्यधिक विलाप करती है, परन्तु कृष्ण जब सुरक्षित बाहर निकल आते हैं तो उनका मातृ हृदय प्रसन्नता से गद्गद् हो जाता है ।

लीन्हों जननि कंठ लगाइ ।
अंग पुलकित,रोम गद्गद् सुखद आंसु बहाइ[4] ।

केवल यशोदा ही नहीं कृष्ण को कालीदह से निकला हुआ देखकर सभी उनके साथी गोप-गोपियां तथा सभी ब्रजवासी स्नेहातिरेक वश आतुरता से दौड़-पड़ते हैं --

जलते आए स्याम तब, मिले सखा सब धाइ ।
मातु-पिता दोउधाइ के, लीन्हौ कंठ लगाइ ।
फेरि जन्म भयौ कान्ह, कहत लोचन भरि आए ।
जहां तहां ब्रज नारि, गोप आतुर है धाए[5] ।

सूरसागर
1- वही, 1014
2- वही, 54
3- वही, 1054,1056
4- वही, 566 तथा 605
5- वही

कृष्ण की इसी प्रकार की अन्य अनेक असाधारण घटनाओं को देखकर भी यशोदा का उन्हें सामान्य शिशु समझ कर उनके प्रति वैसा ही स्नेह करना वात्सल्य भक्ति की पराकाष्ठा है । वन में आए हुए राक्षसों को तो कृष्ण अपने समस्त सखा ग्वाल-वालों के समक्ष मारते हैं । इन राक्षसों का साक्षात्कार सभी ग्वालबालों ने किया था । अत: वे कृष्ण की माता को तो धन्यवाद देते ही हैं-- साथ ही अपने घर तुरन्त जाकर अपनी अपनी माताओं को भी सब वृत्तान्त सुनाते हैं । प्रबन्ध वध का वर्णन अत्यन्त विस्तार से ग्वालों ने किया है --

आजु कन्हैया बहुत बच्यौ री ।
खेलत रह्यौ घोषक के बाहर कोउ आयौ सिसु रूप रच्यौरी ।।
मिलि गयौ आइ सखा की नाईं, लै चढ़ाई हरि कंध सच्यौरी ।
गगन उड़ाइ कै गयौ लैस्यामहिं, आनि धरनि पर आप दच्यौरी।।
धर्म सहाइ होत हैं जहं तहं स्रम करी पूरब पुन्य पच्यौरी ।
सूर स्याम अब कैं बचि आए, ब्रज घर-घर-सुख सिंधु मच्यौरी ।।[1]

अन्य माताओं का हृदय जब इतना स्नेहप्लावित हो उठा तो फिर यशोदा का क्या कहना । इस वात्सल्य के दोनों पहलुओं -- संयोग,वियोग के सुन्दर चित्र मिलते हैं । संयोग वर्णन में पितृ वात्सल्य की अपेक्षा माता यशोदा का वात्सल्य भाव ही अधिक पुष्ट हुआ है । इसके अन्तर्गत बालकों की स्वाभाविक चपलता, विभिन्न क्रीड़ाएं, उनके निष्कपट वचनों तथा सुकुमार कृत्यों का विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया गया है । वियोग वात्सल्य का प्रारम्भ उस समय होता है जब अक्रूर कृष्ण और बलराम को बुलाने के लिए निमन्त्रण लेकर ब्रज आते हैं । दोनों भाई उनके साथ चलने को उद्यत हो जाते हैं किन्तु यशोदा का हृदय दु:ख सागर में निमग्न हो जाता है । वे अत्यन्त दीन होकर कहती हैं --

मोहन नैकु बदन तन हेरौ ।
राखौ मोहिं नात जननी कौ, मदन गुपाल लाल मुख फेरौ ।।
पाछं चढ़ौ बिमान मनोहर , बहुरौ ब्रज में होत अंधेरौ ।
बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै,-- निरखौं घोष जनम कौ खेरौ ।।
समदौ सखा स्याम यह कहि-कहि, अपने गाइ ग्वाल सब घेरौ
गए न प्रान सूर ता अवसर, नंद जतन करि रहे घनेरौ ।।[2]

१- वही ६०६
२- वही ३६०८

यहां यशोदा का मातृ-स्नेह दर्शनीय है । वे कृष्ण से मुख फेरने को कहती हैं ताकि जब तक वियोग नहीं हो रहा है , तब तक उनके मुख दर्शन से उत्पन्न सुख की अनुभूति वे कर सकें । यशोदा उनसे जल्दी लौटने का आग्रह करती हैं और नन्द कृष्ण को गोकुल वापस लौटा लाने के उद्देश्य से उनके साथ ही चले जाते हैं । कृष्ण नन्द को ग्वालों सहित लौट जाने के लिए विभिन्न प्रकार के कष्टप्रद वचन कहते हैं किन्तु पितृवात्सल्यवश वे कृष्ण पर किंचित् मात्र क्रोधित नहीं होते और सोचते हैं कि असुरों का संहार करने के कारण कृष्ण निष्ठुर हो गए हैं । फिर भी कृष्ण के बिना अकेले लौटने की उनकी इच्छा नहीं होती । वे कहते हैं कि --

गोपालराइ हौं न चरन तजि जैहौं ।
तुमहिं छांड़ि मधुबन मेरे मोहन, कहा जाइ ब्रज लैहौं ।।
कैहौं कहा जाइ जसुमति सौं, जब सन्मुख उठि ऐहै ।
प्रात समय दधि मथत छांड़िकै, काहि कलेऊ देहैं ।
....
रिपु हति काज सबै कत कीन्हौ कत आपदा बिनासी ।
डारि न दियौ कमल कर तैं गिरि, दबि मरते ब्रजवासी ।।
बासर संग सखा सब लीन्हे, टेरि न धेनु चरैहौ ।
क्यौं रहिहैं मेरे प्रान दरसबिनु, जब संध्या नहिं ऐहौ[1] ।।

उपर्युक्त पद में गोवर्द्धन धारण आदि का कथन कृष्ण के अलौकिक रूप की ओर संकेत करता है तथा प्रातः होने पर कृष्ण का सखाओं को न पुकारना और गाएं न चुराना आदि बातें सोचकर नन्द के नेत्रों का अश्रुप्लावित होना उनके वात्सल्य का द्योतक है । श्रीकृष्ण के दर्शन की तीव्र इच्छा द्वारा सूर की वात्सल्यजन्य भक्ति व लक्षित होती है ।

नन्द के साथ ही साथ कृष्ण के सभी सखा इस वियोग से परम व्याकुल हो उठे । पुनः जब कृष्ण नन्द से "होहु बिदा घर जाहु गोसाईं माने रहियौ नातै" इत्यादि वचन कहते हैं, तब तो नन्द की दशा दुःखावेग से बड़ी विचित्र हो जाती है । स्नेहवश उनसे कृष्ण का वियोग सहन नहीं होता, फिर भी उन्हें ग्वाल बालों सहित ब्रज लौटना ही पड़ा । कवि ने यह दृश्य बड़ी ही मार्मिकता से व्यंजित किया है ।

सूरसागर
१- वही , ३७२१

सभी गोकुल के निकट पहुंच जाते हैं किन्तु मन उनका मथुरा की ओर जा रहा है। किसी को अपने तन मन की सुध नहीं। सभी कृष्ण के विछोह में व्याकुल हैं। सूर द्वारा चित्रित वात्सल्य भाव सम्बन्धी पदों में उनके बालकृष्ण का अलौकिक तथा परमानन्द रूप सर्वत्र व्यंजित होता है। अन्यथा नन्द के अतिरिक्त अन्य ग्वालबालों का ऐसा आकर्षण दुर्लभ होता। निम्न पद में नन्द तथा गोप सखाओं की कृष्ण-वियोग की विह्वलता दर्शनीय है --

चले नन्द ब्रज कौं समुहाइ।
गोप सखा हरि बोधि पठाए, सँग चले अकुलाइ ।।
काहूं सुधि न रही तन की कछु, लटपटात परे पाइ।
गोकुल जात फिरत पुनि मथुरा, मन तिन उतहिं चलाइ ।।
विरह सिंधु में परे चेत बिनु, ऐसेहिं चले बहाइ।
सूरस्याम बलराम छांड़िकै, ब्रज आए नियराइ[1] ।।

इधर यशोदा जो कि अत्यन्त अधीरतापूर्वक कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं, कृष्ण को न देखकर व्याकुल हो उठती हैं। वे अनेक प्रकार के कटु वचन कहकर नन्द को धिक्कारती हैं, कृष्ण के वियोग में जीवित रहने के लिए उन्हें लांछन तक दे डालती हैं।

जसुदा कान्ह कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौ, कैसे मारग सूझै ।।
इक तौ जरी जात बिनु देखैं अब तुम दीन्हौ फूंकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुंवर बिनु फटि न भई द्वै टूक ।।
धिक तुम धिक ये चरन अहो पति, अध बोलत उठि धाए।
सूर स्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए[2] ।।

यशोदा की यह पति-अवहेलना उनके पुत्र वात्सल्य की पराकाष्ठा और कृष्ण के परमब्रह्म स्वरूप की सूचक है। अन्यथा नन्द को इस प्रकार की वियोगपूर्वक स्थिति में देखकर भी कहे गये उनके तिरस्कारपूर्ण वचन निरर्थक होते। वे अत्यन्त आतुरता से नन्द से फिर कहती हैं --

---

१- सूरसागर, ३७८४
२- वही, ३७५८

सूर नन्द फिरि जाहु मधुपुरी, ल्यावहु तुम करि कोटि जतन घनें[1] ।।
ले आवहु गोकुल गोपालहिं ।
पाइंनि परि क्यौं हूं बिनती करि छल बल बाहु बिसालहिं ।।
अब की बार नैकुं दिखावहु, नन्द आपने लालहिं[2] ।

यहां मातृ-प्रेम की विह्वलता दर्शनीय है । वह छल-बल किसी भी साधन से अपने पुत्र को अपने पास देखना चाहती है । यहां तक कि वे स्वयं मथुरा जाने को उद्यत हो जाती है, उन्हें पर-उपहास की चिन्ता नहीं । कृष्ण के प्रति उनका अगाध स्नेह है अत: वे वासुदेव की दासी बनकर भी कृष्ण का मुख देखने की इच्छा रखती है ।

हम तौ माई मथुरा ही पै जैहौं ।
दासी है वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं ।।
राखि राखि से दिवसनि मोहिं, कहा कियौ तुम नीकौ ।
सोऊ तौ अक्रूर गए लै तनक खिलौना जी कौ ।
मोहिं देखि कै लोग हसैंगे, अरु किन्ह कान्ह हसै ।
सूर असोस जाइ देहौं,जनि न्हातहु बार खसै[3] ।।

यशोदा का यह सन्देह नि:सन्दिग्ध रूप से सूर की वात्सल्य भक्ति का परिचायक है । भावों की इतनी गहनता क्या सामान्य पुत्र के लिए सम्भव हो सकती थी ? नन्द और यशोदा को यह ज्ञात हो जाता है कि कृष्ण हरिरूप हैं । अत: अब उन्हें और भी पश्चाताप होता है कि उन्होंने भगवान से गोचारण आदि विभिन्न कार्य तो करवाए किन्तु उनके चरणों की सेवा नहीं की ।

कृष्ण को मथुरा गये बहुत दिन हो जाते हैं । ब्रज में होने वाले अनेक उत्पातों को देखकर यशोदा मथुरा को ले जाने वाले राहगीरों के माध्यम से कृष्ण के पास कभी यह सन्देश भिजवाती है --

पंथी इतनी कहियौ बात ।
तुम बिनु इहां कुंवर बर मेरे, होत जिते उतपात ।।
बकी अघासुर टरत न टारे, बालक बनहिं न जात ।
ब्रज पिंजरी रुधि मानौ राखे, निकसन कौं अकुलात ।।
गोपी गाइ सकल लघु दीरघ पीत बरन कृस गात ।
परम अनाथ देखियत तुम बिनु, केहि अवलंबै[4] ।।

१- वही, ३७५७
२- वही, ३७८२
३- वही, ३७८८
४- वही, ३७८२

और कभी कहलवाती है --

कहियौ स्याम सौं समुझ्ाइ ।
यह नातौ नहिं मानत मोहन, मनौ तुम्हारी धाइ ।।
एक बार माखन के काजें राखे मैं अटकाइ ।
वाकौ बिलग न मानौ मोहन, लागै मोहि बलाइ ।।[१]

अधिक दिन व्यतीत हो जाने पर कृष्ण का संदेश लेकर उद्धव आते हैं । यशोदा को विश्वास है कि कृष्ण एक न एक दिन अवश्य लौटेंगे । उन्होंने कृष्ण को ऐसा कुछ भी नहीं कहा जिसे वे न लौटें और वहीं बस जायं । उद्धव से कहती है--

मैं नंद नंदन सौं कछु न कह्यौ ।
सुनि ऊधौ हरि ऐसी कीन्हीं, मधुपुरी बसि-बु रह्यौ ।।
चलत कह्यौ हौ मोहन आवन, मैं बिस्वास गह्यौ ।
सुर बियोग नंद नंदन कौ, अब नहिं जात सह्यौ ।।[२]

पुन: वे स्वयं कह उठती हैं कि कृष्ण गोकुल में नहीं रहते तो न सही किन्तु वे एक बार अपने दर्शन दे दें ताकि मेरा जन्म सफल हो जाय ।

गोपालहिं पठै देहु हम देखैं ।
एक बार मिलि जाहु पाहुनैं, जनम सफल करि लेखैं ।।
कहियौ जाइ देवकी सौं तुम, कौन घाटि हम कीन्हीं ।
मैं तुम्हरे ढोटा के बदलैं तनया कंस बलि दीन्हीं ।।
इतनो सील करैं पालागैं, यहै निहारौ मानैं ।
अपने तैं ह्वैं हैं न पराए यह प्रतीति जिय आनैं ।।
जौ हौं मधुबन देखन जाऊं सब ब्रज लागै साथ ।
एक बार मुख देखि पठैहौं, सुरदास के हाथ ।।[३]

यशोदा उद्धव जी के साथ अपने पुत्र के लिए मुरली तथा उन गायों का घृत जो कृष्ण को प्यारी थीं, भेजती हैं । उद्धव के मथुरा प्रत्यागमन के अवसर पर प्रेमविभोर उनकी दशा पुन: अत्यन्त दयनीय हो जाती है --

----

१- सुरसागर, ३७६०
२- वही, ४७०१
३- वही, ४७०५

सुधि न उठत जसोदा जननी, मनौ भुवंगम डासी ।
छूटत नहीं प्रान क्यौं अटकैं, कठिन प्रेम करि फांसी[1] ।।

एक बार कृष्ण ने कुरुक्षेत्र से नंद यशोदा तथा गोप-गोपियों को बुलाने के लिए अपना दूत भेजा । दूत के मुख से यह शुभ संवाद सुनकर कृष्ण मिलन के लिए अत्यन्त उत्सुक नंद,यशोदा तथा ब्रजवासियों की दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है --

नंद यशोदा सब ब्रजवासी ।
अपने अपने सकट साजिकै , मिलन चले अविनासी ।।
कोउ गावत कोउ बेनु बजावत, कोउ उतावल धावत ।
हरि दरसन की आसा कारन, विविध मुदित सब आवत ।।
दरसन कियौ आइ हरि जू कौं, कहत सपन कै सांचौ ।
प्रेम मगन कछु सुधि न रही अंग, रहे स्याम, रंग रांचौ ।।
जासौं जैसी भांति चाहिए ताहि मिले त्यौं धाइ ।
देस देस के नृपति देखि यह, प्रीति रहे अरगाइ ।।
उमंग्यौ प्रेम समुद्र दुहूं दिसि परिमिति कही न जाइ ।
सूरदास यह सुख सो जानै, जाकैं हृदय समाइ[2] ।।

यह अपार आनन्द कृष्ण के असामान्य स्वरूप का बोधक है । सूर के कृष्ण साक्षात् विष्णु के अवतार हैं । उनकी क्रीड़ाओं सामान्य मानव-शिशुओं से पृथक कर कवि ने देखा है । ~~किन्तु~~ यद्यपि उसने अपने काव्य-कौशल द्वारा इन बाल-भावों का वर्णन इतने स्वाभाविक रूप में किया है कि वे लोकातीत नहीं प्रतीत होते तथापि उनसे कृष्ण के अलौकिकत्व को विस्मृत नहीं कियाजा सकता । यशोदा अपने पुत्र के ऐसे कार्यों को जो कि सामान्य बालकों के बस के बाहर है-- देखकर आश्चर्यान्वित होती हैं किन्तु इससे उनके वात्सल्यजन्य स्नेह में कुछ कमी नहीं आने पाती । केवल यशोदा ही नहीं, ब्रज की गोपियां भी बाल कृष्ण के अभिराम सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनसे सहज स्नेह करती हैं । कंस द्वारा भेजे गए विभिन्न असुरों का कृष्ण द्वारा संहार देखकर ब्रजनारियों को किंचित भ्रम होता है किन्तु

सूरसागर
१- वही, ४७०६
२- वही, ४८००

उनकी बालक्रीड़ा के मनोहारी रूप से वे पुन: सब कुछ भूल जाती हैं । व्रजांगनाओं का इन्द्र की पूजा से विरत होकर गोवर्द्धन पूजा के लिए कृष्ण के कहने से लग जाना उनके वात्सल्यजन्य भक्ति का सूचक है ।

कृष्ण का अपनी रक्षा के लिए नन्द के यहां ले जाने का उपाय स्वयं बताना[1] तथा गोकुल से मथुरापर्यन्त समस्त बाधाओं का नाश करना[2]-- आदि बातें कृष्ण के प्रति प्राकृत स्वरूप की परिचायक हैं और इनमें वसुदेव तथा देवकी के भक्ति पूर्ण वात्सल्यभाव का ही प्राधान्य है । यद्यपि उनकी वात्सल्य भक्ति में भावों की वह गहनता तथा विविधरूपता नहीं देखने को मिलती है जो यशोदा के वात्सल्य में प्राप्त होती है ।

तदनन्तर कृष्ण के गोकुल आने पर गोकुलवासियों का आनन्दमग्न होना,[3] नन्द और यशोदा का उछाह, नन्द का दान[4] आदिजन्य इसी प्रकार की उत्साहपूर्ण घटनाएं वात्सल्य भक्ति के ही उद्गार हैं । वात्सल्य भक्ति के ही कारण समस्त व्रजवासियों में अपना स्नेह व्यक्त करने की स्पर्द्धा होती है[5]।

वात्सल्य भक्ति एक ऐसा भाव है जिसमें न तो वैराग्य आदि की आवश्यकता होती है और न नाम गुण आदि के चिन्तन की । न उसमें ऐन्द्रिकता ही रहती है । अत: इस भक्ति में इन्द्रिय निग्रह आदि की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, सांसारिक प्रलोभनों के प्रति विकर्षण भी उसमें स्वाभाविक रूप से हो जाता है । इस वात्सल्य भक्ति को कवि ने यशोदा,नन्द,वसुदेव, देवकी तथा अन्य व्रजनारियों एवं गोपों द्वारा व्यक्त कराकर व्यापक रूप प्रदान किया है । तथापि यशोदा में यह भाव जितनी गहनता एवं परिपूर्णता को प्राप्त हो सका है उतना अन्य में नहीं । यशोदा का प्रगाढ़ स्नेह उन्हें कृष्ण के प्रति लौकिक कार्यों की ओर उन्मुख ही नहीं, होने देता । इसी से वे कृष्ण के अलौकिक कार्यों को देखकर भी उनसे बालक की भांति स्नेह करती है । माटी भक्षण प्रसंग में सखागण यशोदा के पास शिकायत लेकर आते हैं । कृष्ण सखाओं पर ही उलटे झूठ बोलने का दोषारोपण करते हैं, और अपना मुंह खोलकर उसके भीतर अखिल ब्रह्माण्ड की महिमा दिखला देते हैं[6]।यशोदा

१- [illegible], ६२६,६२८
२- वही, ६२६
३- वही, ६३१
४- वही, ६३२,६३३-६३६,६३७-६४१ ।
५- वही, ६४३-६५२
६- वही, ८७६-८७३

गर्ग की वरणों का स्मरण करते हुए भी उसे कोई व्याधि समझ कर घर-घर उनका हाथ दिखाती फिरती हैं[1]। कृष्ण के कालिन्दह में कूदने पर ब्रजवासियों के समझाने पर भी यशोदा को स्नेह की प्रगाढ़तावश विश्वास नहीं होता है[2]।

कृष्ण की माखनचोरी के प्रसंग में गोपियों का वात्सल्य बिखरा है। गोपियां कृष्ण की माखन चोरी की शिकायत यशोदा से करती अवश्य हैं किन्तु उनको मन ही मन कृष्ण के इस कृत्य से बड़ी प्रसन्नता होती है[3]। दूसरी ओर ~~कृष्ण के इस कृत्य से~~ यशोदा का वात्सल्यपूर्ण मातृ-हृदय गोपियों को उलाहनाओं पर विश्वास नहीं करता। भला पांच वर्ष का बालक चोरी कैसे कर सकता है[4]। इसी प्रकार गोपियों द्वारा दिखाए गए बड़े-बड़े नख-चिह्नों पर भी वे विश्वास नहीं करती[5]। उनको क्या मालूम कि उनके बालकृष्ण बाहर तरुण रूप धारण कर लेते हैं[6]। इसी प्रकार के अन्य अलौकिक कृत्य भी वे यशोदा को समझाने एवं भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न करने के लिए करते हैं। कोई गोपी कृष्ण को पकड़ कर यशोदा के समक्ष लाती है परन्तु यशोदा के पास आने पर देखती है कि वह कृष्ण के धोखे किसी गोप-कन्या को ले आई है[7]। कभी वह कृष्ण को पकड़ कर शिकायत करने आती है तो देखती है कि कृष्ण बड़ी देर से यशोदा के सामने खेल रहे हैं[8]। कालिय दमन के प्रसंग में दमन के उपरान्त कृष्ण अपने इस कृत्य से यशोदा को अनभिज्ञ रखना चाहते हैं, अत: वे बड़ी ही चतुराई से उनसे कहते हैं कि --

ग्वाल संग मिलि गेंद खेलत, आयौ जमुना तीर।
काहू लै मोहिं डारि दीन्हौं कालिया - दह- नीर।
यह कही तब उरग मोसौं, किन पठायौ तोहिं।
मैं कही नृप कंस पठयौ कमल कारन मोहिं।
यह सुनत डरि कमल दीन्हौं, लियौ पीठि चढ़ाइ।
सूर यह कहि जननि बोधी, देख्यौ तुमही आइ[9]।।

१- ~~वही~~ सूरसागर, ८७४, ८७६
२- वही, ११६२-११६६
३- वही, ८८८, ६६७
४- वही, ६१०
५- वही, ६२५
६- वही, ६२६
७- वही, ६३६
८- वही, ६३२
९- वही, ११६८

कृष्ण अलौकिक कृत्यों को करके पुनः मानवीय चरित्र इस प्रकार से करने लगते हैं कि यशोदा उनके दुष्कर कार्यों को भूलकर उनसे शिशु जैसा स्नेह करने लगती हैं। वे कृष्ण के अति प्राकृत घटनाओं के स्थान पर केवल इस बात पर दुःख करती हैं कि वे कैसे सुकुमार शरीर से इतने बड़े राक्षसों से बच गये[1]।

गोवर्द्धन धारण के बाद यशोदा कहती हैं कि तुम्हारी भुजाओं में बड़ा बल है परन्तु कृष्ण उन्हें यह कह कर समझा देते हैं कि पर्वत मैंने अकेले थोड़ी ही उठाया है, सभी ग्वाल बालों ने मेरी सहायता की और बाबा नन्द ने भी लकुटी से टेक लगाया था[2]। इसी प्रकार नन्द को वरुण पाश से छुड़ाने के अलौकिक कार्य को जानते हुए भी यशोदा का मातृ-हृदय कृष्ण के माखन मांगते ही भूल जाता है। वे कृष्ण को मक्खन देते हुए कहती है कि इसी प्रकार मुझसे मांग कर मक्खन खाया करो। थोड़ा-थोड़ा खाने से तुम्हारी देह बढ़ेगी इत्यादि। पूतना द्वारा दुग्ध पान कराए जाने वाद की घटना यशोदा को अत्यधिक विकल कर देती है --

जसुमति विकल भई, छिन कलना।
लेहु उठाइ पूतना उर तैं, मेरौ सुभग सांवरो ललना।
गोपी लै उठाइ जसुमति कौं, दीन्यौं अखिल असुर के दलना[3]।
सूरदास प्रभु कौ मुख चूमति, हृदय लाइ पौढ़ाए पलना।।

राधा-कृष्ण-प्रसंग में भी यशोदा के वात्सल्य का परिचय मिलता है। राधाकृष्ण की क्रीड़ाओं को देखकर भी वे अनदेखा कर देती हैं[4]। कृष्ण को राधा पर मुग्ध देखकर वह राधा से अपने घर बन ठन कर आने को मना करती हैं --साथ ही, राधा के यह कहने पर कि श्याम ही उसे बुलाते हैं--क्योंकि वे उसके बिना रह नहीं सकते, यशोदा अनेक प्रकार से राधा से अपने पुत्र के लिए आते रहने का[6] अनुरोध करती है[5]। घर जाने के पहले वे स्वयं राधा का शृंगार करके बिदा करती हैं।

यशोदा की भांति नन्द में भी कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ स्नेह है यद्यपि उसे यशोदा के वात्सल्य की तरह प्रस्फुटित होने का अवसर नहीं मिला। दिन में कृष्ण के गोचारण तथा खेलने जाने के समय तो उन्हें कृष्ण का बिछोह सहना ही पड़ता है पर रात में भी उन्हें कृष्ण से वियुक्त रहना पड़ता है। इसी से प्रातः होते ही वे

१- वही, ६६६
२- वही, ११६८
३- वही, ६७२
४- वही, १३१२
५- वही, १३४०-१३४५,१३६६
६- वही, १३२२-१३२५

अपने सोते हुए पुत्र का मुख उघार कर देखने आती हैं[1]।

कालिय दह की सूचना पाते ही नन्द यमुना-तट पर दौड़ कर जाते हैं किन्तु वहाँ स्नेहवश वे मूर्च्छित हो जाते हैं[2]। पुनः कृष्ण को कालिय के फन पर नाचते हुए तथा पीठ पर कमल लेकर आता हुआ देखकर नन्द के आनन्द की सीमा नहीं रहती[3]।

इस प्रकार वात्सल्य भाव द्वारा कवि ने निःस्वार्थ निष्काम भक्ति प्रतिपादित की है। ब्रजनारियाँ, नन्द, वसुदेव-देवकी में भी यह भाव स्पष्ट लक्षित होता है। वसुदेव-देवकी का वात्सल्य अधिक गहन नहीं है, क्योंकि उनके वात्सल्य के आलम्बन शिशु कृष्ण न होकर ऐश्वर्यशाली कृष्ण हैं। किन्तु इन सब में यशोदा का वात्सल्य उत्कृष्टतम रूप में चित्रित हुआ है। वह हमें ऐन्द्रियता रहित, निष्काम एवं सच्ची प्रेम भावनापूर्ण भक्ति का आस्वादन कराता है। उनके वात्सल्य भाव के आलम्बन परम सौन्दर्यवान, विविध बालक्रीड़ा करने वाले सुकुमार शिशु कृष्ण हैं। अतः कृष्ण की बाल लीलाओं के अन्तर्गत कवि ने कोई भी बालकृत्य जैसे अंगूठा चूसना पालने में झूलना, किलकना इत्यादि — ऐसा नहीं छोड़ा जो वात्सल्य के अभिवर्द्धक है। इन घटनाओं का वर्णन इतनी स्वाभाविकता एवं मार्मिकता से हुआ है कि कृष्ण के अतिमानव रूप को जानते हुए भी पाठक का ध्यान उनकी बाल सुलभ चेष्टाओं की ओर ही अधिक झुकता है और वात्सल्य भाव मस्तिष्क पर अपना दृढ़ प्रभाव डालता है।

सख्य भक्ति

सूर ने अपने काव्य में भक्ति के सभी भावों का विशद चित्रण किया है। कृष्ण के मानवीय एवं अतिमानवीय कृत्यों में वे ऐसी संगति रखते हुए चलते हैं कि कृष्ण का मानवीय रूप उनकी अलौकिकता को पुष्ट करने में सर्वत्र सहायक होता है। वात्सल्य वर्णन की भाँति सख्यभाव के वर्णन में भी सूर अद्वितीय हैं। जिस प्रकार से वात्सल्य भाव में कवि ने यशोदा पर कृष्ण के अलौकिक कृत्यों का क्षणिक प्रभाव दिखाया है वैसे ही कृष्ण के सखाओं में भी उनके अतिप्राकृत कृत्यों का प्रभाव क्षणिक है। वे कृष्ण के भयानक कृत्यों को देखकर क्षण भर के लिए आतंकित होते हैं पर थोड़ी ही देर में सब कुछ भूलकर पुनः उनके साथ क्रीड़ा मग्न हो जाते हैं। सख्य भक्ति

१- वही, ८२१-८२२
२- वही, ११६३
३- वही, ११९६

के माध्यम से कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भक्त इस प्रकार से भगवान के प्रति घनिष्ठ आत्मीयता की भावना रखता है। कृष्ण से आयु में बड़े सखा उनके अलौकिक रूप को जानते हैं। अत: वे उनके अद्भुत कृत्यों से आतंकित नहीं होते। आयु में कृष्ण से छोटे सखागणों का आतंक क्षण भर का होता है। वे सदैव उनकी माखन चोरी, गोचारण, कन्दुकक्रीणा आदि में भाग लेते हैं।

बाल लीला, गोचारण लीला तथा सुदामा के दारिद्र्य को विनष्ट करने का प्रसंग - ये तीनों सख्य भक्ति के सुन्दर स्थल हैं। कृष्ण के सखाओं को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ सखा तो ऐसे हैं जो कृष्ण से आयु में बड़े हैं और बलराम के साथी हैं। कुछ सखा उनसे छोटे तथा कुछ उनके सम वयस्क। कृष्ण के सम वयस्क सखा ही उनके सच्चे भक्त हैं। वे उनकी प्रत्येक बात जानते हैं और रासलीला में भी उनके सहयोगी बने रहते हैं। कृष्ण से छोटे तथा बड़े सखा उनकी गोपी - क्रीडा में भाग नहीं लेते। कृष्ण के सखाओं में सुदामा, श्रीदामा तथा सुबल का उल्लेख कवि ने विशेष रूप से किया है।

बाल लीला के अन्तर्गत कवि ने बालकों की क्रीडाओं द्वारा सख्य भाव व्यक्त किया है। खेल-खेल में कृष्ण को हार जाने पर सुदामा कहते हैं -

खेलत में को काको गुसैयां।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैया।
जाति-पांति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयां।
अति अधिकार जनावत यातें जातें अधिक तुम्हारे गैयां।
रूहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहं-तहं सब ग्वैयां।
सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत, दाउं दियौ करि नन्द दुहैयां।[1]

कृष्ण के प्रति सखाओं में असत्य भाव बहुत कम दिखाया गया है। कृष्ण भी सखाओं के प्रति अपना गौरवशाली रूप प्रकट नहीं करते। कृष्ण द्वारा किये गये बकासुर अघासुर संहार में -- सखा ~~[illegible]~~ आतंकित हो उठते हैं -- किन्तु कृष्ण अपने गौरव को प्रकट नहीं करते, प्रत्युत वे सखाओं से कह उठते हैं -- कि यदि तुम सब लोग साथ न होते तो इसको विनष्ट करना सम्भव न होता।[2] बकासुर संहार के समय भी वे सभी गोप-बालकों को अपने पास सहायतार्थ बुलाते हैं।[3] किन्तु उनके सखाओं

(सूरसागर) १- वही, ८६२
२- वही, १०४६
३- वही, १०४५

को कृष्ण के इन कार्यों से उनके अलौकिकत्व का आभास मिल जाता है । भक्ति-भाव के कारण उनके नेत्र अश्रुप्लावित हो जाते हैं ।[1]

गोचारण-लीला में सख्यभाव का और भी विस्तृत वर्णन मिलता है । कृष्ण अपने सखाओं के साथ गौवें चराते हुए विभिन्न लीलाएं करते हैं । कालियदह में कूदने के पूर्व श्रीदामा आदि सखाओं के साथ की गयी कृष्ण की अद्भुत-लीला कन्दुक क्रीड़ा भी सख्य भाव की द्योतक है ।[2] इसी प्रकार गोवर्द्धन पर्वत --धारण करने पर जब सखागण आश्चर्यान्वित हो उनसे पूछते हैं कि तुमने इतना बड़ा पर्वत कैसे धारण कर लिया तो कृष्ण बड़े ही सहज भाव से कहते हैं कि मैंने अकेले नहीं उठाया, अन्य ग्वालों ने भी तो `लकुट` लगा कर मेरी सहायता की थी ।[3] कृष्ण वन में ग्वालों के हाथ से छीन कर मक्खन खाते समय उनके साथ बराबरी का व्यवहार करते हैं ।[4] माखन लीला वे सखाओं की सहायता से करते हैं ।[5] कृष्ण के प्रति उनके सखाओं का ऐसा दृढ़ अनुराग देखकर ब्रह्मा भी कृष्ण की स्तुति करते हैं -- और ब्रजवासियों के भाग्य की सराहना करते हैं । सखा भक्ति को पुष्ट करते हुए सूर बीच-बीच में कृष्ण के ब्रह्मत्व का भी प्रतिपादन करते चलते हैं ताकि हम उनके सखा भाव को लौकिक न समझ लें ।[6] सखागण भी कभी-कभी भक्ति-भाव से प्रेरित होकर कह उठते हैं कि कृष्ण तुम जहां भी कहीं देह धारण करना हमें अपने से पृथक न करना । --

ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहिं स्याम तुम जनि बिसरावहु ।
जहां-जहां तुम देह धरत हो, तहां-तहां जनि चरन छुड़ावहु[7] ।।

आगे कवि कृष्ण के मुख से यह कहला कर कि -- ब्रज में तुम सब को पाकर ही तो मैं आता हूं । यह सुख तो ब्रज के चतुर्दश भुवनों में अप्राप्य है -- सखा भाव को और भी अधिक स्वाभाविक एवं महत्वपूर्ण बना देता है । --

ब्रज तैं तुमहिं कहूं कहिं टारौं, यहै पाइ मैं हूं ब्रज आवत ।
यह सुख नहिं कहूं भुवन चतुर्दस, इहिं ब्रज यह अवतार बतावत ।
और गोप वे बहुरि चले घर, तिनसौं कहि ब्रज छाक मंगावत ।[8]
सूरदास प्रभु गुप्त बात सब, ग्वालिनि सौं कहि-कहि सुख पावत ।।

१- वही, १०४७
२- वही, ११५०-११५८
३- वही, ११६८
४- वही, १०८७
५- वही, ८८७-९००
६- वही, १०८४-१०८८
७- वही, १०६९

कृष्ण के सखाओं को उनकी मुरली बहुत रुचती है । अत: वे बार-बार उनसे मुरली बजाने का आग्रह करते हैं । सखाओं की निम्न पंक्ति बड़ी ही सौहार्द-पूर्ण तथा उनकी दैन्य समन्वित सख्यभक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है --

छबीले मुरली नैकु बजाउ ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि, अधर सुधा-रस प्याउ ।।
दुरलभ जनम लहब बृन्दाबन, दुर्लभ प्रेम तरंग ।
ना जानियै बहुरि कब ह्वै है, स्यामतिहारो संग ।।
विनती करत सुबल श्रीदामा, सुनहु स्याम दै कान ।
या रस को सनकादि सुकादिक, करत अमर मुनिध्यान ।।
....
अपनी अपनी कंध कमरिया, ग्वालिनि दई उसाइ ।
सौंह दिखाइ नंद बाबा करि, रहे सकल गहि पाइ ।।
सुनि-सुनि दीन गिरा मुरलीधर चितयौ मृदु मुसकाइ[1] ।
गुन गंभीर गुपाल मुरलि प्रिय, लीन्ही तबहिं उठाइ ।।

कृष्ण अपनी गोपी-क्रीड़ा में भी अपने सखाओं को अलग नहीं करते । इस लीला के पहले वे अपने सखाओं से परामर्श भी करते हैं । अपने प्रमुख सखाओं को साथ लेकर अपने मन की बात बताते हुए वे कहते हैं कि राधा ललिता आदि गोप बालाएं प्रति-दिन दधि बेचने मथुरा जाती हैं । अत: तुम सब प्रात: ही यमुनातट के वृक्षों में छिप रहो । जब वे निकले तो उनका मार्ग रोक लेना । कृष्ण सखाओं को अपनी समस्त हृद्गत बातें बता देते हैं कि मेरे नेत्र व्रज बनिताओं को देखकर सुखी होते हैं तथा विशेष रूप से राधा को देखने के लिए व्याकुल रहते हैं । राधाकृष्ण की गोपनीय क्रीड़ाओं से भी ये सखा अभिज्ञ रहते हैं । इसीलिए तो राधा जब कृष्ण से उलाहना देती हैं कि 'तुम मुझे ग्वालों के बीच क्यों लज्जित करते हो' तब सखागण उनसे कहते हैं कि तुम दोनों तो एक हो, अत: मिलकर विहार करो संसार तुम्हारे ऊपर क्यों है ऐसा ? कृष्ण भी तुम्हारी शोभा देखकर अत्यधिक प्रसन्न होते हैं ।' वात्सल्य की भांति सख्य की भी संयोग और वियोग दो अवस्थाएं मिलती हैं । संयोगावस्था में कृष्ण तथा सखाओं की बालक्रीड़ा, माखनचोरी, गोचारण आदि

सूरसागर
1- वही 1834

आते हैं । वियोगावस्था का प्रारम्भ अक्रूर के आगमन पर कृष्ण का उनके साथ मथुरागमन के लिए तत्पर होने पर होता है । कृष्ण के मुख से उनके जाने की बात सुनकर सखाओं के नेत्र भर आते हैं और वे अत्यन्त दीन हो जाते हैं[1] । कंसवध की घटना जानकर भी सखाओं को कृष्ण की कुशलता के विषय में भय होता है[2] । उन्हें नन्द के प्रति कही गई कृष्ण की ~~कुशलता के विषय में भय~~ निष्ठुर वाणी पर नहीं वरन् अक्रूर पर क्रोध आता है क्योंकि उन्हीं के कारण कृष्ण का यह दु:सह वियोग उपस्थित हुआ है । फिर भी वे सब मंत्रमुग्ध होकर कृष्ण दर्शन के अन्तिम सुख का पान करते हैं ।

कृष्ण के प्रति प्राकृत रूप से अभिन्न रहते हुए भी उनके सखा कहीं भी अपने कृष्ण से तुच्छ नहीं समझते, उनके साथ सर्वत्र समभाव ही रखते हैं ... । वे कृष्ण के लोकोत्तर स्वरूप के स्थान पर उन्हें नंद पुत्र ही समझते हैं -- जिनके पास उनकी अपेक्षा अधिक गायें हैं । अत: वे कृष्ण को सदैव सखा के समान ही अपने साथ रखते हैं और उनके हाथ से छीन झपट कर मक्खन खाते हैं तथा उन्हें चिढ़ाते भी हैं ।

वृन्दावन के गोचारण का वर्णन करते हुए सूर सखा तथा कृष्ण की सहृदयता पूर्ण क्रीड़ाओं एवं उनकी आनन्दरूपता के सम्बन्ध में कहते हैं --

चरावत वृन्दावन हरि धेनु ।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु ।
कोऊ गावत कोउ मुरली बजावत, कोउ विषान कोउ बेनु ।
कोउ निरतत कोउ उघटि तार दे, जुरी ब्रज बालक सेनु ।
त्रिविध पवन जंह बहत निस दिन सुभग कुंज घन ऐनु ।
सूर स्याम निज धाम बिसारत, आवत यह सुख लेनु ।।[3]

दास्यभाव

सूर काव्य के दो प्रमुख भाग किए जा सकते हैं -- प्रथम तो वे पद हैं, जिनमें कवि अपनी दीन हीन दशा का प्रदर्शन करता हुआ भगवान की भक्तवत्सलता तथा अनुग्रह का वर्णन करता है तथा द्वितीय प्रकार के वह कृष्ण की लीलाओं का

सूरसागर
१- वही, ४५६
२- वही, ४७५
३- वही, १०६६

गान करता है । प्रथम प्रकार के पद कवि की दास्यभावना के अन्तर्गत आते हैं । सूर की दास्यभावना में तुलसी की भांति सेवक की अधमता एवं हीनता के चित्र तो मिलते हैं किन्तु आराध्य की महानता के चित्र उतने अधिक नहीं हैं । वे अपने आराध्य की भक्तवत्सलता एवं अनुग्रह का ही वर्णन अधिक करते हैं ।

दास्य भक्ति के लिए आवश्यक नामस्मरण का सूर अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं । हरिनाम का स्मरण एवं श्रवण ही समस्त भौतिक प्रपंचों से छुटकारा दिला सकता है । हरिनाम ही पापियों के लिए एकमात्र अवलंब है । सूर ने नाम स्मरण के द्वारा अजामिल,गणिका आदि अनेक पापियों के उद्धार का उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि की है[१] । द्रौपदी चीरहरण तथा गोवर्धन धारण के अवसर पर नामस्मरण के अलौकिक फल के ज्वलन्त दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं । कवि विभिन्न पापियों के नामस्मरण के द्वारा उद्धार का दृष्टान्त देकर बड़े दयनीय स्वर में अन्त में अपने उद्धार की प्रार्थना करता है[२] । भगवान के नाम की शक्ति अपार है । अधक से अधम पापी यदि किसी भी भाव से नाम का उच्चारण कर ले तो उसका उद्धार हो जाता है । नाम की इसी महनीयता के कारण कवि ने सर्वत्र ` हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौं , ` है हरि नाम को अधार ` आदि इसी प्रकार की अनेक उक्तियां निबद्ध की हैं । दास्य भक्ति के लिए नामस्मरण अत्यावश्यक है । निम्न पद में भगवान की नाम-स्मरण द्वारा सेवा भाव को कवि कितनी सुन्दरता से प्रस्तुत करता है --

जो घट अंतर हरि सुमिरै ।
ताकौ काल कठि का करिहैं, जो चित चरन धरै ।
कोपैं तात प्रह्लाद भगत कौ, कामहिं लेत जरै ।
खंभ फारि नरसिंह प्रगट ह्वै, असुर के प्रान हरै ।
सहस बरस गज युद्ध करत भए, सकल व ध्यान धरै ।
चक्र धरे बैकुंठ तैं धाए, वाकी पैज सरै ।
....
जहं जहं दुसह कष्ट भक्तनि कौं, तहं तहं सारु करै ।
सूरजदास स्याम सेए तें दुस्तर पार तरै ।।[३]

१- सूर०, ११६, ९९

२- वही, १७२

३- वही, ८२

दास्यभक्ति के लिए मन को विषय-वासनाओं से दूर हटाना और परमात्मा की ओर उन्मुख करना अनिवार्य है । इसी कारण अनेक स्थलों पर सूर विभिन्न सांसारिक रूपों की विगर्हणा करते हुए दिखलाई पड़ते हैं । संसार की सभी वस्तुएं क्षणभंगुर हैं, असार हैं, अत: उनसे अलग रह कर अपने चित्त को भगवान में लगाना चाहिए ।

दास्य भावना के अन्तर्गत आत्मदोष दर्शन की प्रवृत्ति कवि में बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है । वे सर्वत्र अपने लिए अधम, पापी, क्रूर आदि शब्द प्रयुक्त करते हैं । दास्य भक्ति के लिए सेवक का अन्त:करण पूर्ण शुद्ध होना चाहिए और निर्मल अन्त:करण के लिए अपनी कमजोरियों का अपने आराध्य के समक्ष प्रकाशन करना भी आवश्यक हो जाता है । आत्मदोष दर्शन द्वारा जहां एक ओर भक्त के मानस की निर्मलता प्रकट होती है वहां दूसरी ओर भगवान की विशालता स्वत: अभिव्यंजित हो जाती है । निम्न पंक्तियों में कवि कितने स्पष्ट शब्दों में अपने अधमत्व को प्रकट करता है --

कृपा कीजिए अब बलि जाऊं ।
नाहिंन मेरैं और काउ, बलि, चरन, कमल बिन ठाउं ।
हौं असौच, अक्रिय, अपराधी, सनमुख होत लजाउं ।
तुम कृपाल, करुनानिधि, केसव, अधम-उधारन नाउं ।
काकैं द्वार जाइ होउं ठाढ़ौ देखत काहि सुहाउं ।
असरन सरन नाम तुम्हरौ, हौं कामी, कुटिल, निभाउं ।
कलुषी अरु मन मलिन बहुत मैं सेंत मेंत न बिकाउं ।
सूर पतित पावन पद अंबुज, सो क्यों परिहरि जाउं ।।[1]

और भी --

कौन गति करिहौ मेरी नाथ ।
हौं तो कुटिल, कुचरित, कुदरसन, रहत विषय के साथ ।
दिन बीतत माया कैं लालच कुल कुटुम्ब कैं हेत ।
सिगरी रैनि नींद भरि सोवत जैसे पसु अचेत ।
कागद धरनि करैं द्रुम लेखनि, जल सायर मसि घोरैं ।

सूरसागर
1- वही, 128

लिखै गनेस जनम भरि मम कृत, तऊ दोष नहिं ओरै ।

....

परम पुनीत पवित्र कृपानिधि, पावन-नाम कहायौ ।[1]

सूर पतित जब सुन्यो बिरद यह तब धीरज मन आयौ ।।

कभी वे अपने को पतितों में अग्रगण्य कहते हैं --

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ ।

और पतित सब दिवस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ ।

कोउ न समरथ अघ करिबे कौं, खैंचि कहत हौं लीकौ ।

मरियत लाज सूर पतितनि में मोहूं तैं को नीकौ ।[2]

इसी प्रकार के अन्य अनेक पदों में वह अपने को पतित, काम, क्रोध का अधिष्ठान तथा तृष्णा का वशवर्ती इत्यादि कहते हैं ।[3] साथ ही अपने आराध्य को स्वामी कहकर अपना पतितावस्था के अनेक दीन चित्र प्रस्तुत करते हुए भगवान को उनके विरुद का स्मरण भी दिलाते हैं । भक्त में कितने भी दोष हों पर यदि भगवान अपने विरुद की रक्षा करेंगे तो भक्त का उद्धार अवश्य हो जायगा ।[4] यही नहीं, सेवक को अपने स्वामी पर अटूट विश्वास एवं श्रद्धा रहता है अतः वह स्वामी को बारम्बार अपने उद्धारार्थ चुनौती देता रहता है ।[5] सेवक को अपने स्वामी पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए क्योंकि उसी के साथ सम्बन्ध रखना हितकर है । अन्य समस्त सांसारिक सम्बन्ध तो मिथ्या है । उनसे उद्धार होना तो असम्भव है साथ ही वे जीवन को बन्धन में भी डालते हैं । बीच में ही साथ छोड़ देते हैं । पर स्वामी विश्वासघात कभी नहीं करते । वह जीवन भर साथ देंगे और समस्त बन्धनों का विच्छेद करेंगे । फिर कोई भी भक्त का बाल बांका न कर सकेगा चाहे समस्त संसार बैरी क्यों न हो जाय ।[6]

दास्य भावना के लिए अनन्यता एवं आत्मनिवेदन की अनिवार्यता कवि ने सर्वत्र प्रतिपादित की है । अपने स्वामी के प्रति अनन्य प्रेम एवं अटूट विश्वास के लिए आवश्यक है । एकनिष्ठ भाव से सतत आराध्य का चिन्तन करने में ही जीवन की सार्थकता है । अनन्यता सेवक के चित्त को इधर उधर भटकने से रोकती है । सेवक सदैव

१- वही १२५
२- वही १३८
३- वही १३१,६६,१५७,१५८,११७ आदि ।
४- वही ११०
५- वही १३१-१३४
६- वही ३७,३१

स्वामी के ध्यान में तल्लीन रहता है तथा भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता। क्योंकि जिसके हृदय में नन्दलाल के प्रति स्नेह है उसे और कुछ अच्छा कैसे लगे। जैसे गूंगा गुड़ खाकर उसके स्वाद को नहीं बता पाता, ठीक वैसे ही कृष्ण में चित्त के लग जाने पर फिर अन्य जगह उसकी रुचि नहीं रहती[1]। उसके लिए तप,व्रत, नियम आदि सब कुछ वही है[2]। कृष्ण के रहते हुए अन्य देवी-देवताओं के पास जाना भी व्यर्थ है क्योंकि ये तो स्वयं याचक हैं, दूसरों को क्या देंगे ? स्वामी तो वही हो सकता है जो सर्व समर्थ हो। निम्न पद अनन्य भक्ति का सुन्दर दृष्टान्त है --

मेरो मन अनत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।
कमल नैन कौ छांड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग को छांड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।
जिहिं मधुकर अंबुज रस चाख्यौ क्यौं करील फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥[3]

आत्म निवेदन की भावना अपने हृदय को निर्मल एवं हल्का करने के लिए है। फिर सर्व समर्थ स्वामी से अपने मन की कोई बात छिपाना भी तो निष्फल है इसीलिए सेवक अपनी समस्त निर्बलताओं को अपने स्वामी के समक्ष आर्त होकर प्रकट कर देता है --

अब मैं नाच्यौं बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर के बाजत, निंदा सबद रसाल।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बांध्यौ लोभ तिलक दियै भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुध नहिं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल ॥[4]

१- वही, ३५३
२- वही, १६७
३- वही, १६८
४- वही, १५३

आत्म निवेदन के अन्तर्गत सेवक कभी अपने-आप कृत्यों का स्मरण करता है --

विनती करत मरत हौं लाज ।
नख सिख लौं मेरी यह देहा है पाप की जहाज[1] ।।

तो कभी अपने कि द्वारा किए गए कुकर्मों एवं दोषों को याद कर उन पर पश्चात्ताप करता है । उसे दुख है कि मानव योनि में जन्म लेकर भी न तो उसने हरि का स्मरण किया और न मधुवन में निवास ही किया । कवि के ही शब्दों में --

जनम तो बादिहिं गयौ सिराइ
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ ।
अब की बार मनुष्य देह धरि, कियौ न कछु उपाइ ।
भटकत फिरयौ स्वान की नाईं नैंकु जूठ कें चाइ ।
कबहुं न रिझए लाल गिरिधरन, बिमल बिमल जस गाइ[2] ।

कभी वे अपने मन को चेतावनी देते हुए कहते हैं --

रे मन मूरख जनम गंवायौ ।
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ स्याम-सरन नहिं आयौ ।
यह संसार सुवा सेमर ज्यौं सुन्दर देखि लुभायौ ।
चाखन लाग्यौ रुई गई उड़ि हाथ कछू नहिं आयौ ।
कहा होत अब के पछिताए पहिलें पाप कमायौ[3] ।
कहत सूर भगवंत भजन बिनु, सिर धुनि धुनि पछितायौ ।।

भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में सेवक की रुचि नहीं रहती --

अपनी भक्ति देहु भगवान ।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनें रुचि आन[4] ।

सेवक भगवान की कृपा एवं भक्तवत्सलता से पूर्णतया अभिज्ञ रहता है । उसकी स्पष्टवादिता एवं आत्मदैन्य प्रकाशन का प्रमुख आधार भगवदनुग्रह ही है । करुणासागर भगवानदीन तथा आर्त की पुकार सुनकर करुणा करेंगे ही । इसीलिए कवि सर्वत्र हरि को उनके विरुद की याद दिलाता है[5] । प्रभु की कृपा का ज्वलंत

१-[सूरसागर], ९६
२- वही, १५५
३- वही, ३३५
४- वही, १०६
५- वही, १३६-१५

उदाहरण द्रौपदी चीर हरण के समय संकट निवारण की घटना है । इसी प्रकार प्रह्लाद, गजराज, आदि पर भगवद्कृपा का अनेकश: उल्लेख हुआ है । बिना प्रभु कृपा के मनुष्य के सभी पुरुषार्थ निष्फल है[1] । अत: सूर अधम होने पर भी उनसे कृपा की याचना करते हैं[2] ।

दास्य भावना के अन्तर्गत एक ओर जहां कवि की प्रवृत्ति अपनी दीनता और दोषदर्शन की है, वहां दूसरी ओर वह यत्र तत्र अपने स्वामी की महानता भी प्रदर्शित करता है । परन्तु भगवान की महानता के अन्तर्गत वह उनकी भक्तवत्सलता का ही अधिक वर्णन करता है । भगवान भक्तों के सहायक एवं रक्षार्थ सदैव तत्पर रहते हैं । भगवान की भक्तवत्सलता उन्हें पापी एवं पुण्यात्मा के बीच विभेद नहीं उपस्थित करने देती । भक्त कितने ही अपराध क्यों न करें, भगवान उधर ध्यान नहीं देते । गर्भस्थ शिशु[3] के अपराधों को ध्यान में न रखकर पालन करने वाली मां के समान ही स्थिति है । वे समदर्शी हैं अत: ऊंच-नीच का विचार नहीं करते[4] । दास अपने स्वामी के इसी वात्सल्यवश अपना सर्वस्व उनसे निवेदन कर देता है । प्रह्लाद पर कृपा, सुदामा दारिद्र्यभंजन तथा शबरी-विभीषण-अहिल्या उद्धार आदि अनेक उदाहरण भगवान की भक्तवत्सलता के सम्बन्ध में दिए गए हैं । भगवान अपने सेवक के नगण्य गुणों को भी सुमेरु के समान बढ़ा देते हैं । तथा अत्यन्त भीषण अपराध को बूंद के बराबर मानने में भी सकुचाते हैं । जिस प्रकार गाय अपने वत्स के पीछे सदैव लगी रहती है, वैसे ही भगवान भी अपने भक्त के पीछे लगे रहते हैं[5] । भगवान की अपार भक्तवत्सलता के[6] कारण ही कवि मंगलाचरण में ही हरि-कृपा शक्ति का वर्णन करता है । अपने पाप कर्मों के कारण सेवक को आत्मग्लानि भी होती है । अत: अपनी असहाय स्थिति तथा[6] भगवान की भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए कवि उनकी परस्पर तुलना भी करता है ।

विनय के पदों के अतिरिक्त कवि नवम स्कन्ध में रामस्तुति के अन्तर्गत तथा दशम स्कन्ध में रुक्मिणी के भक्तिभाव के अन्तर्गत भी इसी दास्य भक्ति को प्रश्रय देता हुआ दिखाई देता है । नवम स्कन्ध में कवि राम के समक्ष अपनी विनती करने की

१- वही, ४३७
२- वही, ४३६
३- वही, ११७
४- वही, १५
५- वही, ८६
६- वही, १

असमर्थता प्रकट करता है । रघुबीर को विनती सुनाने के लिए उसे समय ही नहीं मिलता । कभी उसे उन्हें सुकुमार नींद के जगाने में संकोच होता है तो कभी ब्रह्मादिक की भीड़ के कारण उसे 'ठौर' नहीं मिलता । निम्न पद में कवि ० कितने सहज भाव से अपने दैन्य को व्यक्त करता हुआ भगवान की भक्तवत्सलता के सम्बन्ध में कहता है--

विनती किहिं विधि प्रभुहिं सुनाऊं ?
महाराज रघुबीर धीर कौं, समय न कबहूं पाऊं ।
जाम रहत जामिनि के बीतें, तिहिं अवसर उठि धाऊं ।
सकुच होत सुकुमार नींद में, कैसे प्रभुहिं जगाऊं ।
दिनकर -किरनि-उदित, ब्रह्मादिक-रुद्रादिक ठौर न पाऊं ।
उठत सभा दिन मधि, सैनापति- भीर देखि,फिरि आऊं ।
न्हात खात सुख करत साहिबो, कैसो करि अनखाऊं ।
रजनी मुख आवत गुन-गावत, नारद तुम्बुर नाऊं ।
तुमहीं कहौ कृपा निधि रघुपति, किहि गिनती में आऊं ?
पतित उधारन नाम सुर प्रभु, यह रुक्का पहुंचाऊं ।।[1]

इसके अतिरिक्त भक्तों के चरित्र का वर्णन करते हुए कवि सर्वत्र दास्य भक्ति का उल्लेख करता है । प्रहलाद चरित्र, गोवर्द्धन धारण लीला, कालिय दमन, चीरहरण आदि में भगवान की भक्तवत्सलता तथा भक्त की दीनता के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं । प्रहलाद की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान स्वयं कहते हैं कि 'मेरे रहते हुए मेरा दास दु:खी नहीं रह सकता[2] ।' विदुर के यहां भोजन करते हुए भगवान ने बारम्बार उसकी प्रशंसा की है[3] ।

यत्र-तत्र सखा भाव के अन्तर्गत भी दास्य भावना की झलक देखने को मिलती है । ग्वाल बाल कृष्ण को अपना सखा के रूप में देखते हुए भी उनसे प्रार्थना करते हैं कि 'हरि जहां जहां देह धारण करो हमें अपने चरणों से बिलग न करना ।' 'कबौंकि मुरली नैकु बजाउ..... इत्यादि पद में भी दैन्ययुक्त सखा भाव लक्षित होता है ।

१- वही, ६१६
२- वही ४२३
३- वही, २६३,२६४

माधुर्य भावना के अन्तर्गत भी दैन्य का समावेश मिलता है । एक स्थल पर राधा कृष्ण से याचना करती हुई कहती हैं कि :-

सुनहु स्याम मेरी विनती ।
तुम हरता तुम करता प्रभु, मातु पिता कौनें गिनती ।।
गय बर मेटि चढ़ावत रासभ, प्रभुता मेटि करत तिनती ।।
अब लौं करी लोक-मर्यादा, मानौं कोरैं हो विनती ।।
बहुरि बहुरि ब्रज जन्म लेत हौ यह लीला जानी कितनी ।।
सूरस्याम बरननि तें मोकौं राखत रहे कहा भिनती ।।[1]

इसी प्रकार अन्यत्र दयनीय स्वर से गोपियां अतना भुल के लिए क्षमा प्रार्थना करती हैं । यहां भी माधुर्य भाव सम्पन्न दैन्य ही प्रकट हो रहा है --

स्याम सुनहु इक बात हमारी ।
ढीठौ बहुत दई हम तुमसौं, बकौं चूक हमारी ।
मुख जो कहीं कटुक सब बानी, हृदय हमारैं नाहीं ।
हंसि-हंसि कहति, सिखावति तुमकौं, अति आनंद मन माहीं ।।
दधि माखन को दान और जो जानो सबै तुम्हारौ ।
सूर स्याम तुमकौं सब दीन्हौं, जीवन प्रान हमारौ ।।[2]

गोपियां कृष्ण के आगे पूर्णात्म समर्पण करते हुए अपनी दीनता का प्रकाशन करती हैं --

मन यह कहति वे देह बिसरायौ ।
यह धन तुमहीं कौं संचि राख्यौ, इहिं लीजै सुख पाई ।।
जोबन-रूप नहीं तुम लायक, तुमकौं देति लजाति ।।
ज्यौं बारिध आगैं जल-किनुका, विनय करति इहिं भांति ।।
अमृत-सर आगै मधु रंचक, मनहिं करति अनुमान ।
सूर स्याम सोभा की सीवां, तिन पटतर को प्रान ।।[3]

अन्यत्र कृष्ण से लोक धर्म का उपदेश सुनकर वे उद्विग्न हो उठती हैं । वे कृष्ण को

१- वही २३०७
२- वही, २२३०
३- वही, २२०८

उनके विरद का स्मरण दिलाता हैं और अपने को अत्यन्त दीन कहता हैं --

आस जनि तोरहु स्याम हमारी ।

बेनु-नाद-धुनि सुनि उठि धाई प्रगटत नाम मुरारी ।।

क्यौं तुम निठुर नाम प्रगटायौ काहैं विरद भुलाने ?

दीन आजु हमतैं कोउ नाहीं, जानि स्याम मुसकाने[1] ।।

रासलीला में गोपियों के विरह के अन्तर्गत पुन: दैन्य भावना के दर्शन होते हैं । अत्यधिक सुखकारी रास लीला करते हुए गोपियों के मन में गर्व का उदय होता है किन्तु भक्ति के क्षेत्र में अहंकार का सर्वथा अभाव आवश्यक है, अत: कृष्ण राधा सहित अन्तर्ध्यान हो जाते हैं । गोपियां कृष्ण के साहचर्य से विमुख होकर अत्यन्त दु:खी हो जाती हैं और विविध विलाप करती हैं । उनकी विरह-वेदना में भी दीनता स्पष्ट लक्षित होती है --

बिकल ब्रजनाथ वियोगिनि नारि ।

हा हा नाथ,अनाथ करौ जिनि, टेरहिं बांह पसारि ।।

हरि कै लाड़, गरब जोबन कैं, सकीं न बचन सम्हारि ।

जरिअत है अपराध हमारौ, नहिं कुछ दोष मुरारि ।।

ढूंढ़ति बाट-घाट बन घन में मुरधि नयन जल ढारि ।

सूरदास अभिमान देह कैं बैठीं सरबस हारि[2] ।।

माधुर्य भाव

कृष्ण काव्य के वात्सल्य के अतिरिक्त जिस भाव की व्यापक व्यंजना मिलती है, वह है माधुर्य भाव । इस मधुर भावना को आचार्यों ने भक्ति की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया है क्योंकि दाम्पत्य भाव में साधक जितनी अधिक घनिष्ठता अपने इष्टदेव के साथ स्थापित कर लेता है उतना अन्य किसी भाव द्वारा नहीं । वात्सल्य,सख्य एवं दास्य भाव सर्वसुलभ नहीं है । वात्सल्य के लिए आवश्यक शुद्ध राग द्वेषादि से रहित ममता सभी में नहीं हो सकती । दास्य भावना में भक्त के अपने को तुच्छातितुच्छ तथा अपने अधिदेव को महत्तम रूप में देखने के कारण दोनों के बीच में व्यवधान बना रहता है । काम भाव इन भावों की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में पाया जाता है । पूर्णात्म की स्थिति भी इसी भाव में सम्भव है ।

१- वही १६४७

२- वही, १७०६

यह आत्मसमर्पण पुरुष की अपेक्षा स्त्री की ओर से ही अधिक होता है । सूर ने गोपियों को काम भावना का प्रतिनिधित्व करने वाली तथा श्रीकृष्ण को सौन्दर्य-सुषमा के रूप में देखा है । कृष्ण और गोपियों की पार्थिव लीलाओं द्वारा कवि हमें अलौकिक जगत का आस्वादन कराता है । मनुष्य की लौकिक राग द्वेषात्मक काम प्रवृत्ति को परिष्कृत रूप में श्रीकृष्ण में कवि ने केन्द्रित कर दिया है । भक्त के प्रेम की अनन्यता एवं तन्मयता को लक्ष्य में रखते हुए कवि ने प्रेम की मूर्ति गोपियों को समस्त प्रलोभनों को त्याग कर कृष्ण में अनुरक्त दिखाया है । कृष्ण के लिए गोपियां अपने सभी सांसारिक सम्बन्ध, वैभव और लोक लज्जा त्याग देती हैं । गोपियों के इस स्वरूप द्वारा कवि प्रेम की अलौकिकता की ओर ही संकेत करता है । सामान्य प्रेम भावना में इतना आत्मत्याग,संसार विरक्ति तथा एकनिष्ठता असम्भव है । मनुष्य की व्यापक प्रेम भावना का उदात्तीकरण करके सूर ने भक्तों के लिए एक नवीन मार्ग का उद्घाटन किया जिसके द्वारा मनुष्य की कलुषित वृत्तियों का शमन सहज रूप में हो जाता है । गोपियों की इस अलौकिक प्रेम भावना के कारण कृष्ण अनेक लीलात्मक रूप धारण कर प्रत्येक गोपी को मनस्तुष्टि करते हैं । गोपियों द्वारा वाह्य वैभव का तिरस्कार करवाकर कवि भक्ति के क्षेत्र में सर्वात्मसमर्पण की आवश्यकता प्रतिपादित करता है ।

भक्ति के लिए आवश्यक आत्मसमर्पण एवं अनन्य भाव को कवि ने इसी मधुर भाव की भक्ति द्वारा पुष्ट किया है । कृष्ण की समस्त माधुर्य भाव की लीलाएं दानलीला, चीरहरण लीला तथा रास लीला इसी कथन को व्यक्त करती हैं । इस प्रेमानुभूति का उद्भव सूरकाव्य में प्रधान रूप से वर्णित बालक्रीड़ा के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है[१] । वात्सल्य के आलम्बन कृष्ण आगे चलकर माधुर्य के आलम्बन बन जाते हैं । किन्तु यह विकास क्रम इतनी कुशलता से कवि अंकित करता है कि पाठक का उस ओर ध्यान ही नहीं जाता[२] । कृष्ण का अनुपम रूप ही इस माधुर्य भावना का दृढ़ आधार है --

फूली फिरति ग्वालि मन में री ।
पूछति सखी परस्पर बातें, पायौ परयौ कछू कहुँ तें री ?

१- अगले पृष्ठ पर देखें
२- अगले पृष्ठ पर देखें

पुलकित रोम-रोम, गद-गद, मुख बानी कहत न आवै ।
ऐसो कहा आहि सो सखि री, हमकौं क्यों न सुनावै ।
तन न्यारौ जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप ।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप[1] ।।

यह प्रेम-भावना कृष्ण की माखन आदि लीलाओं में क्रमशः विकास को प्राप्त होती जाती है । कृष्ण की माखन चोरी सुनकर प्रत्येक गोपी यही चाहती है कि कृष्ण उसके घर आवें और वह मक्खन खाते हुए उनको पकड़ कर आलिंगन करे[2] । कृष्ण की चपलता ने गोपियों को मंत्र मुग्ध कर दिया है[3] । कृष्ण यशोदा के समक्ष अबोध बालक बने रहते हैं किन्तु गोपियों के सम्मुख सदैव मधुर भाव के आलम्बन बनकर आते हैं[4] । पुनः कृष्ण द्वारा मुरलीवादन सुनकर गोपियों की प्रेम-भावना और भी उद्दीप्त हो उठती है[5] । वे मुरली की ध्वनि सुनते ही सब काम छोड़कर कृष्ण के पास आ जाती हैं और कभी अपने एकनिष्ठ प्रेम में मुरली को बाधक जानकर उसे अनेक उलाहनाएं भी देती हैं । वे सर्वत्र कृष्ण को अपने पति के रूप में प्राप्त करने की इच्छुक रहती हैं[6] । बाल्यकाल के प्रेम का स्वाभाविक एवं सहज रूप से विकास होता है । गोपियां कृष्ण से प्रेम करने लगती हैं । आयु में छोटे होने पर भी उनके पारस्परिक प्रेम को सहज रूप में चित्रित करते हुए उनके रति विलास का ऐसा वर्णन कियागया है,

---

(पिछले पृष्ठ की टिप्पणी)

१- मैया री, मोहिं माखन भावै ।
जो मेवा पकवान कहति तू, मोहिं नहीं रुचि आवै ।
ब्रज युवती इक पाछैं ठाढ़ी सुनत स्याम की बात ।
मन मन कहति कबहुं अपनें घर, देखौं माखन खात ।
बैठे जाइ मथनियां कैं ढिग मैं तब रह्यौं छपानी ।
सूरदास प्रभु अन्तरजामी, ग्वालिनि मन की जानी ।।--सूरसागर ८८२

२- वही, ७५२

(इस पृष्ठ की टिप्पणी)

१- वही, ८८४
२- वही, ८९०
३- वही, ८९२-९२०
४- वही, ९२२
५- वही, १२३९,१२४०
६- वही, १३८, १३८४, १३८५

मानो वे किशोर हों । गोपियों की भांति राधा कृष्ण का प्रेम भी स्वच्छन्द वातावरण में बाल क्रीड़ा के साथ पल्लवित होता है[1]। किन्तु यह माधुर्य भक्ति भाव ही है, शृंगार नहीं --

तुमहिं बिमुख धिक-धिक नर नारी ।
हम जानति हैं तुव महिमा कौं, सुनियै हे गिरधारी ।।
सांची प्रीति करी हम तुमसौं अन्तरजामी मानौ ।
गृह जन की नहिं पीर हमारे, वृथा धर्म-हठ ठानौ ।।
पाप पुन्य दोऊ परित्यागे, अब जो होइ सोहोई ।।
आस निरास सूर के स्वामी । ऐसी करै न कोई[2] ।।

माधुर्य भाव के विशद चित्रण द्वारा कवि प्रेम-भाव के अन्यतम महत्व को स्वीकार करता है । कृष्ण के मुख से अनन्य प्रेम की प्रशंसा करवाकर कवि ने इस कथन की पुष्टि की है । कृष्ण को गोपियों की अनन्यता पर विश्वास है । उनके प्रेम के समक्ष गोपियां विधि-मर्यादा लोक-लज्जा आदि को तृण से भी तुच्छ समझती है । अत: कृष्ण सर्वत्र गोपियों के प्रेम का आदर करते हैं[3]।

माधुर्य-भाव का क्रमिक विकास दिखाते हुए कवि ने पूर्वराग की अवस्था के अन्तर्गत गोपियों द्वारा लोक-लज्जा आदि का अतिक्रमण दिखाया है । माधुर्य के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों को सूर ने ग्रहण किया है । उनका विरह वर्णन मधुर भक्ति की श्रेष्ठता एवं उत्कर्ष द्योतित करता है । साथ ही मधुर भक्ति की अपेक्षाकृत ज्ञान योग आदि की महत्वहीनता भी लक्षित होती है ।कृष्ण के प्रेम में मग्न गोपियां उद्धव द्वारा दिए गए ज्ञान योग आदि के उपदेश का सर्वथा प्रत्याख्यान करती है । सूर ने इन्द्रिय निग्रह का उपदेश न देकर इन्द्रियों को विशिष्ट सौन्दर्यसत्ता के प्रति केन्द्रित कर महत्वपूर्ण ढंग से भक्ति का प्रतिपादन किया है । इन्द्रियों का दमन दुष्कर है किन्तु इन्द्रियों का सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होना सहज स्वभाव है । गोपियों को कृष्ण की अलौकिक सुषमा पर आसक्त करवाकर कवि ने

१- वही, १२८७- १२९३
२- वही, १६४६
३- वही, १६५१, १६५२

विरक्ति के स्थान पर आध्यात्मिक अनुराग की सुन्दर अभिव्यंजना की है । गोपियां कवि की गहन प्रेम-भावना का प्रतिनिधित्व करती है । यह प्रेम भक्ति भगवत-कृपा से ही प्राप्त होती है । प्रेम-भक्ति के माहात्म्य के सम्बन्ध में सूर कहते हैं --

प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होई । नाथ कृपा करि दीजै सोई[1] ।।

प्रेमभक्ति की प्राप्ति के अनन्तर साधक के मन में इस कथन की पुष्टि के लिए अनेक पद प्रस्तुत किये जा सकते हैं । वे कभी उद्धव को ज्ञान और वैराग्यपूर्ण बातों का उपहास करती हैं और कभी कहती हैं कि 'मन दस बीस तो होते नहीं -- एक है, वह भी श्याम के साथ चला गया है[2] । फिर किस मन से योग-साधना की जाय । गोपियों का हृदय तो कृष्ण-प्रेम से भरा है, उसमें अन्य किसी के लिए स्थान नहीं[3] । अपने प्रेम की अनन्यता के कारण गोपियों को समस्त सांसारिक वस्तुएं हेय प्रतीत होती हैं । वे उद्धव से कहती हैं--

ऊधौ मन माने की बात ।
दाख छुहारा छांड़ि अमृत-फल, बिषकीरा बिष खात ।।
ज्यौं चकोर कौं देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात ।
मधुप करत घर कोरि काठ मैं बंधत कमल के पात ।।
ज्यौं पतंग हित जानि आपनौ, दीपक सौं लपटात ।
सूरदास जाकौ मन जासौं, सोई ताहि सुहात[4] ।।

गोपियां कृष्ण को पूर्णात्म समर्पण कर चुकी हैं । उनका विरह-प्रेम की चरम अवस्था का द्योतक है । तभी तो वे उद्धव से कहती हैं--

ऊधौ बिरहौ प्रेम करै ।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौं, रंग न रसै परै ।।
ज्यौं धर दहै बीज अंकुर गिरि,तौसत फरनि फरै ।
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनौ, पुनि पय अमी भरै ।।
ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख तौ रवि रथहु अरै ।
सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यौं दुख-सुखनि डरै[5] ।।

१- वही, २ ४९१६
२- वही, ४३४४
३- वही, ४३५०
४- वही, ४६३६
५- वही, ४६०४

कृष्ण पर मानवीयता के द्वारा कवि ने भक्ति को मनोवैज्ञानिक रूप दिया है। इसीलिए उनकी भक्ति में स्वाभाविकता है, वह केवल आदर्श मात्र नहीं प्रतीत होती।

माधुर्य भाव के अन्तर्गत संयोगावस्था की अभिव्यक्ति कवि ने विभिन्न लीलाओं के माध्यम से की है। माधुर्य भाव की चरम परिणति दान लीला में देखने को मिलती है। दानलीला के कवि ने शृंगारी वातावरण को प्रधानता से उपस्थित किया है। यद्यपि साथ ही आध्यात्मिक अभिव्यंजना भी की है। भगवान भक्तों के साथ भावानुकूल सम्बन्ध रखते हैं -- वे योगी को योगी और कामी को कामी के रूप में मिलते हैं। वस्तुत: काव्यभाव की परितृप्ति ही उस लीला का प्रमुख उद्देश्य है। माधुर्य भाव की आध्यात्मिकता का संकेत दानलीला के प्रारम्भ में ही सूर कर दी हैं। भगवान स्त्री-पुरुष की संज्ञा से पृथक् केवल भक्तों को सुख देने वाले हैं। संकट-काल में भक्त की आर्त पुकार सुनते ही प्रकट होकर उनका उद्धार करते हैं। सुख में स्मरण करने पर कृष्ण उनको वहीं दर्शन देते हैं। सुख-दुख दोनों के स्मरण करने वाले को वे नहीं भुलाते। एकाग्रचित होकर जो जिस भाव से भगवान का ध्यान करता है, भगवान उनको वैसे ही मिलते हैं। कामातुर गोपियों ने मन,वचन एवं कर्म से भगवान का ध्यान किया। गिरिधारी को पति रूप में प्राप्त करने के लिए षट ऋतु-पर्यन्त तपस्या की और अपने शरीर को गलाया। अन्तर्यामी कृष्ण सब के मन की बात जानते हैं अत: उन्होंने पुरातन प्रीति का प्रतिपालन किया। गोपियों का चीरहरण करके उन्हें सुख दिया। युवतियों की सदैव यही कामना रहती है कि कृष्ण से उनका तनिक भी अन्तर न हो। वे किसी को घाट पर तथा किसी को यमुना-तट पर रोकते हैं। किसी को टोकते हैं तथा किसी की गागर फोड़ते हैं। इसी प्रकार की अन्य विभिन्न क्रीड़ाएं करते हुए कृष्ण व्रजयुवतियों की कामव्यथा मिटाते हैं। किन्तु भगवान कृष्ण ब्रह्मा से लेकर कीट तक के स्वामी हैं वे निष्कामी तथा निर्लोभी हैं। भावना के वश में होकर वे सदैव साथ ही साथ रहते हैं। जो हंसती हंसती है, उन्हीं से बोलते हैं। व्रजांगनाएं भी क्षण भर के लिए कृष्ण को नहीं भुला पातीं। गृहकार्य करते हुए भी उनका चित्त कृष्ण में ही लगा रहता है। सभी गोपियां अपने-अपने मन में कृष्ण को अपना पति समझती हैं। गोपियों के इसी प्रेम-भाव के कारण उनकी शोभा को देखकर कृष्ण रीझ जाते हैं और उनके साथ रास-लीला तथा दधि दान-लीला करने का निश्चय करते हैं[1]।

१- वही, २०७८

गोपियों और कृष्ण के वार्तालाप द्वारा कवि कृष्ण के कथनों से उनके अलौकिक स्वरूप का कहीं-कहीं सांकेतिक रूप से तथा कहीं स्पष्टरूप से उल्लेख है-करवाता है[1]। कृष्ण गोवर्धन धारण तथा कंस आदि का उल्लेख कर अपनी शक्तिमत्ता का परिचय देते हैं, परन्तु गोपियां सर्वत्र उसे व्यंग्य एवं हंसी में उड़ा देती हैं। गोपियां कृष्ण के यौवन रूप पर मुग्ध होने एवं बलात्कारपूर्वक नारियों को वन में रोकने के अति आक्षेप करती हैं। वस्तुत: कृष्ण-गोपी संवाद को उपस्थित कर कवि का लक्ष्य गोपियों को कृष्ण की अलौकिकता का विश्वास दिलाना है। अपनी अलौकिकता की पुष्टि के लिए कृष्ण कभी गोवर्द्धन पर्वत उठाने[2] कभी अपनी कमरी के महत्त्व[3] को बताकर तथा नन्द और यशोदा को अपना माता-पिता अस्वीकार करअपने अविनाशी एवं अविगत स्वरूप का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हैं[4]। अपनी भक्तवत्सलता बतलाते हुए कर्मकाण्ड का प्रत्याख्यान भी किया है[5]। गोपियां कृष्ण की मायाजन्य[6] लीलाओं में भूली रहने के कारण कृष्ण के इन कथनों की उपेक्षा करती हैं। कृष्ण कहते हैं कि जो राजधानी तुम्हारे लिए अच्छी है, वह हमारे मग्न दास-दासों को भी फीकी लगती है। हमारा और तुम्हारा नाथ तो तभी तक है जब तक[7] कंस जीवित है। कृष्ण का यह कथन गोपियों के मन में संशय उत्पन्न कर देता है। वे दधि दान के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं किन्तु कृष्ण को यह अभीष्ट न था। वे उनसे यौवन दान के लिए आग्रह करते हैं[8]। गोपियों द्वारा प्रत्युत्तर में मर्यादा भंग की बात सुनकर[9] कृष्ण बड़े ही सहज मानवीय स्वर में कहते हैं--

हम पर रिस करति ब्रजनारि।
बात सुधैं हम बतावत, आपु उठति पुकारि।।
कबहुं मरजादा घटावति, कबहुं देति हैं गारि।
प्रात तैं झगरौ पसार्‌यौ, दान देहु निवारि।।
बड़े घर की बहू बेटी, करतिं वृथा भगारि।[10]
सूर अपनौं अंत पावें, जाहिं घर झख मारि।।

१-वही, २१२८-२१३४
२-वही, २१३१
३- वही, २१३३
४-वही, २१३८
५-वही, २१४०
६- वही, २१४१
७- वही, २१६५
८- वही, २१६७, २१७०, २१७१
६- वही, २१७८
१०- वही, २१७३

किन्तु जब राधा भी कृष्ण को लोगों द्वारा किए जाने वाले उपहास की ओर ध्यान दिलाती है[1] तो कृष्ण के सखा प्रत्यक्ष रूप से दोनों के पारस्परिक रमण को उचित बताते हुए कृष्ण तथा राधा की अभिन्नता को स्पष्ट कर देते हैं --

तुम नागरी, नवल नागर वै, दोउ मिलि करौ बिहार ।
सूर स्याम स्यामा तुम रकै, कह हंसिहै संसार ।।[2]

कवि ने कृष्ण तथा गोपियों के मध्य हुए प्रेम विवाद का बड़ा ही यथार्थ मार्मिक एवं स्वाभाविक चित्रण किया है । गोपियां कृष्ण तथा सखाओं द्वारा किए गए विभिन्न आध्यात्मिक संकेतों को न समझ कर कृष्ण का ध्यान माखनचोरी उलूखल बन्धन आदि घटनाओं[3] पर आकृष्ट करती है, किन्तु प्रत्युत्तर में चीरहरण लीला का[4] स्मरण दिलाते हैं तथा पुनः अपनी भक्ति के रहस्य को इस प्रकार प्रकट करते हैं --

झूठी बात कहा मैं जानौं ।
जो मौकौं जैसेहिं भजै री, ताकौं तैसेहि मानौं ।।
तुम तप कियौ मोहिं कौ मन दै मैं हौ अन्तरजामी ।
जोगी कौं जोगी है दरसौं कामी कौं ह्वै कामी ।।
हमकौं तुम झूठे करि जानति, तौ काहैं तप कीन्हौं ।
सुनहु सूर कत भईं निठुर अब, दान जात नहिं दीन्हौं ।।[5]

कृष्ण अनंग नृपति द्वारा आने को भेजा हुआ बताते हैं[6] । इसको लेकर गोपी कृष्ण के बीच सुन्दर वाद-विवाद होता है । अन्त में गोपियां कामातुर होकर रूप-यौवन को समर्पित कर कृष्ण की शरण में चली जाती हैं[7] ।कृष्ण सबसे मन में मिलकर उन्हें सुख देते हैं । पुनः अपने शरीर की सुध आते ही वे यह सोचकर कि हमने किसके साथ रमण किया-- संकुचित हो जाती हैं । केवल श्याम ही इस चरित्र के कर्ता हो सकते हैं -- ऐसा विचार आते ही वे पुनः आत्मसमर्पण कर देती हैं[8] ।

कृष्ण तथा गोपियों के मानसिक सम्मिलन एवं गोपियों के गुप्त यौवनदान द्वारा माधुर्य भाव की आध्यात्मिकता सुस्पष्ट है । भगवान की मधुर भक्ति करने वाला

१- वही, २१७५
२- वही,२१७६
३- वही, २१७७
४- वही, २१७८-२१७९
५- वही, २१९१
६- वही, २१९९-२२०५
७- वही, २२०८
८- वही, २२०९

साधक समस्त सांसारिक संघर्षों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है । माधुर्य भावना की पुष्टि में कवि यहां तक कह देता है कि जिसके वश में त्रिभुवन है वह प्रभु युवतियों के वश में है[1] ।

दान लीला में जिस प्रेम भाव की अनुभूति गोपियों को होती है वही प्रेम पनघट लीला में ० और भी दृढ़ता को प्राप्त कर लेता है । पनघट लीला के अन्तर्गत कवि ने प्रेम का विकास तथा मधुर भाव की गहनता अंकित की है[2] । अनेक पदों में कवि ने गोपियों द्वारा लोकलज्जा के त्याग एवं उनकी इन्द्रियों के कृष्णोन्मुख होने का उल्लेख किन कराया है । प्रेमप्रवण गोपियों को उनके माता-पिता तथा गुरुजन अनेक भांति समझाते हैं परन्तु उन पर कोई असर नहीं पड़ता । वे सदैव कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित रहती है ।

चीरहरण लीला द्वारा भी कवि ने गोपी कृष्ण के माधुर्य भाव की अभिव्यंजना की है । चीरहरण का उद्देश्य कोई लौकिक महत्व नहीं रखता । कामातुर हो ब्रजांगनाओं ने वर्षभर तक मेरे कारण तप,संयम किया , शीत,ताप आदि सहा यह जानकर ही भक्तवत्सल भगवान ने उनका चीरहरण किया[3] । कृष्ण सोलह सहस्र गोपांगनाओं के चीर तथा आभूषण को लेकर कदम्ब पर चढ़ गए[4] । गोपियां कृष्ण से वस्त्राभूषण देने के लिए अनेकशः अनुनय-विनय करती है[5] । किन्तु कवि को भक्त एवं भगवान के बीच का आवरण दूर कर पूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा माधुर्य भाव की व्यंजना करना अभीष्ट है, इसी से वह कृष्ण के मुख से कहलवाता है--

लाज ओट यह दूरि करौ ।
जोइ मैं कहौं करौ तुम सोई, सकुच बापुरिहिं कहा करौ ।।
जलतैं तीर आइ कर जोरहु, मैं देखौं तुम बिनय करौ ।।
पूरन ब्रत अब भयौ तुम्हारौ, गुरुजन संका दूरि करौ ।।
अब अंतर मोसौं जनि राखहु, बार बार हठ बृथा करौ[6] ।
सूर स्याम कहैं चीर देत हौं, मो आगे सिंगार करौ ।।

१- वही, २२१२
२- वही, २०५३
३- वही, १४०१
४- वही, १४०२
५- वही, १४०७
६- वही, १४०८

गोपियां लज्जा त्याग कर जब कृष्ण के सम्मुख आ जाती हैं तो कृष्ण उन्हें वस्त्र दे देते हैं[1]। इस प्रकार गोपियों का संकोच दूर हो जाने पर कृष्ण ने कदम्ब वृक्ष के नीचे उनके काम द्वन्द्व को दूर किया[2] और शरद पूर्णिमा की रात का वचन दिया[3]।

यज्ञ-पत्नी लीला में कृष्ण से मिलने को उत्कंठित गोपियां जग की लाज को झूठा कहती हैं और कृष्ण की शरण में जाती हैं[4]।

कृष्ण के प्रेम में मग्न गोपियों ने अपने सभी पारिवारिक सम्बन्धों का परित्याग कर दिया। मुरली की ध्वनि सुनते ही वे वन की ओर चल देती हैं[5]। कृष्ण गोपियों के परीक्षार्थ उन्हें नारी धर्म का उपदेश देते हैं कि पति का परित्याग करने वाली युवतियों को धिक्कार है। पति यदि कोटि अपकर्म करे तो भी पत्नी को उसे नहीं त्यागना चाहिए। भवसागर से पार उतरने का पति-सेवा ही एकमात्र आधार है[6]। किन्तु कृष्ण प्रेम में मग्न गोपियां माता-पिता सभी को अस्वीकार कर देती हैं। वे समस्त संसार को व्यर्थ कहकर केवल कृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझती हैं। कृष्ण जैसा दर्शन तो उन्हें त्रिभुवन में भी नहीं मिल सकता[7]। मन तो उनका श्रीकृष्ण के चरणों में लगा है, नेत्र कृष्ण की मधुर मुस्कान में और कान उनके अमृत वचनों में। वे कृष्ण से कहती हैं कि इन्द्रियां तो मन के पीछे रहती हैं फिर धर्म किसे बता रहे हो[8]। गोपियां घर जाना अस्वीकार कर देती हैं। क्योंकि घर वाले उन्हें अब स्वीकार नहीं करेंगे और यदि वे स्वीकार कर लें तब उन्हें और गोपियों-- दोनों को ही धिक्कार है[9]। गोपियों की इस प्रकार की विनती सुनकर भगवान को उनकी एकनिष्ठता का निश्चय हो जाता है। वे गोपियों के अभिमान-रहित दृढ़ प्रेम को देखकर उनके विरह द्वन्द्व को दूर करने के लिए तत्पर हो जाते हैं[10]।

१- वही, १४१०
२- वही, १४१३
३- वही, १४१४-१४१५
४- वही, १४१८-१४२६
५- वही, १६२१
६- वही, १६३३- १६३५
७- वही, १६३६-१६४०
८- वही, १६४१
६- वही, १६४२
१०- वही, १६४४

और रास का निश्चय करते हैं । क्योंकि उन्हें जो जिस भाव से भजता है, वे उसे उसी भाव से मिलते हैं[१] । अपनी रास लीला में भगवान ने सब को अपने वश में कर सभी कामातुर बालाओं की आशा पूर्ति की[२] । रास लीला का अधिष्ठान होने से कवि ने वृन्दावन को त्रिभुवन का सर्वोच्च धाम घोषित किया है[३] ।

राधा एवं कृष्ण के प्रेम में इस माधुर्य भावना का चरम विकास दृष्टिगत होता है । कृष्ण से मिलने के लिए राधा सांप द्वारा काटे जाने का बहाना करके नया उपाय ढूढ़ती हैं[४] । कवि ने राधा कृष्ण के प्रान विरह, दुती के माध्यम से पुनर्मिलन आदि का विस्तृत वर्णन किया है । गोपियां राधा कृष्ण के अनन्य प्रेम को जानते हुए भी राधा से ईर्ष्या नहीं करतीं । वे राधा के सुख को अपना सुख समझती हैं ।

रास के मध्य राधा एवं गोपियों में अहंकार का प्रादुर्भाव देखकर कृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं । राधा और गोपियां कृष्ण के विरह में व्याकुल हो अपने अपराध के लिए क्षमा मांगती हैं[५] । वन की लताओं एवं वृक्षों से वे कृष्ण का पता पूछती हैं[६] । राधा कीदशा भी कृष्ण के वियोग में अत्यन्त दीन हो जाती है[७] । गोपियां बारम्बार कृष्ण से अपने गर्व के लिए पश्चाताप करती हुई क्षमा याचना करती है । सोलह सहस्र गोपियों के मन में एक ही पीड़ा है । राधा जी व रूप और गोपियां शरीर रूप हैं । भगवान प्रेम के वश में हैं अत: गोपियों के प्रेम का अहंकार हीन देख वे प्रकट हो गए । गोपियों से मिलकर उनको हर्षित किया और उन सब का पूर्वभाव स्वीकार किया[८] । गोपियां जानती हैं कि यह उसी रास मंडल का रस है । उनके मध्य में श्याम और श्यामा हैं तथा परस्पर वही पुरातन प्रीति बनी हुई है[९] । हिंडोल लीला में कृष्ण राधा और गोपियों के साथ सुख करते हुए दिखलाए गए हैं । दानलीला में कवि ने जिस आध्यात्मिकता का बीजारोपण किया

१- वही, १६२७
२- वही, १६८०
३- वही, १६८३
४- वही,
५- वही, १७०५
६- वही, १७०६
७- वही, १७३०
८- वही, १७४१-१७४२
९- वही, १७४८

उसकी पुष्टि हिंडोल लीला एवं वसन्त लीला में आकर होती है । बीच में रासलीला के अन्तर्गत गर्व का व्यवधान आ जाता है किन्तु प्रेम के क्षेत्र में गर्व का कोई स्थान नहीं । अतः कवि कृष्ण के अन्तर्ध्यान द्वारा उसको भी दूर करवा देता है । पुनः शुद्ध प्रेम भाव से भगवान को भजती हुई गोपियां वसन्त लीला में परमानन्द की प्राप्ति करती हैं ।

कृष्ण के अन्य रूपों के प्रति अपेक्षाकृत उदासीन रहकर तथा माधुर्य भाव को प्रधानता देकर यही दिखाया है कि भक्ति की अन्यतम स्थिति माधुर्य में ही सम्भव है । इस मधुर भाव में लौकिकता नहीं है । कृष्ण गोपियों के अनन्य अन्याय प्रेम की कई बार परीक्षा ले चुकने के बाद ही उन्हें अंग संग का लाभ देते हैं ।

मीरा ने अपने भक्ति के उद्गारों को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है । भक्ति के ये उद्गार अत्यन्त स्वाभाविकता से व्यक्त किए गए हैं और शान्तरस के पूर्ण अभिव्यंजक हैं । अपने विनय सम्बन्धी पदों में वे कृष्ण की रूप माधुरी को हृदय में बसाने की इच्छा सर्वत्र व्यक्त करती है । मीरां का अन्तिम लक्ष्य तथा संकल्प यही रहता है कि जोके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई । अपने पति को रिझाने के लिए वे लोक लज्जा का परित्याग कर देती हैं । जिस प्रकार भी हरि प्रसन्न हों वे वह सब कुछ करने को तैयार हैं । मीरां की रचनाओं में भक्ति के विविध रूप देखने को मिलते हैं । कुछ पद तो उनकी विनय भावना से सम्बद्ध हैं जिसमें उन्होंने राम नाम का रसपान करने के लिए आदेश दिया है । कुछ पदों में वे निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करने को कहती हैं[१] । कभी वे अपने भक्ति के उद्गारों को कृष्णलीला के माध्यम से व्यक्त करती हैं और कहीं वे मधुर भाव से ओत प्रोत पदों की रचना करती है । मीरां का वैशिष्ट्य ही इसमें है कि न तो उन्होंने संत कवियों की भांति वाह्याडम्बरों एवं योग पद्धति का निराकरण किया और नहीं सूर तुलसी की भांति ज्ञान तथा भक्ति के सम्बन्ध विवेचन की चेष्टा की । मीरां केवल मात्र भक्त थीं । हरि के ध्यान में मग्न उन्हें कुरीतियों आदि के खण्डन का अवकाश ही न था । हरि भक्ति को प्रमुखता देते हुए ज्ञान के महत्व को भी प्रतिपादित करने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी । अपने प्रियतम से मिलने के लिए वे सब कुछ करने को तैयार हैं । वे वैराग्य वेष धारण करने भस्म रमाने, खप्पर ग्रहण करने एवं मृगछाला तक

१- मीरां की पदा०, १९५

धारण करने को तत्पर रहती हैं।[1] भक्ति के क्षेत्र में मीरां ने अहंकार,काम,क्रोध आदि को बाधक स्वरूप स्वीकार किया है । वे कहती हैं --

तहि विधि भक्ति कैसे होय ।
मन की मैल हियतें नहिं छूटो, दियो तिलक सिर धोय
काम कूकर लोभ डोरी बांधि मोहिं चण्डाल ।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल ।
बिलार विषया लालची रे, ताहि भोजन देत ।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से, राम नाम न लेत ।
....

हरिजिन्ह से हेत कर संसार आसा त्याग ।
दास मीरां लाल गिरधर सहज कर बैराग ।।[2]

मीरा साम्प्रदायिक राग-द्वेष आदि की भावना से परे थीं ।आत्म-समर्पण की भावना उनके उद्गारों में प्रधानरूप से लक्षित होती है । वे प्रियतम की प्राप्ति के लिए प्रत्येक क्रिया करने को तैयार है । इसी कारण मीरां की रचनाओं में जहां एक ओर कान्ता भाव से सम्बन्धित पद मिलते हैं वहां दूसरी ओर योग साधना का भी उल्लेख हुआ है --

जाओं वाही देस प्रीतम पावां जाओं वाही देस ।।
कहो कसूमल साड़ी रंगवां कहो तो भगवां भेस ।
कहो तो मोतियन मांग भरावां करो छिटकांवा केस ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुण जीयो बिड़द नरेस ।।[3]

मीरां की भक्ति के दो रूप ही मुख्यत: प्राप्त होते हैं प्रथम दास्य भाव सम्बन्धी और द्वितीय माधुर्य भाव सम्बन्धी । दास्य भाव सम्बन्धी पद मीरां की रचनाओं में अपेक्षाकृत कम हैं । जो हैं भी उनमें सूर तुलसी की भांति भक्त के दीन भाव के दर्शन नहीं होते । मीरां ने प्रभु को भक्तवत्सलता, सर्वशक्तिमत्ता तथा कृपा

१- मीरां की पदा० ६४
२- वही, १५८
३- वही, १५३

के वर्णन किए हैं , किन्तु अपने दैन्य का प्रकाशन नहीं किया । भक्त के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण उनकी वाणी में वह आर्त पुकार नहीं है जो सूर तुलसी में है । भगवान की भक्तवत्सलता का वर्णन करते हुए उन्होंने द्रौपदी प्रह्लाद आदि के उदाहरण दिए हैं[1] । गिरिधारी को ही एकमात्र शरणरक्षक जानकर वे उनकी शरण में चली जाती हैं --

मैं तो तेरी शरण परी रे रामा, ज्यूं जाणै त्यूं तार ।।
अड़सठ तीरथ भ्रमि भ्रमि आयौ, मन नाहीं मानी हार ।
या जग में कोई नहिं अपणा, सुणियौ श्रवणमुरार ।
मीरां दासी रामभरोसे, जग का फंदा निवार ।[2]

एकाध स्थलों पर अवश्य ही उन्होंने को अबल,अवगुणी इत्यादि कहा है --

मैं अबला बल नाहिं गोसाईं, राखो अबकै लाज ।
रावरी होइ करारिरे जाऊं, हे हरि हिवडारो साज[3] ।
तुम गुणवंत बड़े गुण सागर, मैं हूं जी औगणहारा ।
मैं निगुणी गुण एकौ नाहीं तुम हो बगसण हारो ।[4]

मीरा सेवक बनकर अपने स्वामी की सेवा अवश्य करना चाहती है किन्तु अपने को दीन-हीन बताना उन्हें अभीष्ट नहीं । प्रियतम की सेवा से भक्त को प्रियतम की प्रियवस्तु का सान्निध्य प्राप्त होगा साथ ही सेवा का भी अवसर मिलेगा । इसीलिए मीरां कहती हैं --

म्हाणो चाकर राखां जी, गिरधारी लाला चाकर राखां जी ।
चाकर रहस्यूं बाग लगास्यूं नित उठि दरसण पास्यूं ।
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में, गोविन्द लीला गास्यूं ।
चाकरी में दरसणा पास्यूं सुमिरण पास्यूं खरची ।
भाव भगति जागीरी पास्यूं, जणम जणम री तरसी ।।[5]

१- मीरां की पदा० १३१, १३४
२- वही , १३३
३- वही, १३२
४- वही, ११२
५- वही, १५४

मीरां गिरधारी की चाकरी करना चाहती हैं क्योंकि उसमें उन्हें प्रतिदिन प्रात: भगवान के दर्शन मिलेंगे , वृन्दावन की गलियों में गोविन्द लीला गान का अवसर मिलेगा । अन्त में कुसुम्बी साड़ी पहनकर सांवलिया का दर्शन प्राप्त होगा जो कि मीरां का अभीष्ट लक्ष्य है । वस्तुत: नारीत्व पर अटल विश्वास ने मीरां को अज्ञानता , असमर्थता, दीनता आदि स्त्री-- सुलभ अवगुणों की ओर आकृष्ट नहीं होने दिया । अतएव सूर तुलसी जैसी दैन्यभाव समन्वित आर्त पुकार उनके पदों में नहीं मिलती । उनमें आत्माभिमान है , वह अपने की दीन कभी नहीं दिखाती । इसी कारण हरि की उपेक्षा उनसे सहन नहीं होती । वे कहती हैं --

माई म्हारी हरि न बूझी बात ।
पिण्ड मांसू प्राण पापी निकस क्यूं नहिं जात[1] ।

मीरां की दास्य भक्ति में दीनता के स्थान पर आत्मसमर्पण तथा शरणागत आदि के भाव अधिक हैं । वे कभी अपने मन को भगवान की सेवा करने को कहती हैं[2] और कभी भगवान से एक बार अपनी ओर देख लेने का आग्रह करती हैं[3] । निम्न पद मीरां के आत्मसमर्पण की चरम सीमा है --

मैं तो गिरधर के घर जाऊं ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊं ।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊं, भोर गए उठि आऊं ।
रैण दिना वाके संग खेलूं, ज्यूं ज्यूं वाहि रिझाऊं ।
जो पहिरावै सोई पहिरूं जो दे सोई खाऊं ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊं ।
जहां बैठावे तितही बैठूं बेचै तो बिक जाऊं ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर , बार बार बलि जाऊं[4] ।

आत्म निवेदन सम्बन्धी पद मीरां की रचनाओं में ~~बहुलतापूर्वक~~ बहुतायत से चित्रित किए गए हैं । मीरां के विरह सम्बन्धी पदों में यह आत्म निवेदन बड़ी स्वाभाविकता से अंकित है[5] ।

१- मीरां की पदा० ६६
२- वही, १
३- वही, ५
४- वही, २०
५- वही, १४,६४,१०४,११४ आदि

माधुर्य भाव

मीरां की भक्ति का आदर्श माधुर्य भाव था । वे गिरधर नागर के सर्वत्र अपनी भक्ति के आलम्बन रूप में देखती हैं और उनके साथ अपना पुरातन प्रीति का उल्लेख अनेकश: करती हैं[1]। मीरां के प्रेम का प्रारम्भ कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के अनुभव से होता है[2]। कृष्ण का अप्रतिम सौन्दर्य मीरां की प्रेमासक्ति का मुख्य कारण है । प्रेम के वशीभूत हुई मीरां कृष्ण पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करती हुई कहती हैं--

आली री म्हारे णेणा बाण पड़ी ।
चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत, हिवड़ा अड़ी गड़ी ।
कबरी ठाढ़ी पन्थ निहारां अपणे भवण खड़ी ।
अटकां प्राण सांवरो प्यारो, जीवण मूर जड़ी ।
मीरां गिरधर हाथ बिकाणी, लोग कह्यां बिगड़ी[3] ।।

स्त्री होने के कारण पतिरूप आराध्य के प्रति अपने भाव व्यक्त करने में मीरां को कोई कठिनाई नहीं पड़ी । वे स्त्री-सुलभ समस्त बातों से अभिज्ञ थीं । अत: अपनी प्रेमाभिव्यक्ति के लिए काल्पनिक जगत का आश्रय लेने की उन्हें कोई जरूरत नहीं हुई । उनकी प्रेमाभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । अपने प्रियतम को रिझाने के लिए वे उनके समक्ष नाचती हैं[4]। वे प्रियतम के लिए विभिन्न शृंगार करती हैं । श्याम के बिना उन्हें समस्त संसार कष्टप्रद लगता है तथा सांसारिक क्रिया-कलाप नि:सार प्रतीत होते हैं[5]। मीरां के लिए वस्तुत: गिरिधर नागर ही है अन्य समस्त सांसारिक सम्बन्ध झूठे हैं । इसी असारता की अनुभूति[6] कर मीरां ने स्वजनों का विरोध किया तथा लोक लज्जा का परित्याग किया । मीरां स्पष्ट शब्दों में राणा के देश परित्याग का उल्लेख करती हैं, क्योंकि राणा के देश में सन्तों के स्थान पर असज्जनों का वास रहता है । यही नहीं, कृष्ण को वर[7] रूप में प्राप्त कर मीरां समस्त सांसारिक प्रसाधनों का परित्याग भी कर देती हैं ।

१- वही, २०,४२,५१,८०,१२३ आदि
२- वही, १२
३- वही, १४
४- वही, १७
५- वही, १६
६- वही, १८
७- वही, ३२

अपने प्रियतम के प्रेम में मग्न मीरां को अपनी `बदनामी` भी `मीठी` लगती है[१]। वे सदैव अपने हरि का गुणगान करती हैं जिनकी महिमा से सांप के पिटारे में सांप के स्थान पर शालिग्राम की मूर्ति, जहर के स्थान पर अमृत तथा `सूली की सेज` के स्थान पर सुन्दर पुष्पों की शय्या बिछ जाती है[२]। अपने अविचल प्रेम के कारण उन्हें समस्त सांसारिक सम्बन्ध आकर्षणहीन प्रतीत होते हैं। उनका अपना अलग प्रेम मार्ग है जिस पर चलते हुए उन्हें किसी की परवाह नहीं रहती। अतः श्रीकृष्ण को एक बार अपनाकर पुनः विषयोन्मुख होने का निराकरण करती हुई वे कहती हैं --

कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हे तो गुण गोविन्द का गास्यां ।
जिण मारग म्हारां साध पधारै उण मारग म्हे जास्यां ।
चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां काई करसी म्हारो कोई ।
गज से उतर के खर नहिं चढ़स्यां ये तो बात न होई ॥[३]

मीरां ने अपने इसी प्रियतम से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा है। उन्हें अपने प्रियतम के बिना क्षण भर भी चैन नहीं मिलती[४]। और वे विरहाकुल होकर कहती हैं--

दरस बिण दूखां म्हारे नैण ।
सबदां सुणतां मेरी छतियां कांपै मीठो थारो बैण ।
बिरह बिथा कांसू री कह्यां पैठां करवत ऐण ।
कल णा परतां पलहरि मग जोवां भयां छमासी रैण[५]।

मीरा अपने को जीवात्मा तथा प्रियतम के परमात्मा के रूप में देखती है। जीवात्मा को जब अपने स्वरूप का आभास मिल जाता है और परमात्मा के साथ अपनी एकता का ज्ञान हो जाता है तो वह प्रियतम से मिलने को व्याकुल हो उठती है। मीरां के पदों में प्रिय विरह की अन्तर्वेदना बड़ी स्वाभाविकता से अभिव्यक्त हुई है। उनका प्रियतम `नेह लगाकर`, `विरहाग्नि जलाकर`, `विरह संद में

१- वही, ३३
२- वही, ४१
३- वही, २५
४- वही, १०२

में छोड़कर चला गया है[1]। प्रियतम के बिना रत्नभूषण, खान-पान उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता[2]। वे रात-दिन प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करती हैं[3]। विरह की आकुलतावश उन्हें रात्रि में भी नींद नहीं आती। प्रिय की ज्योति बिना सारे घर में अन्धकार व्याप्त है फिर भी दीपक जलाना अच्छा नहीं लगता। प्रिय बिना शय्या भी असुन्दर लगती है अतः जागते ही रात्रि बीतती है[4]। विरह के समस्त राग-रंग उन्हें फीके लगते हैं। जैसे चातक 'घन' और मछली 'पानी' की रट लगाए रहता है वैसे ही मीरां भी प्रिय प्रिय की रट सदैव लगाए रहती हैं[5]। प्रियतम के बिना उनका जीवन दूभर हो रहा है। तभी वे कह उठती हैं --

प्रभु बिनि ना सरै माई।
मेरा प्राण निकस्या जात, हरी बिन नाहीं माई[6]।। आदि

प्रभु-मिलन की उत्कट चाह एवं पीड़ा उनके हृदय में जागृत हो गई है। अतः वे रात्रि दिन निर्निमेष नेत्रों से अपने प्रियतम का पंथ निहारा करती हैं[7]। अन्त में अत्यन्त व्याकुल होकर प्रिय से दर्शन देने की प्रार्थना करने लगती हैं[8]।

कभी वे विरहाकुल होकर उलाहना देने लगती हैं --

देखां माई हरि मण काठ कियां।
आवण कह गया अजांण आया, कर म्हाणे का ले गया[9]।

और कभी वे अपनी अपार व्यथा के कारण उपालम्भ स्वरूप प्रेम करने की ही मना करती है।

जोगिया से प्रीत कियाँ दुःख होइ।
प्रीत कियां सुख ना मोरी सजनी, जोगी मिंत न कोई[10]।
आदि

१- वही, ६४
२- वही, ६८-६६
३- वही, ४१
४- वही, ७४
५- वही, ८७
६- वही, ८६
७- वही, ६१
८- वही, १०१
६- वही, ५२
१०-वही, ५३

इतनी पीड़ा सहकर भी वे अपने प्रिय के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं । प्रियतम से वे कहती हैं--

ऐसी लगन लगाइ कहां तू जासी ।
तुम देखे बिन कलि न परति है तलफि तलफि जिव जासी ।
तेरे खातिर जोगण हूंगी, करवत लूंगी कासी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कंवल की दासी ।।[१]

किन्तु मीरा की तीव्र विरहानुभूति में उच्छृंखलता का समावेश नहीं हुआ है । उनका प्रेम सर्वत्र मर्यादित एवं पवित्र है । कारण मीरां का प्रेम उस अगम्य सत्ता के प्रति है जिसके सम्बन्ध में वे कहती हैं --

चलां अगम वा देस, काल देख्यां डरां ।
भरां प्रेम रा हौज, हंस केल्यां करां ।
साधां सन्त री संग, ग्याण जुगतां करां ।
धरां सांवरो ध्यान चित उजलो करां ।
सील घुंघरा बांध तोस निरता करां ।
साजां सोल सिंगार, सोरकरो रासड़ां ।
सांवलिया सूं प्रीत, औरां सूं आखड़ां ।[२]

परमात्मा से मिलने के लिए वे सोलह शृंगार करती हैं किन्तु यह शृंगार लौकिक न होकर धैर्य० क्षमा आदि हैं । वे शील, व्रत आदि का शृंगार कर संतों के अनुकूल मार्ग ग्रहण करती हैं ।

मीरां में नारी का सरल हृदय है । प्रिय मिलन की तीव्र इच्छा रहते हुए भी उन्हें यह नहीं ज्ञात कि प्रिय से कैसे मिलना होता है इसीलिए प्रिय आकर चला भी जाता है और उन्हें पता नहीं लगता ।[३] मीरां की इस प्रेम भक्ति का आदर्श ब्रज की गोपियां थीं । मीरां के गोपी प्रेम-भाव चित्रण सम्बन्धी पदों में पूर्ण तन्मयता एवं स्वाभाविकता है । कृष्ण गोपियों से विविध लीलाएं करते हैं किन्तु

१- वही, ४६
२- वही, १६३
३- वही, ४३

हार्दिक प्रेम स्पष्ट लक्षित होता है । उनका प्रेम आत्मानुभूति का विषय है[१]।

मीरां में संयोग-वर्णन के भी कुछ स्थल प्राप्त होते हैं किन्तु उनमें लौकिकता की किंचित्मात्र भी गंध नहीं आने पाई है । उनका प्रेम गम्भीर एवं गम्भीर था । अत: उनके विरह में न तो प्रलाप और उन्माद दिखाई देता है और न उनके संयोग में विभिन्न शृंगारिक चेष्टाएं । संयोग से उन्हें केवल पूर्ण एवं शुद्ध आनन्द की उपलब्धि होती है । उसमें वासना का समावेश नहीं[३]। हरि आगमन की बात सुनकर मिलनानन्द की कल्पना से वे बार-बार महलों में चढ़कर देखती हैं[४]। पुन: प्रियतम के आगमन पर प्राणों की आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति होती है । पांचों ज्ञानेन्द्रियां रूपी सखियां मिलकर प्रिय को रिझाती हैं । प्रत्येक जगह आनन्द मनाया जा रहा है[५]। निम्न पद प्रिय मिलन के अनन्तर होने वाले आनन्दातिरेक का द्योतक है --

साजण म्हारे घरि आया हो ।।
जुगां जुगां री जोवतां, विरहणि पिव पाया हो ।
रतन करां नेवछावरां ले आरत साजां हो ।
प्रीतम दिया सनेसड़ा , म्हारो घणा णवाजा हो ।
प्रिय आया म्हारे सांवरा अंग आणन्द साजां हो ।
हरि सागर सूं नेहरो, नैणां बंध्या सनेह हो ।
मीरां रे सुख सागरां म्हारे सीस विराजां हो[५]।।

सूर की गोपियां आराध्य की प्रेमिका एवं प्रेयसी दोनों रूपों में चित्रित की गयी है, किन्तु मीरां सदैव पत्नी भाव से भक्ति करती हैं । मीरां के विरह-वर्णन में गाम्भीर्य है । अपने प्रियतम की प्राप्ति के लिए वे योग आदि किसी भी उपाय को ग्रहण करने को तत्पर हैं । उनके आराध्य निर्गुण और सगुण दोनों हैं । मीरां ने अपनी सगुण भक्ति के अन्तर्गत भगवान की विभिन्न लीलाओं एवं उनके अपार सौन्दर्य का वर्णन किया है । बाललीला आदि का संक्षिप्त वर्णन

१- वही, १७१
२- वही, ७०
३- वही, ११६
४- वही, १४३
५- वही१४४

करते हुए भगवान की प्रेम-लीला को ही अधिक महत्व दिया है । भगवान के शील एवं शक्ति के स्थान पर उनके सौन्दर्य को मीरां ने प्रधानता दी है । मीरां निर्गुण ब्रह्म के प्रति भी भक्ति करती हुई दिखलाई पड़ती हैं । यह निर्गुण ब्रह्म गगन मण्डल में निवास करने वाला है साथ ही उस तक पहुंचने का मार्ग बड़ा ऊंचा-नीचा और दुरूह है[1] । मीरां अपने गिरधर नागर को उदासीन योगी[2] के रूप में देखती हैं और उसकी प्राप्ति के लिए यौगिक वेषभूषा धारण कर, भस्म लगाती है, ध्यान लगाती है[3] । मीरां के आराध्य का स्वरूप कुछ भी हो, सर्वत्र उनके तीव्र विरह के दर्शन होते हैं । विरह की भावना उनके काव्य में आद्यन्त व्याप्त है । उस विरह में आत्मोत्सर्ग की भावना प्रधान है और उसकी चरम परिणति पूर्णानन्द में होती है ।

नन्ददास के काव्य में मधुर भक्ति को विशेष महत्व दिया गया है । अन्य किसी प्रकार के भक्ति-भाव में उनकी मनोवृत्ति अधिक एकाग्र नहीं हो सकी । माधुर्य भक्ति-भावना के अन्तर्गत नन्ददास ने प्रमुख रूप से राधाकृष्ण की क्रीड़ाएं तथा गोपी-कृष्ण का प्रेम अंकित किया है । नन्ददास ने अपने काव्य रासपंचाध्यायी और भंवर-गीत में अनेकश: प्रेम के अलौकिक स्वरूप की व्यंजना की है । प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों को कवि ने ग्रहण किया है । उनके काव्य में संयोग-शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ के अधिक चित्र मिलते हैं । रासपंचाध्यायी के प्रथम ,चतुर्थ एवं पंचम अध्यायों संयोग-शृंगार के अन्तर्गत मिलन की परमानन्द स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कहता है --

> दौरि लिपटि गईं ललित लाल, सुख कहत न आवै ।
> मीन उधरि ज्यौं पुलिन परे पै पानी पावै
> कोउ चटपट झपटि जाइ उर-वर सौं लपटी ।
> कोउ गर लपटी कहति, भले जू कान्हर कपटी[4] ।।

विभिन्न शृंगारिक क्रीड़ाओं का वर्णन करने के उपरान्त कवि रासलीला को अद्भुत रस कहकर उस पर आध्यात्मिकता का आरोप कर देता है --

---

१- मीरां की पदा० परिशिष्ट १५
२- वही, ५५
३- वही, १८८
४- रा० पं०,पृ० १११

अद्भुत-रस रह्यौ रास, गीति-धुन सुनी मोहे मुनी ।
सिला सलील ह्वै गई सलिल ह्वै गयौ सिला पुनि ।।
पवन थक्यौ ससि-थक्यौ, थक्यौ थ थक्यौ उडु मंडल सगरौ[1] ।।

नन्ददास ने वियोग पक्ष के भी सुन्दर चित्र उपस्थित किए हैं । उनका विरह कृष्ण-प्रेम की पुष्टि में सहायक हुआ है । गोपियों की दशा कृष्ण वियोग से कितनी दयनीय हो जाती है-- इस सम्बन्ध में कवि कहता है --

गोरे तन की जोति छुटि छवि छाइ रही घर ।
मानौं ठाढ़ी सुभग-कुंवरि कंचन अवनी पर ।
घन तें बिछुरी बीजुरी, जनु मानिनि तनु काहें ।
किधौं चंद सौं रुसि, चन्द्रिका रहि गई पाछें ।।[2]

नन्ददास ने ज्ञान-भक्ति के स्थान पर प्रेम भक्ति को ही महत्व दिया है । भंवरगीत में उद्धव गोपी संवाद द्वारा यह बात और भी पुष्ट की गई है । उद्धव गोपियों के प्रेमपूर्ण तर्कों से पराजित होकर स्वयं भी प्रेमभक्ति में मग्न हो जाते हैं --

प्रेम प्रसंसा करत सुद्ध जो भक्ति प्रकासी
दुविधा ज्ञान गिलानि मंदता सिगरी नासी ।
कहत मोहिं विसमय भयो हरि के ये निज पात्र,
हौं तो कृत कृत ह्वै गयो इनके दरसन मात्र[3] ।।

नन्ददास की शृंगारप्रियता को देखकर उन पर लौकिकता का आरोप भी किया जाता है किन्तु कृष्ण को परमात्मा तथा गोपियों को आत्मा रूप मानने से उनकी आध्यात्मिकता सुस्पष्ट है । यद्यपि शान्तरस की दृष्टि से यह रचना अधिक उत्कृष्ट नहीं है । कवि की मूल भावना भक्ति समन्वित होने पर भी पारलौकिक पक्ष की अपेक्षा लौकिक पक्ष ही अधिक निखरा है ।

भक्ति क्षेत्र में केवल प्रेम भावना को ही अत्यधिक महत्व देने वाले नन्ददास के अतिरिक्त कवि रसखानि हैं । कवि ने विषय वासना रहित निष्काम

१- रा०पं०,पृ० १२६
२- वही, पृ० १०२-१०३
३- भं०गी०,पृ० २८

प्रेम को महत्व दिया है । वे प्रेम मार्ग में आने वाले प्रत्येक कष्ट को सहन करने के लिए तत्पर हैं --

> काहू सो मारै कहा कहिये सहिये सोई जो रसखानि सहावै ।
> नेम कहा जब प्रेम कियौ तब नाचिये सोई जो नाच नचावै ।।
> चाहत हैं हम और कहा सखि क्यों हूं कहूं पिय देखन पावैं ।
> चेरिये सों जु गुपाल रच्यौ तौ चलौरी सबै मिलि चेरी कहावैं[१] ।

समस्त इन्द्रियों की सार्थकता भी कृष्णोन्मुख होने में ही है--

> बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सों सानो ।
> हाथ वही उन गात सरैं अरु पाइ वही जु वही अनुजानो ।
> जान वही उन आन के संग औ मान वही जु करै मनमानो ।
> त्यौं रसखानि वही रसखानि जुहै रसखानि सों हैं रसखानो[२] ।।

सूर की भांति इन्होंने भी प्रणय भावना की परिपुष्टता के लिए चीरहरण लीला, गोचारण लीला तथा रासलीला का वर्णन किया है किन्तु उनको सूर की भांति अतिव्यापक रूप नहीं प्रदान किया । तथापि उनके अधिकांश पद सरस एवं माधुर्य भाव के अभिव्यंजक हैं ।

(ख) विविध भावों में शान्त की स्थिति -- अंग अथवा अंगी

सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य में शान्तरस की पुनीत धारा प्रवाहित हो रही है । सख्य,दास्य,वात्सल्य, माधुर्य किसी भी भाव से भगवान को रिझा कर परमपद की प्राप्ति की जा सकती है-- इसका ज्वलंत उदाहरण कृष्ण काव्य है । मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से भक्ति की व्याख्या करने के उद्देश्य हेतु कवियों ने कृष्ण के अवतारी रूप को इतना अधिक महत्व दिया है । यदि कृष्ण के परमब्रह्मत्व को विस्मृत कर उनका अवलोकन किया जाय तो उनमें मर्यादाहीनता का दोष लगाया जा सकता है जो कि नितान्त अनुचित है । कवियों का लक्ष्य कृष्ण के प्राकृत तथा

१- रसखानि, पृ०६८
२- वही, पृ० ३६

अतिप्राकृत दोनों स्वरूपों को प्रधानता देते हुए उनके मानवीय रूप द्वारा अतिमानवीय रूप को पुष्ट करना है । कहीं-कहीं घटनाओं के बीच-बीच में कवियों ने कृष्ण के ब्रह्मत्व की सूचना भर दी है और कहीं-कहीं उसका स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन भी किया है । प्रत्येक घटना एवं प्रत्येक कृष्ण लीला कृष्ण के अलौकिक रूप की व्यंजक है । सूर के दास्य भक्ति के उदाहरणों में तो सर्वत्र स्पष्टरूप से कृष्ण के पूर्ण ब्रह्मत्व,अविनाशी,सनातन,अगम,अगोचर,निराकार आदि होने का उल्लेख मिलता है तथा सख्य,वात्सल्य आदि भावों में भी उन मानवीय सम्बन्धों की बड़ी सतर्कता से रक्षा करते हुए कृष्ण के उपर्युक्त गुणों को व्यक्त करता चलता है । कृष्ण की लीलाएं ब्रह्मादि को भी दुर्लभ आनन्द देने वाली हैं । कृष्ण के अन्य पराक्रम पूर्ण वीरकृत्य भी उनके लोकातीत रूप के प्रतिपादक हैं । पूतना तथा विभिन्न असुरों का संहार,यमलार्जुन की मुक्ति आदि घटनाओं का वर्णन इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए हुआ है । बालवत्सहरण लीला में ब्रह्मा द्वारा अपहृत बालवत्सों के स्थान पर कृष्ण नवीन सृष्टि कर देते हैं । पुन: भगवान की भक्तवत्सलता एवं भगवदनुग्रह को महत्व देते हुए कवियों ने कालिय दमन ,गोवर्द्धन लीला, द्रौपदी संकट निवारण तथा सुदामा दारिद्र्यभंजन आदि कथाओं द्वारा कृष्ण के ब्रह्मत्व की स्पष्ट व्यंजना की है । भगवान के आनन्दमय रूप को प्रधानता देकर कवियों ने अपनी भक्ति को और भी सरस रूप प्रदान किया । कृष्ण अपने बाल एवं किशोर दोनों रूपों में सुन्दरता के आकार चित्रित किए गए हैं । उनकी सुकुमारता एवं कोमलता सर्वत्र पदों में देखी जा सकती है । कृष्णकाव्य में लौकिकता तथा अलौकिकता की दो समानान्तर धाराएं बहती हुई दिखाई देती हैं । लौकिक घटनाएं परमब्रह्म की भक्ति को पुष्ट करने की दृष्टि से चित्रित हैं । अत: वे भी महत्वपूर्ण हैं , उनकी उपेक्षा उचित नहीं । वे अपरोक्षरूप से शान्त की व्यंजक एवं उसी का आस्वादन कराने वाली हैं ।

(ग) आलम्बन और आश्रय,उद्दीपन,अनुभाव, स्थायी भाव,संचारी भाव--शान्तरस की दृष्टि से --

आलम्बन विभाव-- कृष्ण काव्य के प्रमुख आलम्बन भगवान कृष्ण हैं । उसमें उनके तीन रूपों का चित्रण विशेषरूप से मिलता है । प्रथम आलम्बन तो परम ब्रह्म कृष्ण हैं जिनका वर्णन विशिष्टरूप से सूर के काव्य में विनय संबंधी पदों में तथा मीरां,

रसखानि एवं नन्ददास यत्र-तत्र स्फुट पदों के रूप में प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त विभिन्न लीलाओं तथा घटनाओं का वर्णन करते समय कवि कहीं-कहीं तो संकेत मात्र कर देते हैं और कहीं स्पष्ट कथन करते हैं । यह ब्रह्म घट-घट में निवास करने वाला सनातन, अविनाशी, पुरातन पुरुष, निराकार, अन्तर्यामी, त्रिभुवननायक आदि पुरुष देवाधिदेव, अव्यक्त एवं अनुपम आदि संज्ञाओं से विभूषित है । उसकी महिमा अपरम्पार है आगम निगम भी उसका पार नहीं पाते । यही ब्रह्म सृष्टि का कर्ता, पालक और संहारक भी है । समस्त चराचर इसी के अधीन है । केवल ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं । किन्तु इस ब्रह्मानन्द को जानकर भी उसका वर्णन करना असम्भव है । वह मन, बुद्धि और वाणी -- तीनों से ही अगम्य है । यही ब्रह्म अवतार धारण कर विविध लीलाएं किया करते हैं । मीरां के पदों में योगी कृष्ण भी आलम्बन रूप में आए हैं जिसकी प्राप्ति के लिए वे स्वयं योग लेती हैं और अलख जगाती हैं ।

निर्गुण भक्ति प्राप्ति की दुरूहता को लक्ष्यीभूत कर कवियों ने उनके सगुण रूप का वर्णन किया । ऐसे स्थलों पर सगुण ब्रह्म कृष्ण आलम्बन के रूप में आते हैं । इस रूप में कृष्ण भक्तों का उद्धार करने वाले तथा असुर संहारक के रूप में दिखलाए गए हैं । भक्तवत्सलता इनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है जिसका गुणगान सूर ने बहुत अधिक किया है । भगवान की कृपालुता का स्मरण कर अनुग्रह प्राप्ति के लिए भक्त अपने समस्त दैन्य एवं दोषों का प्रकाशन उनके समक्ष कर देता है । भगवद्कृपा पर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास ही उसके आत्मदैन्य प्रदर्शन का प्रमुख आधार है । भगवदनुग्रह पापी, पुण्यात्मा ऊंच और नीच का विवेक नहीं रखता । करुणावचन सुनकर द्रवित हो जाना उनकी विशेषता है ।

कृष्ण-कवियों के बाल वर्णन के अन्तर्गत शान्तरस के आलम्बन बालकृष्ण हैं । ये अप्रतिम सौन्दर्यशाली तथा मनोमुग्धकारी हैं । वे चंचल और मनोहर भी हैं । उनकी शिशुसुलभ चपलता, सुकुमारता एवं विनोदप्रियता बाल वर्णन सम्बन्धी पदों में स्पष्ट लक्षित होती है । अपने बालरूप में भी वे विभिन्न असुरों का संहार करते हैं तथा बाल लीला करते हुए अंगूठा चूस कर समस्त प्रकृति में आन्दोलन उपस्थित कर देते हैं ।

सखाओं के समक्ष वे प्रिय सुहृद तथा सहायक के रूप में आते हैं ।
मधुर रति के प्रसंग में किशोर कृष्ण आलम्बन है । अनुपमशोभाशालित्व

उनके इस रूप की सर्वप्रमुख बड़ी विशेषता है जिसके कारण ब्रजवनितायें उनकी ओर आकृष्ट होती हैं । दानलीला, रासलीला आदि में राधाकृष्ण की लीलाओं के प्रदर्शन द्वारा दोनों के अभेद होने का उल्लेख भी मिलता है । गोपियां भी कृष्ण के इस आनन्दमय रूप पर मुग्ध हैं । हिंडोललीला और वसन्तलीला में कृष्ण गोपियों को आनन्द क्रीड़ा में भाग लेने का अवसर देते हैं । ब्रह्म के सत् चित् और आनन्द -- इन तीन रूपों के आनन्द को ही प्रमुखता दी गई है । विभिन्न लीलायें ब्रह्म के आनन्दमय रूप को व्यक्त करने में सहायक हुई हैं । आनन्दमय रूप की रहस्यमयता का वर्णन करने के लिए कवियों ने प्रमुखरूप से रासलीला की योजना की है । कृष्ण का परमानन्द रूप ही उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न करने में सहायक है । गोपियां इस प्रेम के समक्ष लौकिक प्रेम की उपेक्षा कर देती हैं ।

राधा को कृष्ण का अंश बताने से वे भी यत्र तत्र आलम्बन रूप में आई हैं । कृष्ण के आनन्द रूप को अभिव्यक्त करने में मुख्य भाग राधा का ही है । जिस प्रकार कृष्ण आदि पुरुष हैं वैसे ही राधा आदि प्रकृति । दोनों में अभेद है, लीला सुख हेतु उनके पृथक-पृथक व्यक्तित्व हैं ।

सूरसागर के नवम स्कन्ध में रामचरित सम्बन्धी पदों के अन्तर्गत राम आलम्बन रूप है । परमात्मा के आनन्दमय रूप को अधिक महत्व देने के कारण कवि ने राम के पराक्रम एवं पौरुष आदि का चित्रण उतनी तन्मयता से नहीं किया जैसा कि तुलसी ने किया है । राम त्रिभुवनपति, करुणामय, भक्तवत्सल, परम मनोहर चित्रित किए गए हैं ।

आश्रय

कृष्ण काव्य के अन्तर्गत विनय सम्बन्धी पदों में कविगण स्वयं ही आश्रय हैं । कृष्ण की विविध मधु लीलाओं के प्रसंग में गोपियां आश्रय हैं । सख्य तथा वात्सल्य भक्ति प्रतिपादन में क्रमश: गोप बालक तथा नंद यशोदा, वसुदेव एवं देवकी और अन्य ब्रजवासी आश्रय रूप में आते हैं ।

उद्दीपन विभाव

कृष्ण काव्य में शान्तरस के उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत निम्न वर्णन आते हैं --

१- आलम्बनगत रूप सौन्दर्य, २- कृष्ण की विविध लीलाओं और चेष्टाओं के वर्णन

३- विविध संस्कारों एवं उत्सवों के वर्णन, ४- कृष्ण का अलौकिक चरित्र, ५-ब्रज-वृन्दावन आदि आध्यात्मिक क्षेत्रों के वर्णन, ७- कृष्ण की क्रीड़ाओं का अभिन्न अंग मुरली ।

ब्रह्म के आनन्दमय रूप को प्रमुखता देने के कारण सम्पूर्ण कृष्णकाव्य में उनकी सौन्दर्य सुषमा के चित्रण का प्राचुर्य है । वे बाल्यकाल में तो अनुपम शोभा युक्त हैं ही , किशोरावस्था में भी अप्रतिम सौन्दर्य समन्वित दिखलाई पड़ते हैं । उनकी इस रूपमाधुरी में बरबस तल्लीन होता हुआ साधक शान्तरस में अवगाहन करता है । मीरां कृष्ण के इसी रूप पर मुग्ध हैं --

निपट बंकट छ छवि अटके ।
म्हारे णेणा निपट बंकट छब अटके ।।
देख्यां रूप मदन मोहन री, पियत पियूख न मटके ।
बारिज भवां अलक मतवारी, णेण रूप रस अटके ।
टेढ्यां कर टेढ़े करि मुरली, टेढ्यां पाग लर लटके ।
मीरां प्रभु रे रूप लुभाणा, गिरधर नागर नटके ।।[१]

कृष्ण की अनुपम शोभा भक्तों की आसक्ति का प्रमुख आधार होने के साथ ही उनके अतिप्राकृत रूप को व्यक्त करने में सहायक भी है । कृष्ण की अद्वितीय सुन्दरता का वर्णन करते हुए सूर कहते हैं --

सोभा सिन्धु न अन्त रही री ।
नंद भवन भरि पुरि उमंगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री[२] ।।

इसी अनुपम शोभा को निर्निमेष देखते के लिए कवि कहता है -- मन आतुरता से कृष्ण छवि का पान करते हुएभी तृप्त नहीं होता ।

सोभा कहत कही नहिं आवै ।
अंचवत अति आतुर लोचन पुट मन अतृप्ति कौं पावै[३] ।।

कृष्ण सुन्दरता के अपार समुद्र हैं । बुद्धि और विवेक का बल लगाकर भी मन पार नहीं हो पाता केवल उसी में डूब कर रह जाता है[४] । कृष्ण की इसी

१- मीरां की पदावली,पृ० १०३
२- सूरसागर, ६४७
३- वही, १०६६
४- वही,१२४६,२४४०, २५०७ ।

सौन्दर्य सुषमा पर समस्त ब्रजनारियां मुग्ध हैं[1]। मीरां ने उनके लिए स्वजनों का परित्याग किया तथा गोपियों ने रूपासक्ति के कारण लोक लज्जा तथा पति को भी छोड़ दिया[2]। गोपांगनाओं के आत्मज्ञान एवं विरक्ति का कारण कृष्ण का सौन्दर्य है। अतः कृष्ण के 'विशाल लोचन' घुंघराली अलकों' आदि का चित्रण सभी कवियों ने किया है[3]।

बालकृष्ण के सौन्दर्य का अतिविस्तृत वर्णन केवल सूर ने किया है। पालने में झूलना, अंगूठा चूसना, हठ करना तथा अन्य बालसुलभ चपलताओं एवं क्रियाओं का वर्णन मुग्धकारी ढंग से किया है। बाल्यकाल के ये चित्र इतनी स्वाभाविकता एवं कुशलतापूर्वक चित्रित किए गए हैं कि कृष्ण के प्राकृत तथा अति-प्राकृत चरित्र में विरोध नहीं उत्पन्न होता। उनकी अनुपम शोभा उनके अतिप्राकृत रूप को व्यक्त करने में सहायक होती है।

कृष्ण की विविध लीलाएं भी सर्वत्र शान्त के उद्दीपक के रूप में वर्णित हैं। इन लीलाओं का वर्णन अन्य कवियों की अपेक्षा सूर ने विस्तारपूर्वक किया है। कृष्ण की लीलाओं में बाललीला, गोचारण लीला, दानलीला, पनघट लीला चीरहरण लीला एवं रासलीला मुख्य हैं। बाललीला के अन्तर्गत कवियों ने सामान्य शिशु की बालसुलभ चेष्टाओं को व्यक्त करते हुए कृष्ण के अतिप्राकृत स्वरूप का उनके द्वारा पोषण किया है। कृष्ण के प्राकृत एवं अतिप्राकृत रूप में विरोध नहीं उपस्थित होने पाया। सम्पूर्ण सूरसागर कृष्ण के बाल वर्णन के लौकिक तथा लोकोत्तर स्वरूप को व्यक्त करने में अद्वितीय है। रसखानि ने भी अलौकिक बाल सौन्दर्य का सजीव चित्र खींचा है --

> धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
> खेलत खात फिरैं अंगना पग पैंजनि बाजति पीरी कछोटी।
> वा छबि को रसखानि बिलोकत वारत काम कला निज कोटी।
> काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयौ माखन रोटी[4]।।

१- वही, ७०८-७११
२- मीरां की पदा० २८, सूर सागर, ७५३
३- सूरसागर ७०८-७११
४- रसखानि, पृ० ४१

आगे चलकर गोचारण प्रसंग में --

जा दिन तें वह नन्द को छोहरा या बन धेनु चराइ गयौ है ।
मोहिनी ताननि गोधन गावत बेनु बजाइ रिझाइ गयौ है ।
वा दिन सों कछु टोना सो कै रसखानि हिये में समाइ गयौ है ।
कोऊ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज बीर बिकाइ गयौ है ।[1]

प्रथम दो पंक्तियों में कृष्ण का गाय चराने वाले ग्वाल के रूप में चित्रण करके जहां कवि उनके मानव स्वरूप का चित्रण करता है वहीं अन्तिम दो पंक्तियों में प्रेम की व्यापकता द्वारा कृष्ण के लोकोत्तर स्वरूप का भी संकेत मिलता है । सूर काव्य में इस प्रकार के प्रसंगों की बहुलता है । दान लीला का उद्देश्य भी माधुर्य भाव की व्यंजना करते हुए राधा और कृष्ण की सुरति द्वारा उनकी पारस्परिक अभिन्नता प्रतिपादित करने का है ।

माधुर्य भाव का विकास पनघट लीला में तथा चरम उत्कर्ष रासलीला में प्राप्त होता है । गोपी कृष्ण का मिलन जीवात्मा और परमात्मा का मिलन है । इसी आध्यात्मिक प्रेम के कारण गोपियां समस्त लौकिक बन्धन एवं लज्जा का परित्याग कर देती है । संसार के कर्म बन्धन में फंसी गोपियां मुरली का नाद सुनकर परमार्थ की ओर लग जाती है । इसी पारमार्थिक प्रेम के कारण गोपियां कहती हैं --

तुम पावत हम घोष न जाही ।
कहा जाइ लैहैं हम ब्रज, यह दरसन त्रिभुवन नाहिं ।।
तुमहूं तै ब्रज हितु न कोऊ, कोटि करौ नहिं मानैं ।
काके पिता, मातु है काको, काहूं हम नहिं मानैं ।।
काके पति, सुत-मोह कौन को, घर हो कहा पठावत ।
कैसो धर्म पाप है कैसो, आस निरास करावत ।।
हम जानैं केवल तुमहीं कौं, और वृथा संसार ।
सूर स्याम निठुराई तजियै, तजिय बचन विकार ।।[2]

१- रसखानि, पृ०४२
२- सूरसागर, १६३६

रास लीला का चरम रूप उस समय देखने को मिलता है जब सोलह सहस्र गोपियों को अलग-अलग कृष्ण अपने ही साथ क्रीड़ा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। राधा कृष्ण के विवाद के उपरान्त पुन: रास आरम्भ होता है। कृष्ण को अपने वश में जानकर राधा को कुछ गर्व हो जाता है। गर्व के कारण कुछ ढीठ होकर वे कृष्ण से उनके कंधों पर नृत्यजन्य थकान को दूर करने के लिए कहने लगीं। कृष्ण राधा का अभिमान नष्ट करने के हेतु अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। राधा तथा अन्य सभी गोपियाँ कृष्ण के विरह में व्याकुल हो जाती हैं। उनके अपार विरह को देखकर कृष्ण पुन: प्रकट होते हैं। इस लीला की घटना द्वारा कवि यह बताना चाहता है कि अभिमानी साधक का भक्ति के क्षेत्र में कोई महत्व नहीं। कृष्ण भक्ति के गर्व का नाश करते हैं, साथ ही भक्तों के दु:ख को देखकर वे उनपर अनुग्रह भी शीघ्र करते हैं। भक्त एवं भगवान के बीच बाधक तत्व ~~सुंमन्र~~ अहंकार है। अत: साधक जब पाश्चाताप द्वारा अपने अहंत्व को त्याग देता है तो उसे पुन: भगवद्-कृपा प्राप्त होती है। कृष्ण, राधा - गोपी विरह को देखकर पुन: प्रकट होते हैं और रासलीला करने लगते हैं। गोपियों के गर्व नाश के लिए कृष्ण को राधा के साथ अन्तर्ध्यान होते हुए भी दिखाया गया है।

इसी प्रकार सूर द्वारा वर्णित बालवत्स हरण लीला में ब्रह्मा परीक्षार्थ गोप बालकों और बछड़ों को चुरा लेते हैं किन्तु कृष्ण उनकी नवीन सृष्टि करते हैं। पूतना-वध, कालियदमन आदि कथानक सर्वत्र उद्दीपन का कार्य करते हैं। कृष्ण की सहज बालसुलभ चपलता उनकी अलौकिकता से अन्य पात्रों के अभिभूत नहीं होने देती। चीरहरण लीला कृष्ण के प्रेम में लज्जा का परित्याग तथा पूर्णात्म समर्पण की भावना को महत्व देती ~~ह बौर~~ है।

कृष्ण सम्बन्धी विभिन्न संस्कारों के वर्णन भी उद्दीपन के अन्तर्गत आते हैं। नालछेदन, नामकरण, वर्षगांठ आदि विभिन्न संस्कारों के वर्णन परम ब्रह्म कृष्ण के लौकिक स्वरूप को अभिव्यक्त करने के कारण तथा अलौकिक स्वरूप की पुष्टि हेतु सर्वत्र उद्दीपन का काम करते हैं। नामकरण के अवसर पर ऋषिगण के संहार कार्यों के प्रति भविष्यवाणी भी करते हैं।[1] कृष्ण के जातकर्म,[2] नामकरण,

अन्नप्राशन[1], कर्णवेध[2], वर्षगांठ[3] तथा विवाह इन संस्कारों के विवरण मिलते हैं। वर्षा ऋतु में हिंडोल तथा वसन्त ऋतु में होलिकोत्सव का वर्णन विस्तारपूर्वक कवि ने किया है। होलिकोत्सव में गोपियाँ कृष्ण के साथ लोक लज्जा का परित्याग कर क्रीड़ा करती हैं जो कि भक्त और भगवान के बीच आवश्यक निरावरणता का द्योतक है।

कृष्ण के अलौकिक चरित्र का वर्णन सूरसागर में विस्तारपूर्वक उपलब्ध होता है। उनका प्रतिप्राकृत रूप उनके प्राकृत रूप से कहीं भी अभिभूत नहीं होता। कृष्ण के ये अलौकिक चरित्र बाललीला तथा किशोर लीला में सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। गोपियाँ कृष्ण की माखनचोरी से खीझ कर यशोदा को उपालम्भ देती हैं। वे यशोदा के पास चोरी करते हुए कृष्ण को पकड़ कर ले जाती हैं किन्तु यशोदा उन्हें उल्टे[4] गालियाँ देती हैं, क्योंकि कृष्ण तो यशोदा के सामने बड़ी देर से खेल रहे हैं। इसी प्रकार कोई गोपी कृष्ण को पकड़ कर लाती है पर यशोदा[5] के सामने आने पर वह देखती है कि किसी गोप कन्या को कृष्ण के धोखे ले आई। कालियदह का जल पीने से मृत हुए ग्वाल को कृष्ण जीवनदान देते हैं। ग्वाल यशोदा से जब इस कृत्य[6] को बताते हैं तो वे कृष्ण को स्नेहवश गौवें चराने जाने के लिए मना[7] करती हैं। पर कृष्ण अपनी सरल बातों से अपने अलौकिक कृत्य को छिपा देते हैं। पूतना वध, कालियदमन आदि कृत्य कृष्ण के अलौकिक रूप को प्रकट करते हुए उद्दीपन का कार्य करते हैं। नाथ नाथ कर भगवान बाहर निकल आए और उसके प्रत्येक फन पर नृत्य करने लगे। दो याम तक जल के भीतर रहने पर भी उनके देह का चन्दन नहीं मिटा। इत्यादि। बकासुर, अघासुर वध कृष्ण के अलौकिक चरित्र के अन्तर्गत हैं। जन्म के समय कृष्ण अपनी रक्षा के लिए नन्द के यहाँ ले जाने का उपाय स्वयं बताते हैं तथा मथुरा से गोकुल तक की समस्त बाधाओं का नाश करते हैं[8,9]

१- वही, ७०६-७०७
२- वही, ७९९
३- वही, ७९२-७९४
४- वही, ९३२
५- वही, ९३३
६- सूरसागर, ११२६, ११२७
७- वही ११२८
८- वही ९२६-९२९
९- वही ११११ मीरां की पदा० १६०, रा०पं०,पृ०६६-७० ।

वृन्दावन तथा ब्रज क्षेत्र ब्रह्म कृष्ण की लीला भूमि होने से आध्यात्मिकता से अभिभूत होकर उद्दीपन का कार्य करते हैं[१]।

कृष्ण से अनिवार्य रूपेण सम्बद्ध मुरली का वर्णन उद्दीपन के रूप में सम्पूर्ण कृष्ण काव्य में मिलता है। मुरली गोपीजन एवं ग्वालों की प्रीति को दृढ़ करने वाली है[२]। मुरली का प्रभाव अद्भुत है क्योंकि इसकी ध्वनि सुनकर सिद्धों की समाधि भंग हो जाती है। वंशी ध्वनि जड़ चेतन, अर्द्ध चेतन सब को आनन्दित करती है[३]। कवियों ने सर्वत्र मुरली के लोकोत्तर व्यापक प्रभाव को चित्रित किया है[४]। मुरली की मधुर ध्वनि से ही वेद प्रकट हुए हैं[५]। स्वयं श्रीकृष्ण इस मुरली के वश में हैं। कृष्ण का उसने सर्वस्व अपहरण कर लिया है[६]। कृष्ण की प्रेमपात्री बनने का कारण यह है कि मुरली ने पहले बहुत तप किया था। तीर्थों के दर्शन किए। वर्षा, शीत, आतप आदि सहा। अपनी तपस्या से उसने श्याम को भी रिझा लिया[७]। मुरली स्वयं अपनी तपस्या बताती है --

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु।
पूछहु जाइ स्याम सुन्दर कों, जिहि दुख जुरयौ सनेहु।
जन्मत ही ते भई बिरत चित, तज्यौ गाउं, गुन गेहु।
एकहिं पाउं रही हौं ठाढ़ी हिम ग्रीषम ऋतु नेहु।।
तज्यौ मूल साखा सुपत्र सब, सोच सुखायो देहु।
अगिनि सुलाकत मुरयौ न तन मन, विकट बतावत बेहु।।
अबतीं कहा बांसुरी कहि कहि करि करि तामस तेहु।
सूर स्याम इहिं भांति रिझै, किनि, तुमउं अधररस लेहु।।[८]

१- वही, ११०, मीरां की पदा० १६०, रा०पं०, पृ०६६-७०
२- सूरसागर १२४०
३- वही १२२८
४- वही, १२६६-१२६८
५- व रा०पं० ५६-६०
६- सूरसागर १२७३
७- वही १२५८

इतनी तपस्या एवं संयम के उपरान्त परमात्मा कृष्ण के करकमलों में स्थान पाकर मुरली गर्व के कारण किसी को कुछ नहीं समझती । वह भगवान के कर-कमल रूपी चौकी पर विराजमान रहती है और उनके घुंघराले बाल उस पर चंवर की भांति शोभित हैं । उसका अभिषेक होने जा रहा है । अतः यमुना को भी रोक लिया गया है । स्वर्ग से देवतागण के विमान पृथ्वी पर उतर गए हैं । चराचर जगत में इसी का साम्राज्य है । प्रकृति के अधिष्ठाता श्रीपति भी अपनी श्री का परित्याग कर उसमें अनुरक्त हैं।[1] ब्रह्म की अनिर्वचनीयता की भांति मुरली से प्राप्त आनन्द भी अनिर्वचनीय है।[2] श्याम की मुरली की धुन सुनकर समस्त ब्रजनारियां निर्निमेष नेत्रों से चित्रवत् खड़ी रह जाती हैं तथा सुख दुःख का अतिक्रमण कर परमानन्द की प्राप्ति होती हैं --

जल की न घट भरैं मग की न पग धरैं
घर की न कछु करैं बैठी भरैं सांसु री ।
एकै सुनि लोट गईं एकै लोट पोट गईं
एकनि के दृगनि निकसि आये आंसु री[3] ।

अनुभाव

संसार के प्रति अरुचि --

यो संसार कुबधि रो भांडो साध संगत राग भावां ।
साधां जणरी निंदा ठाणां, करमरा कुगत कुमावां ।
राम नाम बिनि मकुति न पावां फिर चोरासी जावां ।
साध संगत मां भुळ रण जावां मुरख जणम गमावां ।
मीरा रे प्रभु थारी सरणां, जीव परमपद पावां[4] ।।

१- वही, १२७९
२- वही १२६६
३- रसखानि, ५४ तथा ५५,६५,६७ आदि
सूर सागर, १२३६, १२६४
रा०प०, ६०,६८ आदि
मीरा की पदा०, १६६, १६७
४- बक्के मीरा की पदा० १५६

तत्व कथन

बन्दे बन्दगी मत भूल ।
चार दिना की कर ले खुबी ज्यूं दाड़िमदा फूल ।
आया था ए लोभ के कारण, मुल गमाया मूल ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, रहना है वे हजूर ।।[1]

उपदेशात्मक पद सर्वत्र उद्दीपन का कार्य करते हैं --

मिलियै सब सौं दुरभाव बिना, रहियै सत संग उजागर मैं ।
रसखानि ... विदहिं यौं भजियै जिमि नागरि को चित गागर मैं ।।[2]
इत्यादि ।

स्थायी भाव

अन्य भक्ति रचनाओं की भांति कृष्ण काव्य का स्थायी भाव `निर्वेद` है । वैसे तो कृष्ण काव्य में माधुर्य भाव का प्राबल्य है, साथ में वात्सल्य, सख्य एवं दास्य भावों की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है किन्तु इन सभी भावों के आस्वादन द्वारा पाठक इसी निर्णय पर पहुंचता है कि परमात्मा ही सार तत्व है, अन्य सभी कुछ मिथ्या है । कृष्ण के ब्रह्मत्व, संसार के असारता के प्रतिपादनार्थ तथा अविरल भक्ति प्राप्ति के लिए कृष्ण काव्य में एक नवीन प्रयोग मिलता है । वह है लौकिकता एवं अलौकिकता की समानान्तर धाराओं का समप्रवाह । एक ओर कृष्ण की मनोहर बालक्रीड़ाओं तथा किशोरावस्था की मधुर लीलाओं के वर्णन द्वारा जहां कवि सामान्य जन के लिए भी भक्ति को आकर्षक बना देता है वहां बाल लीला के अन्तर्गत विभिन्न संहारों तथा अलौकिक कृत्यों द्वारा तथा मधुर लीला का भी रहस्यात्मक ढंग से वर्णन करके कृष्ण के अति लौकिक स्वरूप को भी स्पष्ट कर देता है । कृष्ण कवि भगवान के सुन्दर रूप के उपासक हैं । अतः उनका ध्यान भगवान की मधुर लीलाओं एवं उनकी रूप माधुरी पर ही अधिक है । आनन्दमय रूप की उपासना के कारण कृष्ण काव्य में शुद्ध निर्वेद भाव के व्यंजक पद अन्य भावों की अपेक्षा अधिक नहीं हैं । केवल विनय सम्बन्धी पदों में तथा उन स्थलों पर जहां

१- वही, १६८
२- रसखानि, पृ०३७

माया,जीव,ब्रह्म आदि का विवेचन हुआ है -- निर्वेद स्थायी पुष्टता को प्राप्त है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं --

थोरे जीवन भयौ तन भारौ ।
कियौ न संत-समागम कबहूं लियौ न नाम तुम्हारौ ।
अति उन्मत्त मोह - माया-बस नहिं कछु बात बिचारौ ।
करत उपाव न पूछत काहूं , गनत न खाटौ खारो ।
इन्द्री-स्वाद-बिबस निसि बासर आप अपुनपौ हारौ ।
जल औंडे मैं चहुं दिसि पैर्‍यौ पाउं कुल्हारौ मारौ ।
बांधौ मोह पसारि त्रिविध गुन, नहिं कहुं बाव उतारौ ।
देख्यौ सूर बिचारि सीस परौ, अब तुम सरन पुकारौ ।।[1]

हरि म्हारा जीवण प्राण अधार ।।
और आसिरो णा म्हारा के बिणा, तीनूं लोक मंझार ।
के बिण म्हाणो जग णा सुहावां निरख्यां सब संसार ।
मीरा रे प्रभु दासी रावली, लाज्यो णेक णिहार ।।[2]।।

\+ \+ \+

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं ।
ए रसखानि जबै इन नैनन तें ब्रज के बन-बाग निहारौं ।
कोटिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं[3] ।।

\+ \+ \+

श्रवन,कीरतन,ध्यान सार, सुमिरन कीहै पुनि ।
ग्यान-सार, हरि-ध्यान सार, श्रुति - सार गुही गुनि[4] ।।

दार्शनिक तथा भक्ति-विवेचन सम्बन्धी स्थलों के अतिरिक्त अन्य प्रसंगों में भी जहां कृष्ण की विविध लीलाओं एवं अलौकिक कृत्य का वर्णन हुआ है वहां रति,वात्सल्य,सख्य आदि भावों की स्पष्ट प्रतीति होते हुए भी वे निर्वेद भाव को

१- सूरसागर, ३५२
२- मीरा की पदा०, १०
३- रसखानि, पृ०३५
४- रा०पं० ,पृ०१३५

व्यक्त कर शान्ति का आस्वादन करा रहे हैं । वात्सल्य तथा रास लीला द्वारा भक्त एवं भगवान के बीच अनिवार्य निवारणता का प्रतिपादन करते हुए भक्तवत्सल भगवान की अनुकम्पा प्राप्ति के लिए अहंकार का विनाश आवश्यक बताया गया है । इसी प्रकार कृष्ण की बाल लीला एक ओर जहां उनके अलौकिक कृत्यों का चित्र उपस्थित करती है वहां दूसरी ओर मानव मात्र के आकर्षण का केन्द्र भी है । ब्रह्म कृष्ण से सम्बद्ध होने के कारण कवियों ने सर्वत्र इन घटनाओं की अनिर्वचनीयता तथा अलौकिकता का उल्लेख किया है । कृष्ण की लौकिक लीलाओं का उद्देश्य उनकी अलौकिकता एवं कृष्ण के प्रति प्राकृत स्वरूप प्रतिपादन का है । अत: वे शान्तरस की व्यंजक ही कही जायेंगी और रत्यादि भावों से परिपुष्ट होता हुआ निर्वेद भाव व्यक्त हो रहा है ।

संचारी--

निर्वेद --

चकई री चलि चरन सरोवर, जहां न प्रेम वियोग ।
जंह भ्रम-निसा होति नहिं कबहूं, सोइ सायर सुख जोग ।
जहां सनक-सिव हंस,मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर,गुंजत निगम सुवास ।
जिहिं सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहां कहा रहि कीजै ।
लछिमी सहित होति नित क्रीडा, सोभित सूरजदास ।[1]
अब न सुहात विषयरस छीलर, वा समुद्र की आस ।

विस्मय--

खेलौ जाइ स्याम संग राधा ।
यह सुनि कुंवरि हरष मन कीन्हौं, मिटि गई अन्तर बाधा ।
जननी निरखि चकित रहि ठाढ़ी , दंपति रूप अगाधा ।
देखति भाव दुहुंनि को सोई, जो चित करि अवराधा ।
संग खेलत दोउ झगरन लागे, सोभा बढ़ी अबाधा ।
मनहुं तड़ित घन, इंदु तरनि, ह्वै बाल करत रस साधा ।।
निरखत विधि भ्रमि भूलि पर्यौ तब मन-मन करत समाधा ।।[2]
सूरदास प्रभु और रच्यौ विधि, सोच भयौ तन दाधा ।।

१- सूरसागर, ३३७ , । २- वही, १३२३

जड़ता--

ठगी गईं ब्रज-बाल, लाल गिरिधर पिय बन सौं ।
निधन महा धन पाइ, बहुरि फिरी ज्याँ हौं ज्यों ।।[1]

उन्माद --

ह्वै गईं विरह विकल सब पूंछति द्रुम बेली बन ।
को जड़ , को चेतना, न जानति कछु विरही जन ।।[2]

चिन्ता --

जबै कह्यौ पिय जाउ, अधिक हिय चिन्ता बाढ़ी ।
पुतरिनि की सी भांति रहि गईं इक-टक ठाढ़ी ।।[3]

अभिलाषा--

देखनि कों सखी नैन भए न सबै तन आवत गाइन पाहैं ।
कान भए प्रति रोम नहीं सुनिबे कों अमानिधि बोल निबाहैं ।
ए सजनी न सम्हारि परैं वह बांकी बिलोकनि कोर कटाहैं ।
भूमिमयो न हियो मेरी आली जहां हरि खेलत फाग्नि काहैं ।।[4]

इत्यादि ।

(घ) <u>निष्कर्ष-- मूल्यांकन</u>

कृष्ण में शान्त रस के विविध रूपों का प्रयोग दृष्टिगत होता है । इन कवियों ने शान्त को अभिव्यक्त करने वाली विभिन्न भाव-भूमियों का विस्तृत रूप से विश्लेषण किया । भक्ति के अन्तर्गत माधुर्य भाव की सर्वाधिक व्यंजना की गई है ।

१- रा० पं० द्वितीय अध्याय ४
२- वही ,, ५
३- वही प्रथम अध्याय ६३
४- रसखानि, पृ० ६१

अत: कहीं-कहीं लौकिक पक्ष की प्रधानता हो गई है किन्तु कवियों का लक्ष्य सर्वत्र अलौकिकता प्रतिपादन का रहता है । कृष्ण के लौकिक एवं अलौकिक दोनों स्वरूपों को प्रमुखता देकर भक्ति को सामान्य मानवता के लिए सुग्राह्य बनाने की चेष्टा कृष्ण काव्य में की गई है । अत: उसमें सर्वत्र कृष्ण के प्राकृत तथा अतिप्राकृत रूप की दो समानान्तर धाराएं दिखलाई पड़ती हैं । कृष्ण का लौकिक स्वरूप उनके लोकोत्तर स्वरूप से अभिभूत नहीं हुआ है और न ही लौकिक स्वरूप का चित्रण अलौकिकता प्रतिपादन में बाधक सिद्ध हुआ है । नन्ददास में भी यही माधुर्य भक्ति अपेक्षाकृत पुष्ट हुई है । मीरां, रसखानि आदि के पद भक्ति के सुन्दर उद्गार हैं और केवल शान्तरस के व्यंजक हैं ।

अध्याय -- १०

-०-

उपसंहार

अध्याय --१०

-0-

उपसंहार

(क) काव्यशास्त्र में शान्तरस

शास्त्रीय ग्रन्थों में शान्तरस की स्थिति का विवेचन प्रथम अध्याय में कियाजा चुका है । आदि ग्रन्थ नाट्यशास्त्र शान्तरस के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है । उसमें पक्ष एवं विपक्ष में किए गए किसी भी प्रकार के विवेचन का अभाव है । सम्भवत: नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने अपने सिद्धान्त को मान्य बनाने के हेतु उसमें शान्त की सत्ता दिखलाई, जिसकी विशद व्याख्या आगे चलकर अभिनव ने की । अभिनव की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ने शान्त रस की स्थापना को और भी जटिल एवं विवादास्पद बना दिया कि नाट्यशास्त्र में शान्त रस माना गया या नहीं । यह तो नाट्यशास्त्र के अध्ययन से सुस्पष्ट हुआ है कि उसमें वर्णित शान्तरस सम्बन्धी प्रकरण प्रक्षिप्त हैं । तथापि शान्त के सम्बन्ध में नि:संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भरत द्वारा अमान्य होने पर भी उसकी सत्ता भरत से भी अति प्राचीन है । इस सम्बन्ध में भरत के पूर्व भी वासुकि और कोहल नामक दो अन्य आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं, जिन्हें शान्त रस मान्य था । अग्निपुराण एवं विष्णु धर्मोत्तर पुराण भी शान्त का स्पष्ट उल्लेख करते हैं । भरत के परवर्ती आचार्यों में उद्भट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (केवल शिंग भूपाल को छोड़कर) सभी ने शान्त की सत्ता स्वीकार की है । शान्तरस को काव्य एवं नाटक दोनों में ही मानने वाला प्रथम ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तर पुराण है । धनंजय दशरूप में शान्तरस का चित्रण असम्भव मानते हुए काव्य में उसकी लक्षणया संभव बतलाते हैं । नाटक में शान्त का निषेध करने वाले आचार्य मम्मट शारदातनय, भानुदत्त, विद्याधर तथा चन्द्रिकाकार हैं । अन्य सभी आचार्यों को शान्त की सत्ता स्वीकृत है । शारदातनय शान्त को सर्वश्रेष्ठ रस मानते हुए भी उसके अनुभावों

को असम्भव बतलाकर उसे विकलांग करते हैं । उनका विवेचन अस्पष्ट है । विद्याधर भी धनंजय की भाँति विकास, विस्तार, क्षोभ, और विक्षेप -- इन चार चित्तवृत्तियों को स्वीकार करते हुए भरत की मान्यता के आधार पर शान्तरस की सत्ता मानी । आचार्य विश्वनाथ ने केवल 'युक्त-वियुक्त' दशा में अवस्थित शम को आस्वाद्य माना । भानुदत्त शान्त की विरोधिता से मायारस की सत्ता सिद्ध करते हुए गौण रूप से शान्त का विवेचन करते हैं । रूप गोस्वामी शान्त को भक्ति के पांच भेदों में से एक मानते हैं । इस प्रकार भरत से पूर्व से लेकर पण्डितराज तक सभी आचार्य शान्त की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं । तथा भरत के पश्चात् एवं उद्भट के पूर्व लगभग ८०० ई० में शान्त को रस रूप में प्रतिष्ठित कर लिया गया था शान्तरस के विरोधी आचार्य नाटक में शान्त की सत्ता का निस्कारात्मक निराकरण करते हुए राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति को असम्भव बतलाते हैं । अन्य आक्षेप भरत द्वारा अमान्य होने, शान्त की चरमावस्था के अवर्णनीय होने तथा अन्य रसों में उसके अन्तर्भावित होने को लेकर किए गए हैं । किन्तु ये सभी तर्क असंगत सिद्ध होते हैं । सहृदय पाठक की भाँति सहृदय दर्शक भी शान्त का आस्वादक हो सकता है । रसाभिव्यक्ति सामाजिक में होती है, नट में इसकी सम्भावना मान कर शान्त का निषेध उचित नहीं । निर्विकारता एवं क्रियाओं का लय शान्त की पर्यन्त भूमि में होगा । नाटक में शान्त रस के चित्रण का तात्पर्य ऐसी परिस्थि-तियों तथा तत्वों का प्रदर्शन है जो हमें शान्त की चरमावस्था तक पहुंचाए । हिन्दी के प्रायः सभी आचार्य शान्तरस के समर्थक हैं । भक्तिभाव को काव्य में प्राधान्य मिलते ही एक नयी काव्यदृष्टि का आविर्भाव होता है और रूपगोस्वामी से लेकर मधुसूदन सरस्वती तक भक्ति रस के आचार्य जिस भक्ति रस की प्रतिष्ठापना करते हैं, वह रस के पारम्परिक लौकिक-अलौकिक स्वरूप से सर्वथा पृथक है वह विषय संवलित नहीं है, वह इसीलिए निर्वैयक्तीकरण की अपेक्षा निर्विषयीकरण पर या विषयमात्र के भगवद् रूपान्तरण पर आश्रित है । इस दृष्टि से अब तक के उपेक्षित शान्त रस को विशेष महत्व मिल जाता है, ।क्योंकि शान्त भक्ति की पीठिका है । सत्व गुण की स्थिति के उद्रेक , विषय-वैराग्य और सर्वभूतमैत्री के उदित होने पर ही चित्त की भगवदाकारता सम्भव है । हिन्दी के भक्तकवियों की काव्यदृष्टि भी इसी नयी रसदृष्टि से सम्पृक्त है ।

(ख) प्राचीन साहित्य में शान्तरस

शान्तरस सम्बन्धी साहित्य का निरन्तर सृजन, शान्तरस सामग्री की सुलभता एवं शम स्थायी की महत्वपूर्ण चित्तवृत्ति की विद्यमानता शान्त की रसात्मकता की सिद्धि में सहायक है। हमारा प्राचीन शास्त्र पूर्णरूपेण धार्मिक तथा शान्त रस का अभिव्यंजक है। वेद-उपनिषद् और पुराण -- सभी का लक्ष्य जीवन की गहराई एवं इन्द्रियातीत सत्य की खोज तथा परमशान्ति की स्थिति पाना ही है। इन ग्रन्थों में वर्णित जीवनदृष्टि चेतन-अचेतन विश्व को संयोजित करने वाली है। एक सत्ता के प्रवाह में एकाग्न करने वाली है तथा मानव को दु:ख-सुख के प्रपंच से मुक्त करके लोकहित की ओर उन्मुख करने वाली है। वेदों में प्रत्येक देवता को किसी न किसी प्राकृतिक दृश्य का अधिष्ठाता माना गया है। आगे चलकर समस्त प्रकृति में एक ही नियन्ता को देखते हुए बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद की स्थापना हुई। वेदों में ऋषि महर्षियों द्वारा अनुभूत आध्यात्मिक तत्वों के संकलन द्वारा शान्त की अभिव्यक्ति की गई। `ब्राह्मण` ने यज्ञों के वर्णन द्वारा तथा `आरण्यक` ने तद्गत दार्शनिक सिद्धान्तों के निरूपण द्वारा शान्त को आस्वाद्य बनाया। उपनिषदों का तो ध्येय ही ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन एवं आत्मा की खोज है।

आगे चलकर जैन तथा बौद्ध साहित्य में इसी धार्मिक भावना का विकास काव्यात्मक ढंग से हुआ और शान्तरस के चित्रण का एक नवीन प्रयोग दिखलाई पड़ने लगा। काव्य तथा नाटक में शान्तरस को इन्हीं आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया। इनके पूर्व उपनिषद् आदि में काव्यात्मकता अपेक्षाकृत कम है। इन ग्रन्थों में केवल सिद्धान्तनिरूपण द्वारा शान्त का प्रयोग लक्षित होता है। यद्यपि जैन तथा बौद्ध साहित्य सन्यासपरक था, पर इनके काव्य में शान्तरस के चित्रण की प्रमुखता देते हुए भी लौकिक जीवन की सर्वथा उपेक्षा नहीं की गयी थी। जैन साहित्यकारों ने एक ओर लौकिक जीवन को उच्च स्तर पर ले जाने वाले सदाचार के लौकिक गुणों का चित्रण किया दूसरी ओर अपनी निवृत्ति परायणता के कारण मुनि के उज्ज्वल आदर्श का भी सम्यक् चित्रण किया। चरित काव्यों के अन्तर्गत जैन कवियों ने महापुरुषों के चरित्र का वर्णन किया। बौद्ध साहित्य में धर्म एवं विनय सम्बन्धी ज्ञान का जातकों के रूप में निबद्ध है। उसमें भगवान बुद्ध के जीवन चरित्र द्वारा विभिन्न नैतिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का प्रणयन किया गया

बौद्ध कवि अश्वघोष ने अपने महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' में नन्द के धर्म परिवर्तन की कथा 'बुद्धचरित' में बुद्ध के जीवन को प्रस्तुत कर शान्तरस का काव्य में प्रयोग किया। यद्यपि अश्वघोष के पूर्व शान्तरस सम्बन्धी ग्रन्थ महाभारत प्राप्त होता है किन्तु काव्य एवं नाटक दोनों में ही शान्तरस का सर्वप्रथम प्रयोग अश्वघोष ने किया । अतः साहित्यिक जगत में शान्तरस की उद्भावना का श्रेय जैन एवं बौद्ध आचार्यों को ही देना चाहिए । वेद उपनिषद् आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों तथा जैन बौद्ध आचार्यों की धर्मप्रियता ने संस्कृत साहित्य के लिए एक प्रबल पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी । समस्त संस्कृत साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर हम देखेंगे कि कुछ संस्कृत नाटक एवं काव्य सरल ढंग से दार्शनिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों का निरूपण करते हैं और कुछ विभिन्न प्रकार से जीवन के महनीय तत्वों की अभिव्यंजना द्वारा शान्ति का आस्वादन कराते हैं । संस्कृत साहित्यकारों की विषयवस्तु मुख्यतः रामायण,महाभारत तथा श्रीमद्भागवत से संगृहीत है । इन तीनों ही ग्रन्थों में आदर्श जीवन एवं धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की गई है । कहना अत्युक्ति न होगी कि समस्त संस्कृत साहित्य किसी न किसी रूप में अलौकिकता से सम्बद्ध है । संस्कृत के काव्यों एवं नाटकों में कुछ में शान्तरस अंगीरस के रूप में और कुछ में अंगरूप में आबद्ध है । संस्कृत का सूक्तकाव्य प्रमुख रूप से शान्त से सम्बद्ध है ।

(ग) हिन्दी साहित्य में शान्त रस

धर्मप्रियता की इस भावना ने दृढ़ संस्कार के रूप में साहित्यकारों में प्रतिष्ठा प्राप्त की । फलतः हिन्दी साहित्य में भी तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितिवश साहित्य में विविध रसों की योजना के साथ ही धर्म भावना का लोप न हो सका । आदिकालीन हिन्दी साहित्य में वीर भावना की प्रधानता होते हुए भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ने धार्मिक साहित्य सृजन की प्रेरणा दी । हिन्दी के धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत जैन, सिद्ध एवं नाथ सम्प्रदाय की रचनाएं आती हैं । नाथ पंथियों ने ईश्वर के साक्षात्कारार्थ योग मार्ग की पद्धति बताई तथा गुरु का अत्यधिक महत्व प्रतिपादित किया । समस्त साहित्य में ईश्वर, जीव, माया सम्बन्धी विचार निबद्ध हैं । उसमें सांसारिकता के लिए कोई स्थान नहीं । अध्यात्मसाधना के विविध उपायों का वर्णन इन कवियों ने किया है । सिद्धों की यातनापूर्ण क्रियाओं एवं वाममार्ग

के आश्रय ने एक ओर अपनी धर्मप्रियता का परिचय दिया तथा दूसरी ओर धर्म की आड़ में विभिन्न दुराचारों को मान्यता मिली । सिद्धों ने योग एवं भोग दोनों को मुक्ति का प्राप्ति का साधन माना एवं तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि द्वारा आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति कराई । इन कवियों की रचनाओं में शान्तरस की अभिव्यंजना तो अवश्य हुई किन्तु उसमें हृदयतत्त्व की कमी होने से उतनी सरसता नहीं आ पाई । आगे चलकर भक्ति काव्य में शान्तरस का व्यापक प्रयोग मिलता है । धार्मिक,दार्शनिक एवं नैतिक सिद्धान्तों की सहृदयता पूर्वक की गई अभिव्यंजना शान्ति का सुन्दर चित्रण उपस्थित करती है । मध्यकालीन लौकिक चरित्र आध्यात्मिकता की पुष्टि करते हैं । यहां शान्तरस की केवल वैराग्यपूर्ण व्याख्या न करके उसे लोक सामान्य जीवन से सम्बद्ध चित्रित कियाऽ गया है । निवृत्ति मार्ग के ग्रहणार्थ व्यक्ति की आवश्यकता अपरिहार्य है । अत: संतों ने वैराग्य भावना को प्रमुखता देते हुए भी विभिन्न नैतिक सदाचरणों एवं खण्डन मण्डनात्मक प्रवृत्ति को स्वीकार किया है । जीव तथा ब्रह्म के सम्बन्ध को सामान्य जन को सरलतापूर्वक समझाने के लिए ब्रह्म के साथ पिता,पति आदि विविध संबंध स्थापित किए गए । संतों की खण्डनात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध सूफी कवियों ने लौकिक कथाओं के माध्यम से अलौकिकता की ओर संकेत किया । अप्रतिम सौन्दर्य-वान् परमात्मा को कृति परम सुन्दर होने के कारण अनुपेक्षणीय है उन्होंने वैराग्यमूलक भक्ति के स्थान पर प्रेम मार्ग ग्रहण किया । राम काव्य में राम के लौकिक एवं अतिलौकिक दोनों ही पक्षों का सांगोपांग निरूपण मिलता है । इसमें राम के लोकरक्षक रूप को महत्त्व देकर उनका आदर्शवादी चित्र प्रस्तुत किया गया है । तुलसी के मर्यादावादी दृष्टिकोण ने ब्रह्म रूप राम के आदर्श चित्र द्वारा जीवन की सर्वांगपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की । साथ ही सहृदयतापूर्वक भक्ति तत्व का विवेचन भी किया । सम्पूर्ण रामकाव्य में शान्त के अतिरिक्त अन्य किसी भी रस के लिए स्थान नहीं । जहां कहीं शृंगार आदि का यत्किंचित् प्रयोग है, वहां भी शान्त का ही प्राधान्य है । कृष्ण काव्य में कृष्ण का लोकरंजक रूप अधिक उभरा है किन्तु तुलसी ने अपने राम के परमब्रह्म रूप को ही प्रमुखता दी । तुलसी राम का चित्रण करते हुए सर्वत्र यह स्मरण दिलाते रहते हैं कि 'राम ब्रह्म हैं' । कृष्ण काव्य में इसका ठीक उल्टा हुआ । कृष्ण का लोक सामान्य रूप ही अधिक प्रकाश में लाया गया है । यद्यपि लीलाओं की अतिव्यापकता उनकी असाधारणता की

और सर्वत्र संकेत करती है ।

कृष्ण काव्य की लोकप्रियता ने एक अलौकिक शृंगार भावना को जन्म दिया । ये कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की पवित्र तथा उदात्त भावना को भूलकर राधाकृष्ण को सामान्य नायक तथा नायिका के रूप में ग्रहण कर उनके शृंगार चित्रण द्वारा अपनी विलासप्रियता का परिचय देने लगे । किन्तु यह प्रवृत्ति अधिक काल तक न टिक सकी । रीतिकालीन कवियों का अल्पतम काल में ह्रास द्वारा जनता की शान्तरस प्रियता का द्योतक है । रीतिकालीन प्रवृत्ति के ह्रास के फलस्वरूप साहित्य पुन: दूसरी दिशा में मुड़ा । राजनैतिक स्थिति के कारण प्रबल हुई राष्ट्रीयता की भावना के अतिरिक्त जीवन की उदात्त भावनाओं तथा भक्ति को पुन: महत्व दिया जाने लगा । वैराग्य तथा भक्ति भावना के चित्रण के लिए इन कवियों ने नवीन दृष्टिकोण अपनाया । इसमें मध्ययुगीन कवियों की भांति बाह्य जीवन तथा संसार के प्रति उदासीनता अथवा खण्डनात्मक प्रवृत्ति नहीं ~~अ~~ अपनाई । इन कवियों ने लोक जीवन की उपेक्षा नहीं की । प्रकृति के विराट स्वरूप को भी उन्होंने अपना काव्य क्षेत्र बनाया और उसकी अपार सौन्दर्य राशि के चित्रण द्वारा अपनी आध्यात्मिकता इंगित की । आधुनिक कालीन कवियों ने ईश्वरत्व के स्थान पर मानव को ही ईश्वर के पद पर आसीन किया, केवल श्रद्धा तथा विश्वास के स्थान पर बौद्धिकता को प्रश्रय दिया ।

(घ) शान्तरस का महत्व-- भारतीय साहित्य और भारतीय जीवनदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में

इस प्रकार शान्त रस काव्यशास्त्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक शान्त की अविरल धारा प्रवाहित हो रही है । रसराज कहे जाने वाले शृंगार की अपेक्षा शान्त के अधिक विविध रूप साहित्य में प्राप्त होते हैं । शान्त रस के चित्रण की अनेकानेक शैलियों का प्रयोग प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी साहित्य में सुलभ है । भारतीय साहित्यकारों की धर्मप्रियता ने साहित्य में शान्तरस का स्थान अक्षुण्ण रखा है । भारतीय जीवन को लक्ष्यीभूत कर भी यह बात नि:संदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि शान्तरस का चित्रण

साहित्य में अनिवार्य है । शान्त के अन्तर्गत वे समस्त बातें समाविष्ट हैं जो मानवता को देवत्व की भूमि में प्रतिष्ठित करने में सहायक है । अतः शान्त से तात्पर्य मात्र निष्क्रिय,समाधिस्थ पुरुष के चित्रण से नहीं ग्रहण करना चाहिए । मानव जीवन में विभिन्न उच्च एवं नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिस्थापन शान्तरस के चित्रण द्वारा सुग्राह्य बनाया जा सकता । मानव जाति के विकासार्थ चित्तवृत्ति की परिशुद्धयर्थ शान्तरस की अनिवार्यता सुस्पष्ट है । इसी कारण समस्त भारतीय साहित्य किसी न किसी रूप में शान्त का चित्रण करता आया है । राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितिवश किसी विशिष्ट काल में अन्य रसों का प्राधान्य भले ही हो गया हो किन्तु शान्तरस का पृथक् अस्तित्व सभी कालों में किसी न किसी रूप में हमें प्राप्त होता है । इस दृष्टि से साहित्य में शान्तरस का स्थान सर्वश्रेष्ठ है तथा चित्तवृत्तियों के उदात्तीकरण का मार्ग प्रशस्त कर भारतीय जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने वाला है ।

--0--

१६- केनोपनिषद् — गीताप्रेस,गोरखपुर, अष्टम संस्करण, सं०२०१६

१७- चैतन्यचन्द्रोदय — कवि कर्णपुर,काव्यमाला, ८७,निर्णयसागरप्रेस,बम्बई, द्वितीय संस्करण, १६१७ ।

१८- छान्दोग्य उपनिषद् — गीताप्रेस,गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण ,सं०२०१६ ।

१९- जीवन्मुक्तिकल्याण — नल्लाध्वरि दीक्षित,गीर्वाणविलास प्रेस,श्रीरंगम्प्रथम संस्करण, १६४४ ।

२०- जीवानन्दनम् — आनन्दरायमखि,अड्यारग्रन्थभण्डार,मद्रास, १६४७ ।

२१- तैत्तिरीय उपनिषद् — गीताप्रेस,गोरखपुर, सप्तम संस्करण,सं० २०१६ ।

२२- दशरूपक --धनंजय — चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस--१ , १६५५ ।

२३- देवी भागवत पुराण — व्यास, वेंकटेश्वर प्रेस , बम्बई , सं० २०११ ।

२४- ध्वन्यालोक — आनन्दवर्द्धन, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस । १६४० ।

२५- नागानन्द — हर्ष, चौखम्बा संस्कृत सिरीज,बनारस,द्वितीय संस्करण, १६४८ ।

२६- नाट्य दर्पण — रामचन्द्र गुणचन्द्र, ओरियण्टल इंस्टीच्यूट,बड़ौदा, वाल्यूम १, १६२६ ।

२७- नाट्यशास्त्र — द्वितीय संस्करण, ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा,१६५६ ।

२८- नारद भक्तिसूत्र — गीताप्रेस,गोरखपुर, ग्यारहवां संस्करण सं०२०२० ।

२९- प्रबोध चन्द्रोदय — श्रीकृष्णप्रेम मिश्र,गवर्नमेण्ट प्रेस , त्रिवेन्द्रम, १६३६ ।

३०- प्रतापरुद्रयशोभूषण — विद्यानाथ, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस,बम्बई , प्रथम संस्करण १६०६ ।

३१- बृहदारण्यकोपनिषद् — निर्णयसागरप्रेस,बम्बई, सं० १८८२ ।

३२- भक्ति चन्द्रिका — (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र पर नारायण तीर्थ)
भाग१ — सम्पादक-गोपीनाथ कविराज,सरस्वती भवन,बनारस१६२४ई०
भाग२ — सम्पादक- मंगलदेव शास्त्री और अनन्त शास्त्री फड़के
प्रकाशक-- सुपरिण्टेण्डेण्ट प्रिंटिंग एंड स्टेशनरी गवर्नमेण्ट संस्कृत प्रेस, इलाहाबाद, १६३८ ई० ।

३३- भगवद्गीता — गोविन्दभवन कार्यालय, कलकत्ता, सं०१६६३ ।

३४- भगवद्भक्तिरसायन — मधुसूदन सरस्वती, वाराणसी मुद्रण यन्त्रालय,

३५- भर्तृहरिनिर्वेद — श्रीहरिहरोपाध्याय, काव्यमाला २६, निर्णयसागरप्रेस बम्बई, १८९२ ।

३६- भागवतपुराण — लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय, मुरादाबाद सं०१९५८ ।

३७- भाव प्रकाश — शारदातनय, ओरियण्टल इंस्टीच्यूट, बड़ौदा, १९३० ।

३८- मोहराजपराजय — यश:पाल, सेण्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, १९१८ ।

३९- रसगंगाधर — पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस १९५५ ।

४०- रस तरंगिणी — भानुदत्त, खेमराज श्रीकृष्णदास, खेतवाड़ी, ७वीं गली, खम्बाटा लेन, बम्बई सं०१९७१ ।

४१- रसरत्नप्रदीपिका — अल्लराज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रथम संस्करण ग्रन्थांक--८, १९४५ ।

४२- रसार्णवसुधाकर — शिङ्गभूपाल, ट्रावन्कोर महाराज की अध्यक्षता में प्रकाशित त्रिवेन्द्रम १९१६ ।

४३- राजतरंगिणी — कल्हण, पण्डितरत्न पुस्तकालय, काशी, १९६० ।

४४- विद्यापरिणयनम् — आनन्दरायमखि, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण १९३० ।

४५- विष्णु पुराण — वेंकटेश्वर प्रेस, सं०१९९९ ।

४६- श्वेताश्वर उपनिषद् — गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचम संस्करण सं० २०१९।

४७- शाण्डिल्य भक्ति सूत्र — गीताप्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, सं०२०२० ।

४८- सरस्वतीकण्ठाभरण — भोज, टी०जी०अग्रवाल १-२, बाग बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता १८८४ ।

४९- साहित्य दर्पण — विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५६ ।

५०- साहित्यसार — श्रीमदच्युतराय, निर्णयसागरप्रेस बम्बई, १९०६ ।

५१- सौन्दरनन्द — अश्वघोष, रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता, १९३९ ।

५२- संकल्पसूर्योदय — श्रीवेंकटनाथ, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९४८ ।

५३- संगीत रत्नाकर — श्रीशार्ङ्गदेव, प्रकाशक -हरिनारायण आप्टे, प्रथमभाग १८१८ तथा द्वितीय भाग, १८२१ शकाब्द ।

५४- हरिभक्तिरसामृतसिन्धु — रूपगोस्वामी, अच्युत ग्रन्थमालाकार्यालय, काशी, प्रथम सं० सं०१९८८ ।

५५- हंस संदेश — वेदान्ताचार्य, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर, १९१

हिन्दी

१- आधुनिक हिन्दी काव्य — सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा रामकुमार वर्मा, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, जार्जटाउन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण सं० २००२ ।

२- कबीर ग्रन्थावली — सं० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम तथा पंचम संस्करण, सं०२०११ ।

३- कबीर का रहस्यवाद — रामकुमार वर्मा, साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, छठवां संस्करण, १९४८ ।

४- कबीर साहित्य की परख — परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण सं० २०११ ।

५- कवितावली — गीताप्रेस, गोरखपुर, अष्टादश संस्करण, सं०२०२१

६- काव्यदर्पण — रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४ द्वितीय संस्करण, १९५१ ।

७- केशव ग्रन्थावली (रामचन्द्रिका) — सं०विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद खण्ड२, १९५५ ।

८- गीतावली — गीताप्रेस, गोरखपुर, छठवां संस्करण, सं०२००८ ।

९- गोस्वामी तुलसीदास — रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी छठवां संस्करण, सं० २००५ ।

१०-जगद्विनोद — पद्माकर, सं०विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्रीरामरत्नपुस्तक भवन काशी, प्रथम संस्करण, सं०१९९१ ।

११-जायसी ग्रन्थावली — सं०माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५२ ।

१२-तुलसीदर्शन — बलदेवप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पंचम संस्करण, सं०२००५ ।

१३-तुलसीदास — माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४६ ।

१४-दोहावली — गीताप्रेस, गोरखपुर, सोलहवां संस्करण, सं०२०१९ ।

१५- पद्मावत — सं० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, चिरगांव (झांसी) प्रथम संस्करण, सं० २०१२ ।

१६- पालि साहित्य का इतिहास — भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २००८ ।

१७- प्राकृत साहित्य का इतिहास — डा० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी प्रथम संस्करण, १९६१ ।

१८- बीजक — सं० अहमदशाह, क्राइस्ट चर्च मिशन प्रेस, १९११ ।

१९- भाव विलास — देव, तरुणभारत ग्रन्थावली कार्यालय, दारागंज, प्रयाग प्रथम संस्करण, सं० १९९१ ।

२०- भिखारीदास ग्रन्थावली — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण, सं० २०१३ ।

२१- भंवरगीत — सं० विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा, प्रकाशक- रामनारायणलाल, इलाहाबाद छठवां संस्करण, १९४८ ।

२२- मधु मालती — सं० माताप्रसाद गुप्त, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९६१ ।

२३- — तथा सं०- शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय द्वितीय संस्करण, वाराणसी-१, १९६५ ।

२३- मानस दर्शन — श्रीकृष्णलाल, आनन्दपुस्तक भवन, वाराणसी, १९६२ ।

२४- मानस पीयूष

२५- मीरांबाई की पदावली — सं० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग आठवां संस्करण, २०१४ ।

२६- रस मीमांसा — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, सं० २००६ ।

२७- रस सारांश — देव

२८- रस कुसुमाकर — प्रतापनारायण सिंह, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १८९४ ई० ।

२९- रसखानि — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणीवितान प्रकाशन,

प्रनाल, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण

३०-	रसखान रत्नावली	सं० डा० भवानीशंकर याज्ञिक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९५६ शताब्द ।
३१-	रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण ।	आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि० दिल्ली-७, प्रथम संस्करण १९६० ।
३२-	रस कलश	हरिऔध, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, द्वितीय संस्करण, सं०२००१ ।
३३-	रसिक रसाल	कण्ठमणि शास्त्री, श्रीविद्याविभाग, कांकरोली, श्री द्वा० ग्र० माला का दशम पुष्प, सं०१९९४ ।
३४-	रसिक प्रिया	केशव
३५-	रामचरित मानस	सं० माताप्रसाद गुप्त, साहित्य कुटीर, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४९ ।
३६-	रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना ।	श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना-३, प्रथम संस्करण, १९५७ ।
३७-	रामभक्ति में रसिक संप्रदाय	भगवती प्रसाद सिंह अवध-साहित्य मन्दिर, बलरामपुर प्रथम संस्करण, सं०२०१४ ।
३८-	रासपंचाध्यायी	सं०डा० उदयनारायण तिवारी, फ्रेण्ड्स बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५७ ।
३९-	रीतिकाव्य की भूमिका	नगेन्द्र गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९५३ ।
४०-	विनयपत्रिका	गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वादश संस्करण सं०२००८ ।
४१-	वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, प्रथम संस्करण, १९५५ ।
४२-	विज्ञानगीता	केशव ग्रन्थावली खण्ड-३, सं०विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५९ ।
४३-	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास, इण्डियनप्रेस, प्रयाग, सं०२०११ ।
४४-	सूफी काव्य संग्रह	सं०परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग प्रथम संस्करण, १९५१ ।
४५-	सूरसागर	सं० श्री नन्ददुलारे वाजपेई, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पहला और दूसरा खंड, प्रथम संस्करण सं०२००७

		कमनाल, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण
३०-	रसखान रत्नावली	सं० डा० भवानीशंकर याज्ञिक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण, १८८६ शकाब्द ।
३१-	रस सिद्धान्त स्वरूप और विश्लेषण ।	आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि० दिल्ली-७, प्रथम संस्करण १९६० ।
३२-	रस कलश	हरिऔध, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, द्वितीय संस्करण, सं०२००१ ।
३३-	रसिक रसाल	कुमारमणि शास्त्री, श्री विद्याविभाग, कांकरोली, श्री द्वा० ग्र० माला का दशम पुष्प, सं०१९९४ ।
३४-	रसिक प्रिया	केशव
३५-	रामचरित मानस	सं० माताप्रसाद गुप्त, साहित्य कुटीर, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४९ ।
३६-	रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना ।	श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना-३, प्रथम संस्करण, १९५७ ।
३७-	रामभक्ति में रसिक संप्रदाय	भगवती प्रसाद सिंह अवध-साहित्य मन्दिर, बलरामपुर प्रथम संस्करण, सं०२०१४ ।
३८-	रासपंचाध्यायी	सं०डा० उदयनारायण तिवारी, फ्रेण्ड्स बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९५७ ।
३९-	रीतिकाव्य की भूमिका	नगेन्द्र गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९५३ ।
४०-	विनयपत्रिका	गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वादश संस्करण सं०२००८ ।
४१-	वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, प्रथम संस्करण, १९५५ ।
४२-	विज्ञानगीता	केशव ग्रन्थावली खण्ड-३, सं०विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५९ ।
४३-	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दरदास, इण्डियनप्रेस, प्रयाग, सं०२०११ ।
४४-	सूफी काव्य संग्रह	सं०परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग प्रथम संस्करण, १९५१ ।
४५-	सूरसागर	सं० श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पहला और दूसरा खंड, प्रथम संस्करण सं०२००७

४६- संत काव्य — पं० परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, १९५२ ।

४७- संस्कृत साहित्य का इतिहास- बलदेव प्रसाद उपाध्याय, शारदा मंदिर, काशी, पंचम संस्करण, १९५८ ।

४८- हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास । — डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम आवृत्ति, सं० २००५

१- कल्याण -- भक्ति अंक -- जनवरी १९५८, वर्ष ३२, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

२- नया समाज -- सितम्बर १९५३, अंक ३, कलकत्ता ।